भारतीय वाङ्मय पर दिव्यदृष्टि

काशीराम शर्मा

शब्दकार



प्रकाशक | शब्दकार
159, गुरु अंगदनगर (वेस्ट)
दिल्ली-110092
मूल्य | अस्सी रुपये (80.00)
प्रथम संस्करण | दिसम्बर, 1988
मुद्रक | शान प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110032
आवरण | चेतनदास
आवरण-मुद्रक | परमहंस प्रेस, नई दिल्ली-110028
पुस्तक-बन्ध | सुराना बुक बाईंडिंग हाउस, दिल्ली-110006

विषय-सूची

चित्र-सूची

श्रद्धास्मरण



परम श्रद्धेय
स्व० पं. झाबरमल शर्मा

उपोद्घात

भारतीय वाङ्मय का एक बहुत बड़ा भाग चार महास्तंभों पर आश्रित है। वे हैं : रामायण, महाभारत, पुराण और बड्ढकहा(बृहत्कथा)। सभी भारतीय भाषाओं के रचनाकारों ने आदिकाव्य रामायण, जयकाव्य महाभारत और पुराणों को अपना उपजीव्य बनाया है। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का पर्याप्त वाङ्मय 'बड्ढ कहा' पर भी आश्रित है। अतः इन चार महास्तंभों का सम्यक् परिचय प्राप्त किये बिना भारतीय वाङ्मय का सुचारु अध्ययन संभव नही। इस बात को तो लोग प्रायः स्वीकृत कर लेते है कि भारतीय वाङ्मय भवन का बहुत बड़ा भाग इन चार स्तंभों पर टिका है पर ये महास्तंभ किस 'धातु' के बने है, यह जानकारी बहुत ही कम लोगों को है। इस पुस्तिका में उस धातु का परिचय कराने का विनम्र प्रयास है। वह धातु क्या है और उसका उद्गम स्थान कहाँ है, यह भी बताने का प्रयास किया गया है।

वेद विश्व के उपलब्ध वाङ्मय के प्राचीनतम प्रतिरूप माने जाते हैं। ज़ेंद अवेस्ता की भाषा भी वैदिक भाषा से बहुत मेल खाती प्रतीत होती है। वैदिक भाषा और अवेस्ती भाषा का यावनी और लातीनी से स्वरूप साम्य देखकर इंगलैंड से आये शासक वर्ग और ईसाई धर्म-प्रचारक पादरियों को लगा कि इस 'भाषानिधि' का उपयोग भारतीय समाज का, विशेषकर हिन्दू समाज का, मन जीतने के लिए किया जा सकता है। ऐसी कहानी गढ़ी जा सकती है जिससे भारत का यह बहुसंख्यक समाज यह स्वीकार कर ले कि यूरोप का शासक वर्ग तो हमारे ही वर्ग का है।

उसी शासक वर्ग और पादरी वर्ग ने इस्लाम के अनुयायियों को आश्वासन दिलाया कि हम अपने जैसे किताबी मजहब को माननेवालों को इन बुतपरस्त आर्यों के हाथों में सौंपकर नही चले जाएंगे जो प्रतिशोध भावना से आकंठ भरे हैं और जिनकी भाषा, संस्कृति, परंपरा सब भिन्न हैं।

शासक वर्ग का उतना ही प्रबल आश्वासन उन्ही के द्वारा घोषित 'द्रविड़ समाज' को भी मिला कि जिस अल्प विकसित आर्य-सभ्यता, आर्य-संस्कृति, आर्य-वाङ्मय और आर्य-शासन ने सुविकसित-समुन्नत द्रविड सभ्यता-संस्कृति-वाङ्मय

को राजदण्ड के बल पर लील लिया था उसका समुचित उद्धार हम करेंगे और आर्यदासता की अनन्त श्रृंखलाओं से अवश्य मुक्ति दिलवायेंगे।

विदेशी शासकों का यह अग्निबाण अपने लक्ष्य का वेधन करने में पूर्णतः सफल रहा। भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व ही यहां का समाज आर्य-द्रविड़-मुण्ड-मंगोल-निषाद, हिन्दू-मुसलमान-सिख-ईसाई-बौद्ध-जैन-पारसी, सवर्ण-अवर्ण, उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम जैसे अनेक खण्डों में मनसा विभक्त हो चुका था। स्वतन्त्रता कालीन राजनीति ने इन विभाजक भावनाओं को भरपूर प्रेरणा-प्रोत्साहन दिया है। हमारे मनों में परस्पर संदेह जितना विगत चालीस वर्षों में बढ़ा है उतना तो विदेशी शासनकाल में भी नही था।

विदेशी विद्वानों का सबसे बड़ा यत्न 'भारत राष्ट्र' को नये रूप में परिभाषित करने का रहा। विगत पांच-सात सहस्र वर्षों में भारत राष्ट्र का स्वरूप अतिविशाल था। उत्तर में वंक्षुतट (ओक्सस या आमू दरिया) से लेकर दक्षिण में सिंहल (वर्तमान श्रीलंका) तक और पश्चिम में आर्यान् (ईरान) से लेकर पूर्व में प्राग्ज्योतिष तक फैला था हमारा भारत राष्ट्र। इसके प्रमाण, महाभारत, पुराण, पाणिनि की अष्टाध्यायी, कालिदास के रघुवंश, चंद के पृथ्वीराज रासो, कुंभकर्ण के जयचंदरासो और रतनरासो आदि अनेक ग्रंथों में भरे पड़े हैं। महाभारत का धृतराष्ट्र गांधार की राज कन्या से विवाह कर सौ वीर पुत्र उत्पन्न करता है, गांधारी का भाई शकुनि उस ईरानी पार्वत्य भूमि का राजा है जिसे पाणिनि कुक्कुटागिरि बताता है, प्राचीन ईरानी वाङ्मय जिसे उपरिशयेन (बाज का अड्डा) बताता है, जहां के निवासियो का जातीय चिह्न (टोटेम) 'शकुन्त' होने के कारण गान्धार राजपुत्र 'शकुनि' कहलाता था। पाणिनि के व्याकरण में प्रकण्व (फ़रगना), दाक्षिकन्था (ताशकंद) वाह्लीक (बलख) द्व्यक्षायण (बदख्शा), कुभा (काबुल), ईरान के शकंधु कूप, उसी प्रकार वर्णित हैं जिस प्रकार शाद्वल, नड्वल, सूरमस, अन्तरयन हैं। कालिदास का रघु जहां बंगों, सुह्मों, पाण्ड्यों पर विजय पाता है वहां पश्चिम के पारसीकों और उत्तर के वंक्षुतट को भी नहीं भूलता। फिर किरातो को जीतता हुआ सात पर्वतीय गणो पर विजय पाकर ही प्राग्ज्योतिष पहुंचता है। वे सात पर्वतीय गण हैं यक्ष चिह्न (अक्सैचिन) किन्नर चिह्न (किन्नौर), सिद्ध चिह्न (तिब्बत) गंधर्व चिह्न (नेपाल), विद्याधर चिह्न (सिक्किम), भूत चिह्न (भूटान) और नाग चिह्न (नागालैंड) जातियों के उत्सव संकेत गण। किस जाति का क्या चिह्न (टोटेम) था यह भी नाम मे ही निहित था। बारहवीं शताब्दी का कलंकी कहलाने वाला जयचंद दक्षिण, में सिंहल पर विजय पाता है तो उत्तर में ईरान-तूरान-बलख-बदख्शां आदि के आठ शाहों पर। हम इन्हें ऐतिहासिक सत्य मानने का आग्रह नही करेंगे। हम केवल कवियों की उस भावना को व्यक्त कर

रहे हैं जो जनमानस का प्रतिनिधित्व करती थीं और अपने आदर्श नायक को तभी चक्रवर्ती मानने को तैयार होती थीं जब वह संपूर्ण भारत राष्ट्र का एकछत्र शासक बने।

यदि कोई भारतीय नरेश वास्तविकता के धरातल पर कभी इस विशाल भूमि का शासक नही बन सका तो उससे क्या अन्तर हो जाएगा; राष्ट्र तो भावना की वस्तु है, वह राज्य का पर्याय नही है, नही है, नही है—सभी राजनीति शास्त्री इस बात को स्वीकार करते हैं। जब मध्यकाल मे भारत पांच-सात सौ राज्यों में विभक्त था तब भी क्या देश-भर का तीर्थ यात्री चार धामों की यात्रा करके अपने विशाल राष्ट्र की भावना को सुरक्षित नही रखे हुए था, क्या देश-भर का आठ वर्षीय ब्राह्मण बालक बिना राष्ट्रीय भावना के ही विकट वनों के मध्य से यात्रा करता हुआ कश्मीर-काशी के विद्या केन्द्रों मे जाकर अध्ययन करता था? क्या वह शंकर राष्ट्र की भावना से ओत प्रोत नही था जिसने केरल में जन्म लेकर भी चौबीस वर्ष की आयु में कश्मीर की शास्त्र भूमि में विजयध्वज आरोपित कर दिया था और बत्तीस वर्ष की छोटी-सी आयु में ब्रह्मलीन होकर भी चार दिशाओ में चार मठ स्थापित करने के अपने कर्तव्य को विस्मृत नही किया था?

परन्तु विदेशी विद्वानों-इतिसहासलेखकों ने राष्ट्र और राज्य को दो पृथक् संकल्पनाएं मानते हुए भी भारत राष्ट्र की वे ही सीमाएं बतायी जहां तक उनकी जयजयकार होती थी, जहां तक उनका विजयध्वज फहराता था। उन्होंने कहा था: भूल जाओ आश्वकायन, गांधार, शकस्थान, आर्यान्, प्रकण्व और दाक्षिकंथा को; भूल जाओ आश्वकायन की वेदनिर्माण भूमि को; भूल जाओ पाणिनि व्याकरण को; भूल जाओ रघुवंश को; भूल जाओ अशोक के शिलालेखों को; भूल जाओ ईराक तक फैली बुद्धमूर्तियों को जिनके कारण 'बुत-परस्ती' शब्द बना; भूल जाओ तक्षशिला और चरक-सुश्रुत को, ; भूल जाओ रघु के अश्वों के वंक्षुतीर-विचेष्टन को और हूणावरोधो को। वह सब कभी भारत राष्ट्र नही था। उसकी सीमा तो हमने निर्धारित कर दी है। जिस खैबर दर्रे ने अफगानिस्तान पहुंचे हुए अंग्रेज दल के केवल एक अंग्रेज को जीवित भारत पहुंचने दिया, वह भारत का भाग कैसे हो सकता है! वही तो भारत का प्रवेश द्वार है। उसी द्वार से पहले आर्य आये होंगे, फिर शक, सिथियन, हूण, अफगान, तुर्क, मंगोल; गजनवी, गौरी, नादिरशाह, अहमदशाह सभी भारत की अतुल संपदा को लूटने आये होंगे। जो दर्रा मरभुक्खों का प्रवेशद्वार था वह भारत का भाग नही था, नहीं था। उसी के कारण तो भारतवासी विदेशियों के गुलाम बने और तब तक बने रहे जब तक उनके दयार्द्र यूरोपीय आर्य भाई उन्हें दास्य मुक्त कराने नही आये!

यों अंग्रेज शासकों ने आते ही भारत राष्ट्र को खंडित किया और उसकी

सीमा निर्धारित करते हुए सीमा प्रान्त बना दिया। उनके समय का 'भारत राष्ट्र' भी आज अनेक राष्ट्रों में विभक्त है। और हम भाषा में संधि-विभक्ति को भूल कर भी अपने ही देश के नागरिकों के साथ संधियाँ करने और 'विभक्ति' का अधिकाधिक पाठ पढ़ने को ही नहीं, कार्यान्वित करने को भी उतावले हैं।

विदेशी शासकों ने भाषा-विष का जो बीज बोया था, वह भी आज खूब फलफूल रहा है। एक ओर हम भारत यूरोपीय परिवार के माध्यम से पांच महाद्वीपों के निवासियों के साथ अपना रक्त संबंध मान कर प्रसन्न होते हैं तो दूसरी ओर एक ही खड़ी बोली की दो शैलियों हिन्दी और उर्दू को दो भाषाएं ही नहीं, दो वर्गों की आशाओं-आकांक्षाओं की प्रतीक भी मानने को तैयार हैं। उन्हीं की एक अन्य शैली पंजाबी को पृथक् भाषा मात्र मानने से संतुष्ट नहीं है, एक वर्ग की संपूर्ण आशाओं-आकांक्षाओं का सच्चा प्रतिनिधि मानने को आतुर हैं और उसे कल्पना लोक के भावी राष्ट्र की राष्ट्र भाषा घोषित करने की आकांक्षा पाले हुए हैं। दूसरी ओर, जिन मारवाड़ी और मगही में उतना ही अन्तर है जितना पंजाबी और तमिल में उन्हें एक ही हिन्दी की बोली मात्र स्वीकार करने को तैयार हैं। यह है उन विदेशी भाषाविदों की स्थापनाओं का प्रभाव जिन्होंने हमारा सर्वविध उद्धार किया !

इस पुस्तिका में आप भारत की एकसूत्रता की गाथा अधिक पायेंगे। 'समास' का पाठ आद्यन्त पढ़ेंगे। 'विभक्ति' से बचाने का ही यत्न अधिक देखेंगे। आश्चर्य इस बात का है कि एक विभक्ति-प्रधान भाषा ने इस देश को एकता के सूत्र में सुदृढ़ता से बांधकर रखा। हमारी आज की निर्विभक्तिक भाषाएं विभक्तिवाद ही पढ़ा रही हैं। जिस भाषा को विदेशी हमारे सिर पर थोप कर चले गये उसमें हमें एकता के सूत्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं और जिसे हमारे देशभर के प्रतिनिधियों ने स्वेच्छा से 'राजभाषा' चुना, उसके 'थोपे' जाने से हम भयाक्रान्त हैं और चिन्तित हैं कि वह आयी और देश पचासों खंडों में विभक्त हुआ। किमाश्चर्यमतः परम्।

जहां हम अंग्रेजी-सती के शव के 'शंकर व्यामोह' को छोड़ने को तैयार नहीं है, वहीं हम उस 'संस्कृत' से भी रुष्ट हैं जिसने 'विभक्ति-प्रधान' होते हुए भी भारत राष्ट्र की 'विभक्ति' का विरोध किया और 'सामासिकता' के गीत गाये। परिणाम आपके सामने है। त्रिभाषा सूत्र में संस्कृत के लिए कोई स्थान नहीं है। जैसी हमारे कर्णधारों की इच्छा ! हम 'मृत' भाषा को 'अमृत भाषा' मानकर तीन-चार-हजार वर्ष चिपटे रहे, अब वह भूल दोहराने को तैयार नहीं है। शायद अब हम देश भर के लिए उसी एक मात्र भाषा को चाहते हैं जो विश्व-भर में प्रचलित है और जो संसार की सरलतम-समृद्धतम भाषा है ! हम उसके समर्थन में आकड़े भी जुटाते हैं। रोमन में हस्ताक्षर कर सकने की योग्यता रखने वालों को 'अंग्रेजी-

विद्' मानकर जनगणना विभाग के प्रतिवेदन को सत्य स्वीकार करते हैं और देश में अंग्रेजी जानने वालों का अनुपात दो-तीन प्रतिशत बता देते हैं। इंग्लैंड का निवासी तो यहां के अंग्रेजी के अध्यापकों को भी अंग्रेजी जानने वाला नहीं मानेगा।

इसे चाहे हमारा दुस्साहस मानिए पर हम ने इस पुस्तिका में भारतीय वाङ्मय का परिचय देने का यत्न किया है, उसके आधारभूत संस्कृत (उदीच्या) के वाङ्मय का परिचय दिया है और उस प्राचीन वाङ्मय का भी उत्स याम्या के उस संघं कालीन वाङ्मय में ढूंढ़ने का यत्न किया है जिसका विशाल वाङ्मय आज विलुप्त हो चुका है। हमने उन सूत्रों को खोजने का यत्न किया है जो आपको उस विशाल वाङ्मय की भावना तक पहुंचा सकें; कम से कम उस दिशा में चिन्तन करने को तो प्रवृत्त कर सकें।

संप्रति विश्वभर के उपलब्ध वाङ्मय का प्राचीनतम रूप वैदिक वाङ्मय में मिलता है। इस पुस्तिका मे बताया जाएगा कि वह संपूर्ण वाङ्मय कितना विशाल था। उसका शतांश-सहस्रांश भी आज उपलब्ध नहीं है। उसको समझ सकने के लिए छः अंगों का संपूर्ण ज्ञान अपेक्षित अर्हता माना जाता था। पर आज उन अंगों के वाङ्मय की भी नगण्य-सी सामग्री उपलब्ध हैं। उस सामग्री के बल पर वेदार्थ में प्रवृत्त होना सर्वथा अनधिकार चेष्टा है। पर खेद तो इस बात का है कि वेदांगों का परिचय देने वालों ने उनका जो स्वरूप और उपयोग बताया है उसे भी तो कोई समझने को तैयार नहीं है।

हम यहां दो वेदांगों की चर्चा करेंगे। एक है निरुक्त और दूसरा है ज्योतिष। निरुक्त के नाम पर एकमात्र यास्क का निरुक्त उपलब्ध है पर उसने एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है। वह यह कि वेदों में जो कुछ इतिहास (प्रतीक) की शैली में बताया गया है उसका साधारण अभिधा की शैली में उद्घाटन करना निरुक्त का काम है। वेद की 'इतिहास' शैली 'कूट' भाषा है जिसका 'विकूटन' निरुक्त करता है।

एक और वेदांग है ज्योतिष। ज्योतिष वेद का 'नेत्र' माना जाता है। अर्थात् वेद का अर्थ समझना हो, तो ज्योतिष की दृष्टि से समझना होगा। दूसरे शब्दों में वेदों का प्रतिपाद्य है ज्योतिष।

वेदों को ही नहीं, पांचवें वेद को भी, समझने के लिए ज्योतिष की दृष्टि से अर्थ ग्रहण करना होगा। तभी उसमे निहित ज्ञान स्पष्ट हो पायेगा। ज्योतिष की दृष्टि का ही दूसरा नाम है 'दिव्यदृष्टि'। 'दिव्य' का अर्थ है 'दिव्' से संबधित। 'दिव्' का अर्थ है 'आकाश'। 'आकाश' का अर्थ है 'ईषत् प्रकाश'। 'दिव्' शब्द 'दीव्' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है 'चमकना'। 'देव' का अर्थ है 'तारे' जो आकाश मे चमकते हैं। कोई अलौकिक शक्ति सपन्न मानवेतर प्राणी 'देव' नहीं

होता। वह तो आकाशस्थ ज्योति पिंड ही होता है।

यों वेद गडरियों के गीत नहीं हैं; पशुचारण संस्कृति के द्योतक वर्णन नहीं हैं। विदेशी आप को जो कुछ समझाते रहे, आपके मनों में कूट-कूट कर भरते रहे, उसे निकाल दें तो सही काम होगा। हां, छः वेदांगों में से किसी का काम-चलाऊ भी ज्ञान करा सकने वाले ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। अतः वेदार्थ के चक्कर मे न पड़ना ही अच्छा होगा।

हम तो यही निवेदन करेंगे कि पांचों वेदो को 'दिव्य दृष्टि' से देखें। उनमे निहित प्रतीक वाद को समझने का यत्न करें। हमने यथा मति कुछ 'इतिहासों' का अर्थोद्घाटन करने का यत्न किया है। उसे समझेंगे तो जान सकेंगे कि हमारे वाङ्मय के महास्तंभ किस धातु के हैं; किस निर्माण शाला मे बने हैं।

हमारे दर्शनों की भाषा काफी दुर्बोध रही। विशेष कर वेदान्तियो ने तो सरल से ज्ञान को बहुत ही जटिल बना दिया। उसको सरल-सुबोध रूप मे प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। आप सोचते होंगे कि आचार्यों ने दुर्बोध भाषा क्यों प्रयुक्त की। बात यह है कि ज्ञान की सभी शाखाओं के विशेषज्ञ शास्त्रीय भाषा मे निरूपण करने के अभ्यस्त हो ही जाते हैं। उनकी भाषा को वे ही समझते हैं। चिकित्सक, विधिविद्, अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक, राजनीतिविद् सभी ने अपनी-अपनी भाषाएं बना रखी हैं। यहां तक कि 'चोरों की फारसी' भी होती है जिसे वे ही लोग समझ सकते हैं। मैं उन सभी शास्त्राचार्यों से क्षमा चाहता हू जिनके शास्त्रो की कूट भाषा का किंचित् 'विकूटन' करने का प्रयत्न करने का दुस्साहस मैंने किया।

यदि यह पुस्तक 'दिव्यदृष्टि' से प्राचीन वाङ्मय को समझने की दिशा मे दस-पांच लोगों को भी प्रवृत्त कर सकेगी तो मैं अपना श्रम सफल मानूंगा। यह बात कह तो बहुत लोग देते हैं कि राम कथा को युग-युग मे अनेक कवियों ने अनेक रूपों में गाया है पर उसे समझने का यत्न कितने लोगों ने किया है। समझने के लिए 'दिव्यदृष्टि' अपेक्षित है। भारतीय वाङ्मय की एकसूत्रता को समझने के लिए भी 'दिव्यदृष्टि' ही सहायक होगी। ज्ञान गुरु ब्रह्मा सब को 'दिव्यदृष्टि' प्रदान करे—शुभं भवतु सर्वेषाम्।

—काशीराम शर्मा

जम्मू
चैत्र कृष्ण 30, सं० 2044

दिव्यदृष्टि और भगवत् कृपा

भारतीय चिन्तन के अनुसार दिव्यदृष्टि वह अपूर्व शक्ति है जो मानव को भगवत् कृपा से ही मिल सकती है। यदि उसे वह प्राप्त कर जाए तो सम्पूर्ण विश्व को हस्तामलकवत् देखने की क्षमता उपलब्ध हो जाती है। पर उसे प्राप्त करने के लिए भगवत् कृपा आवश्यक है। भगवत् कृपा प्राप्त करने के लिए वैराग्य का मार्ग साधक हो सकता है। वैराग्य की प्राप्ति ज्ञान से सम्भव है। ज्ञान से सुकर भक्ति का मार्ग है। भक्ति से पूर्व भजन जैसे कर्म करने आवश्यक हैं। इतनी सीढ़ियों, इतने किन्तु-परन्तुओ की बाधा पार करने वाले जिज्ञासु भक्त ही भगवत् कृपा से दिव्य-दृष्टि के अधिकारी होते हैं। ये हमारी मान्यताएं हैं। हमारे देश की सभी भाषाओं के वाङ्मय इस प्रकार के चिन्तन से भरे पड़े हैं। अतः यदि हमें भारत के वाङ्मय को सही अर्थ मे समझना हो; उसके दर्शन का साक्षात् दर्शन करना हो; उसके कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और भक्तिकाण्ड को हृदयगम कर उस अनन्त शक्ति में विलीन होने के लिए पाथेय तैयार करना हो जहां से कोई वापस नहीं आता—यद् गत्वा न निवर्तन्ते; तो हमे इसी पहेली को समझना होगा कि ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका वास्तविक भाव क्या है। क्या यह सब सम्भव भी है? क्या इसमे कुछ बुद्धिगम्यता भी है? क्या इसमे कुछ तर्क-संगति भी है? क्या इसमें कुछ सुलभ या दुर्लभ सत्य भी है? आगे के प्रच्छेदों में इसी पर विचार होगा। यदि हमने दिव्य-दृष्टि प्राप्त कर ली तो सम्भव है समग्र भव-बन्धनों से मुक्ति मिल जाए।

भगवान्, भक्त, भक्ति और भजन—ये चारों शब्द मानव जाति के जन्मदाता मनु के समय से पुनः-पुनः अनेकधा प्रतिपादित धर्म के प्रमुख अंग माने जाते रहे हैं। मनु, मनुज, मनुष्य आदि-सभी शब्द 'मनन' से सम्बद्ध माने जाते हैं। 'मननात् मनुष्यः' हमारी मान्यता है। मनु ने स्पष्ट कहा है कि जो तर्क से अनुसन्धान कर सकता है वही धर्म को जान सकता है, अन्य कोई नहीं—यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः। तो विश्वास कीजिए अपने प्रथम पूर्वज का कि आप तर्क से सभी समस्याओं का समाधान कर सकते हैं; सभी गुत्थियां सुलझा सकते हैं;

विरागी, ज्ञानी, भक्त सब कुछ बन सकते हैं; मंत्र-द्रष्टा बन सकते हैं; दिव्य-दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं; सम्पूर्ण ब्रह्म को हस्तामलकवत् देख सकते हैं। मानव के लिए कुछ भी दुर्गम नहीं। बस, पुरुष हो पुरुषार्थ करो सदा।

आपको यह शंका हो सकती है कि अनेक ग्रन्थों में परम तत्व ब्रह्म को अगोचर-अतवर्य बताया गया है; अनुभवैकगम्य बताया गया है। फिर वह तर्कानुसंधाता को कैसे उपलब्ध होगा। चिन्ता की बात नहीं है। यहां विवक्षा केवल इतनी है कि अनुभवसिद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान तर्काश्रित अनुमान से अधिक पुष्ट होता है। पर न प्रत्यक्ष का निषेध है, न अनुमान का, न अन्यों के ज्ञान से प्राप्त शब्द का। सभी प्रमाण हैं, सभी परिपुष्ट हैं।

अब भगवान्, भक्त, भक्ति और भजन पर विचार करेंगे। भगवान् वह परम शक्ति माना जाता है जिसने इस समस्त दृश्यमान जगत् का निर्माण किया; जो इसका नियमन-पालन-पोषण करता है और जो अन्ततः जब सृष्टि को अनावश्यक समझेगा अथवा जब उसकी वैसी इच्छा हो जाएगी तो उसका संहार कर लेगा। यों समस्त दृश्यमान जगत का सर्जक, पालक, संहारक वही माना जाता है।

भक्त वह मानव माना जाता है जो सेवा-पूजा, आराधना आदि की विधि से भगवान् को प्रसन्न रखने का यत्न करता है और यदि उससे भगवान् वस्तुतः प्रसन्न हो जाए तो वह भव-सागर के समस्त दुःखों से छुटकारा पा जाता है। यदि इतनी उपलब्धि न हो सके तब भी उसे अनेकविध सुख-सुविधाएं उपलब्ध होने की आशा तो होती ही है।

भजन वह कार्य माना जाता है जिसे करके मानव भगवान् को प्रसन्न करने अथवा रखने का उपक्रम करता है। इसमें अनेक मंत्र-पूजादि से सम्बद्ध श्लोकों का पाठ, भजन, माला, जप आदि सम्मिलित होते हैं।

भक्ति वह भावना-पूर्ण क्रिया मानी जाती है जिससे भगवान् के प्रसन्न होने की सम्भावना होती है पर उसमें भजन की तुलना मे भगवन्निष्ठा, आस्था और सर्वस्व-समर्पण की भावना अधिक होती है। भजन में कर्म की प्रधानता होती है तो भक्ति में भावना की। वैसे शब्द रूप की दृष्टि से भजन कार्यभुक् शब्द है, भक्ति फलभुक्।

पर व्याकरण की दृष्टि से देखें तो इन सभी शब्दों के मूल में 'भज्' धातु है जिसका अर्थ होता है किसी सम्पूर्ण वस्तु को अनेक खण्डों में विभक्त करना। प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ये सभी शब्द 'भज्' धातु से ही व्युत्पन्न हैं तो ये विभक्त होने की क्रिया मे सम्बन्धित अर्थ देते हुए प्रतीत क्यों नहीं होते। इसका एक उत्तर हो सकता है 'धातूनामनेकार्थत्वात्' अर्थात् एक ही धातु के अनेक अर्थ होने के कारण। यों मान सकते हैं कि 'भज्' का एक अर्थ है 'विभक्त

होना या करना' और दूसरा है 'परम सत्ता से सम्बद्ध होना'। दूसरा उत्तर यह हो सकता है कि इन सभी शब्दों का अर्थ जिस धातु से सम्बद्ध है उसका मूलतः तो खण्डित होने का अर्थ ही था पर कालान्तर में अर्थ का विकास हो गया। यदि इस मत को ठीक मानें तो यह बताना आवश्यक हो जाएगा कि अर्थ विकास किस सरणि से हुआ। यह दूसरी धारणा सत्य प्रतीत होती है और इस अध्याय में इसी विषय पर विचार किया जाएगा कि अर्थ विकास किस प्रकार हुआ।

पद्म पुराण में भक्ति का एक आख्यान आता है जिसमें भक्ति अपने दो पुत्रों ज्ञान और वैराग्य के साथ वृन्दावन मे नारद को दुखी-सी दिखाई देती है। नारद उसे उसकी चिन्ता का कारण पूछता है और उसका परिचय भी। परिचय मे वह बताती है कि मेरा नाम भक्ति है। मेरा जन्म द्रविड देश में हुआ था। मैं कर्णाटक में यौवन को प्राप्त हुई। महाराष्ट्र मे कुछ-कुछ यौवन रहा, कुछ-कुछ बुढ़ापा आना आरम्भ हुआ। पर गुजरात से पहुंचते-पहुंचते मैं पूर्ण वृद्धा हो गई। फिर संयोग से वृन्दावन मे पहुचते ही पुनः यौवनवती हो गयी। पर ये मेरे दो पुत्र ज्ञान और वैराग्य हैं जो यहा सर्वथा शिथिल हो गये हैं। आख भी नही खोल पा रहे है। यही मेरी वेदना है—

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्य नामानौ कालयोगेन जर्जरौ।।
उत्पन्ना द्राविडे साहम् वृद्धि कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।।
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेयं सुरूपिणी।।

लगता है यह कथा सत्य है। भक्ति द्रविड देश में ही उत्पन्न हुई थी। वहीं हो सकती थी। अन्यत्र भगवान् के और भक्त के इतने सीधे सम्बन्ध की संभावना ही नही थी। भक्ति के पश्चात् ही ज्ञान का जन्म, उसी की कोख से होना सर्वथा स्वाभाविक लगता है। ज्ञान के पश्चात् वैराग्य का जन्म हो इसमे भी अस्वाभाविकता दृष्टिगोचर नही होती। दुष्कर है तो केवल यह समझना कि यह भगवान् कौन है, उसके भक्त कौन हैं और उनके मन मे उत्पन्न हुई भक्ति क्या है और उसे कार्यान्वित करने के लिए भक्त कौन से कर्म करते हैं जिन्हे भजन कह सकते हैं। इनके साथ ही यह दुष्कर प्रश्न भी उपस्थित हो सकता है कि इन्ही से संबद्ध भग, भाग और भाग्य क्या हैं और इनका भी भगवान् और भक्त से कोई संबंध है या नही। अगला प्रश्न यह है कि ज्ञान और वैराग्य का उदय भक्त के ही मन मे होता है या अन्य किसी के? यदि वे भक्ति के ही पुत्र हैं तो कैसे? उनका पिता कौन है? यह परिवार केवल वृन्दावन तक आता है या अन्यत्र भी जाता है? ये स्वेच्छा से आते हैं या इन्हें कोई लाता है? इनका भविष्य क्या है? वृन्दावन में क्या

विशेषता थी कि वहां आते ही वह भक्ति देवी जो जीर्णता को प्राप्त हो चुकी थी पुनः यौवन-संपन्न हो गयी जबकि उसके पुत्र, ज्ञान और वैराग्य, जर्जरता का त्याग न कर ऊंघते रह गये। आगामी प्रच्छेदों में यही विवेच्य विषय होगा।

विश्व के समग्र ज्ञान का उदय सर्वप्रथम कहां, कब, क्यों हुआ—इस विषय का विचार सर्वप्रथम अपेक्षित है। उसकी खोज हो जाये तब उसकी मां को खोजेंगे। हमारे वाङ्मय का एक महत्त्वपूर्ण भाग है—दर्शन। ऐसा बताते हैं कि सर्वप्रथम कुछ द्रष्टाओं ने सोच-विचार कर जो निष्कर्ष निकाले उनका सूत्र शैली में निरूपण किया। फिर परवर्ती विचारकों ने उन्हें और स्पष्ट करने के लिए वृत्तियां लिखीं, टीकाएं लिखीं, व्याख्याएं कीं, भाष्य किये और इस प्रकार यदि कोई मनन करना चाहे तो इतना वाङ्मय तैयार हो गया कि जीवन भर पढ़ते रहो तब भी उसका अन्त न आये और वह समझ में न आये। उन ग्रंथों से पहले कुछ ऋचाएं बनीं, कुछ मंत्र बने, कुछ साम बने। उन सबके रचयिता भी द्रष्टा लोग थे। वे लोग कुछ देखते थे। उन्हें आश्चर्य होता था कि यह सब क्या है, क्यों है? फिर जुट जाते थे इन्हीं प्रश्नों का उत्तर ढूंढने में और उत्तर जैसा बन पड़ता था, दूसरों को बताते थे। दो जब तक विवाद करके निर्णय न करें तब तक सत्यता में सन्देह रहता है। वादे वादे जायते तत्त्वबोधः—तत्त्व ज्ञान तो विवाद-विवेचन से ही होता है। जब द्रष्टाओं का विचार और उससे निकले निष्कर्ष बढ़ गये तो यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि उसे सदा सब लोगों के लिए सुलभ बनाए रखने के लिए साधन बनाए जाएं। बहुत दिनों तक तो यह रहा कि बहुत से लोग एक साथ एकत्र होते, चर्चा करते, उसे बार-बार बोलते तो द्रष्टाजी का निर्णय सबको याद हो जाता। बाद में यह लगा कि निर्णयों की मात्रा बहुत बढ़ रही है, स्मृति यथेष्ट समर्थ नहीं है, तो अक्षरों का आविष्कार किया गया। अक्षरों को शिलाओं पर टांकियों से खोदा जाने लगा। कैसी शिला पर खोदा जाए इसका विचार हुआ। अन्यत्र इस पर विचार हुआ कि कैसी टांकियों से खोदा जाए। अक्षरों के निरूपण का यह कार्य खोदना था जिसे संस्कृत में 'लिख्' धातु से भी व्यक्त किया जाता है, टंकन भी कहा जाता है। आरम्भ में शिला पर अक्षर खोदे जाते थे, अनन्तर वे उकेरे जाने लगे। यह क्रिया उत्किरण कहलाई। ऐसे उभरे अक्षर उत्कीर्ण कहलाए। ऐसा करने की पद्धति आधार शिला को ध्यान में रखकर 'शैली' कहलायी। यूरोप में टांकियों के छोटी-बड़ी, भूठी-नुकीली होने के आधार पर स्टाइल (टाकी) कहलाई।

अस्तु. भारत के लोगों ने फिर भी कुछ वाङ्मय शिलाओं पर लिखना बहुत समय तक उचित नहीं समझा। अक्षरों के माध्यम से उच्चारणगत काकु को, आघात को, ध्वनि को, भिन्न-भिन्न को व्यक्त किया जा सकता है? 'सो जाऊं' लिखा देखकर यह पता थोड़े ही चलता है कि यह प्रश्न है, या आश्चर्य की अभिव्यक्ति

या किसी वेदना का आभास। यह तो उच्चारण से, सहचरी मुद्राओं से, ही संभव था। अतः भारत की कुछ ज्ञान राशि बहुत समय तक मौखिक बनी रही। शेष लिपिबद्ध हुई। शिलाओं, टांकियों के स्थानापन्न और-और आते रहे। अन्त में आये कुछ पत्ते(पत्र)। पत्ते टांकी से फटते थे। टांकी की जगह ले ली कलमी चावल के पौधे की डंडी ने। पत्ते इकट्ठे करके बीच मे धागा डाला जाने लगा। सारे पत्तों के ऊपर-नीचे गांठें लगाई जाती ताकि पत्ते बिखर न जाएं और यों बने ग्रंथ और पुस्त या पुस्तक। दोनों ही का अर्थ गांठ ही था।

क्षमा करें, विभाजन की बात करते-करते, दर्शन की करने लगे थे, दर्शन की करते-करते लेखन और ग्रंथन की कर बैठे। विभाजन पर पहुंचने से पहले 'दर्शन' की बात फिर कर लें, विभाजन के लिए तो देश का देश सदा ही तैयार रहता है। उसे तो हम बहुत चाहकर भी न अब तक रोक पाये थे, न अब रोक पा रहे हैं। हमारा तो देश का देश ही भक्तों का है। उसे तो भगवान स्वयं ही कहता है, हो जा भक्त,—मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।

अस्तु, पुनः दर्शन पर आते हैं। उस द्रष्टा ने किस वस्तु के दर्शन किये कि लगा सोचने और निर्णय करके उन्हें अभिव्यक्त करने ? इस पर दर्शन के विदेशी पर्याय फिलोसॉफी मे भी विचार हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ ज्ञान का प्रेम अर्थात् जिज्ञासा है। आदि मानव ने आकाश में सूर्य देखा, रात को चन्द्र देखा, तारे देखे। उन्हें स्थान परिवर्तन करते देखा। सूर्य रोज प्रातः उदित होता, समय बिता कर अस्त होता। यों सांयकाल बनता, फिर रात्रि रहती, तारे टिम-टिमाते, कभी कहीं, कभी कही। प्रभात होता। सूर्य पूर्व मे दिखता, ऊपर चढ़ता, नीचे उतरता, छिप जाता। गर्मी आती, वर्षा आती, सर्दी आती, सुहावना बसंत आता, मृदुलता भरा शरत् आता। मनुष्य सोचता यह क्या चक्र है। उसे देखता, उसके मुह से कुछ निकलता। वही वेद बना, दर्शन बना। अन्य देशों में अन्य कुछ बना। जो कल्पना कर सकता था, विकल्पना कर सकता था, वह खाली नही बैठ सकता था। कुछ-न-कुछ सोचता रहता था। यों सूर्य का उदय चाहे न होता हो पर ज्ञान की इच्छा का उदय हुआ।

अब आते हैं ज्ञान की माता भक्ति के उदय पर। उसका उदय द्रविड-देश मे क्यों हुआ ? बात यह है कि वहां द्रष्टा को एक ऐसी अदभुत घटना देखने को मिलती है जो दिल्ली वासी को, या कश्मीर वासी को, या अन्यत्र उत्तर वासी को नही मिल सकती। वह घटना है मध्याह्न के समय छाया का पूर्ण लोप। कर्क रेखा से उत्तर के देशों मे छाया लोप की घटना नही होती। मकर रेखा के दक्षिण के देशों में भी नही होती। एक सौ अस्सी अक्षांशो के भूमण्डल मे केवल साढ़े छियालीस के लगभग अंशों वाले क्षेत्र मे होती है। भारत को ध्यान मे रखें तो कर्क रेखा से दक्षिण में केरल छोर तक होती है। यदि परम्परागत सीमा मानें तो

सिंहल (श्रीलंका) के दक्षिणी छोर तक होती है। उसके बाद केवल समुद्र पर होती है।

कर्क रेखा से दक्षिण के भाग को पाणिनि ने 'अंतरयन' बताया है। यह नाम इसीलिए चला था कि इस क्षेत्र में 'अयन' होता था। आप पूछेंगे—अयन क्या? सूर्य कुछ दिनों उत्तर को खिसकता, संक्रमण करता, लगता है; कुछ दिनों दक्षिण को खिसकता, विक्रमण करता लगता है—विपरीत दिशा के कारण। उसी अयन प्रक्रिया के कारण छाया लोप कभी कहीं होता है, कभी कहीं। हमारे देश में द्रविड देश अर्थात् तमिलनाडु, केरल और सिंहल; कर्नाटक, अर्थात् वर्तमान कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश; तथा महाराष्ट्र में होता है। यहां के लोगों के मन-मानस को छायालोप की घटना अधिक झकझोरती थी, आन्दोलित करती थी। यह छायालोप क्यों? यह कैसे? यह कब? अन्तरयन का नागरिक इस छायालोप का पीछा करता सिंहल से उत्तर को सिंहासन बत्तीसी वाली नगरी अवन्तिका तक जाता। फिर वापस जाता। उत्तर में तो उसने वह सीमा सरलता से ढूढ़ ली जहां से आगे छायालोप नहीं होता था। पर दक्षिण में सिंहल के बाद था अगाध जलनिधि। कन्याकुमारी का तो स्थान है ही तीन समुद्रों का संगम। हिम्मत करके पानी के बीच वृक्षों की बड़ी-बड़ी शाखाओं पर बैठकर सिंहल तो चला भी जाता पर उससे आगे? तो क्या हिम्मत हार जाता?

पर मानव मननशील होकर साहस छोड़ दे तो क्या उसे चैन मिले? नहीं, यह नहीं हुआ। समुद्र तट के निकट निवास करने वाला द्रविड़ मानव साहस नहीं छोड़ सकता था। उसने नहीं छोड़ा। उसने वृक्षों की शाखाएं पानी पर तैरती देखी थीं। उसे रहस्य खुलता दिखायी दिया। उसने शुष्क वृक्ष के काष्ठ को पहले अनगढ़ रूप में, फिर सुगढ़ रूप में, कट्टुमरम् (नाव) में बदला और निकल पड़ा छायालोप की दक्षिणी सीमा ढूंढ निकालने। उसने सीमा ढूंढ ली। यह भी जान लिया कि उत्तरायण दक्षिणायन कैसे होता है। उसमें कितना समय लगता है।

पर मकररेखा तक की यात्रा सरल नहीं थी। प्रातः चलकर तो वह कट्टुमरम् मकर रेखा को पार कर सायं तक घर वापस आ नहीं सकती थी। फिर सूर्य के बिना रात को दिशा ज्ञान कैसे हो? विकट कठिनाई थी। पर द्रविड मानव ने देखा कि रात में भी तारे होते हैं, चन्द्र होता है यद्यपि वह बहुत गड़बड मचाता है। शुक्र का तारा उससे कम मचाता है, बृहस्पति उससे भी कम। पर ये महीनों गायब भी रहते हैं। जिज्ञासु मानव ने सोचा और पाया कि जैसे सूर्य के दिखने, न दिखने, अधिक उष्ण होने, कम उष्ण होने आदि में एक व्यवस्था है, क्रम है, उसी प्रकार चन्द्र की गड़बड़ी में भी कुछ व्यवस्था है। शुक्र, बृहस्पति की गड़बड़ी में, और लुप्त होने में भी कुछ व्यवस्था है, क्रम है, नियमितता है। फिर तो वह पिल पड़ा उन नियमों को खोजने में। उन नियमों को खोजने में कितने द्रविड़ जन

मकर-मुद्र मे गये होंगे, तिमियों के ग्रास बनें होंगे, नक्रों की मुमुक्षा शान्ति के साधन बने होंगे, आज जानना दुष्कर है पर उनकी प्राप्ति से उपलब्धि जो भी थी उसका भावी परिणाम उत्तम था।

मानव ने देखा था कि कुछ तारे अधिक समय तक एक स्थान पर रहते हैं उसे लगा था कुछ सदा वहीं रहते है। वे उसे स्थिर लगे थे; ध्रुव लगे थे। अन उसे चर लगे थे; गो लगे थे। कुछ देर से चलने वाले तारों के साथ जल्दी चल वाले तारों की तुलना करने से बहुत से काम सिद्ध होते दिखायी दिये थे। अत कम चलने वालों, क्षत न होने वालों (नक्षत्रों) को आधार मानना सुविधाजन लगा था। उसने कलन करना आरम्भ कर दिया कि सूर्योदय के समय, सूर्य क किस नक्षत्र के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है, चन्द्र को किसके साथ किया ज सकता है। शुक्र को किसके साथ किया जा सकता है। गुरु को किसके साथ किय जा सकता है। फिर उसे मंगल, शनि और बुध भी दिखाई दिए थे। अब उस जान लिया था कि इनके आकाश में विचरण को देख-देख कर दिशा का ज्ञा सम्भव है, समय का ज्ञान सम्भव है, और यदि काष्ठ की नौका कट्टुमरम् न टू तो रात्रि मे भी नीलाम्बुधि में यात्रा संभव है। बस वह यात्रा करने लगा। प्रत्ये यात्रा से लौटता तो उसके ज्ञान में प्रभूत वृद्धि हो चुकी होती; भूगोल की भी खगोल की भी। पर फिर भी उसे बहुत कुछ जानना था। यदि वह स्थल प बैठे-बैठे, आकाशचारियों-ग्रहचारियों की जानकारी पाले तो जल पर यात्र करने में सुविधा के अवसर अधिक दिखते थे। इन यात्राओं से एक और जानकारी यह मिली थी कि कदाचित् आकाशचारी गोल हैं क्योंकि वे परिक्रमा करते हैं। उनका परिक्रमा मार्ग अंडाकार है।

अब द्रविड मानव ने सोचा कुछ लोग नीलाम्बुधि के पुजारी रहें, नावों मे बैठे अध्ययन करते फिरें। कुछ घर पर, स्थल पर रहें और यही विचार करें, अध्ययन करें। फिर मिलने पर अपने-अपने निष्कर्षों की तुलना कर लें। स्थल पर बड़े.बड़े अक्षवाट (मैदान) बनाये गये। उनमे काठ के गोले बनाए गए। बिलकुल खोखले। एक बड़ा गोला सूर्य का बना। एक बीच के आकार का गोला पृथ्वी का बना। एक छोटा गोला चन्द्र का बना। बहुत बाद मे सूर्य के गोले से बहुत बड़ा गोला ब्रह्माण्ड (गैलेक्सी) का बना। फिर उससे भी बहुत बड़ा गोला ब्रह्म (खगोल) का अर्थात् आकाश का बना। ब्रह्म 'आकाश' तब कहलाया जब उसमें उसी की माया शक्ति का हलका सा प्रकाश आया जो परवर्ती सृष्टि का का कारण बना। पर मूलत: ब्रह्म ही था। पर ये सब बातें तो बहुत बाद में जाकर ज्ञात हुई थी। आरम्भ में तो प्रतीक रूप में तीन ही गोले बने थे। उनके ही परस्पर सम्बन्धों की खोज आरम्भ हुई थी।

सर्व-प्रथम पृथ्वी का गोला बना। वह केवल प्रतीक था भगवती वसुधरा की

गोल आकृति का। फिर भी उसका निर्माण वास्तविक पृथ्वी के मान के अनुपात में किया जाता था। उसके लिए यह जानना आवश्यक था कि पृथ्वी का आकार क्या है? उसका मान क्या है? उसकी गुरुता क्या है?—किमाकारा कियन्माना आदि? जिस निर्णय पर भारत के मनीषी पहुंचे थे वह आज की गणनाओं से भी सही उतरता है। जैसे फ्रांस के लोगों ने 'मीटर' का मान निर्धारित करते समय पृथ्वी के गोले को ध्यान में रखा है, उसी प्रकार भारत के द्रष्टा ने भूमि के व्यास को ध्यान में रखा था। उसने भूमि का व्यास एक सहस्र योजन माना था जो आठ सहस्र मील से थोड़ा-सा ही कम था। आजकल मोटा-मोटी एक योजन को आठ मील माना जाता है। स्थूल रूप से यह तुलना ठीक ही है।

पृथ्वी के ध्रुवों की कल्पना की गयी और उत्तरध्रुव का नाम सुमेरु रखा गया। दक्षिणी ध्रुव के कई नाम थे—उरु, बड़वानल, *अगस्त्य* आदि। पृथ्वी के गोले पर मोटे रस्से बांधे गये। एक रस्सा ध्रुवों के बीच से जाता हुआ जो उत्तर और दक्षिण दिशाओं का द्योतक हुआ। दूसरा रस्सा दोनों ध्रुवों से समान दूरी पर पूर्व-पश्चिम दिशाओं का निर्देश देने के लिए बना। यह रस्सा भूमध्य का द्योतक था जिसे आज की भाषा मे भूमध्य रेखा कहा जाता है। आज रस्सियों वाले गोले का रिवाज नहीं रहा है। रेखाएं बनने लगी है। ऊपर से नीचे अर्थात् उत्तर दक्षिण वाला रस्सा हमारे देश के नगर उज्जैन के बीच से जाता था। यह रस्सा जहां भूमध्य रेखा वाले रस्से के ऊपर से निकलता था उस बिन्दु को 'लंका' माना जाता था। यों शून्य अक्षांश और शून्य रेखांश अर्थात् 'उभयलोनिरक्ष' बिन्दु का नाम था 'लंका'। लंका का अर्थ होता है *'कमर' अर्थात शरीर का मध्य भाग।* तो भूमध्य रेखा के अक्षांश और *उज्जयिनी (मूलनाम 'उदयिनी')* के रेखांश का जहां मिलन हो वह लंका। इस लका शब्द से तो यवनों से सुप्रभावित भास्कर तक परिचित हैं यद्यपि भारत के प्राचीन ज्योतिष-विज्ञान से नहीं। भास्कर कहता है—*यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादि देशान् स्पृशत् सूत्र मेरुगतं बुधैं निगदिता सा मध्य रेखा भुवः*—जो धागा लंका, उज्जैन आदि पुरों और कुरुक्षेत्रादि देशों को स्पर्श करता हुआ सुमेरु (उत्तरध्रुव) तक जाता है उसे बुधजन मध्यरेखा (जैसे आज ग्रीनिच रेखा को) कहते हैं। आप पूछ सकते हैं कि लका को कमर कैसे बता दिया? क्या भास्कर ने ऐसा कहा है? नहीं, पर ऐसा बहुत से कवि कहते हैं। यथा करि की चुराई चाल, सिंह को चुरायो लंक मृग के चुराए नैन नासा चोरी कीर की(वेणी),सनम सुण्या है तुहाड़े भी लक है, कद के दस्सो सानु शक है (पंजाबी)। ध्रुवों के बीच से एक थोड़ा सा कम मोटा रस्सा लिपटा जो भूमध्य-रस्से को दोनों ओर लंका बिन्दु से 90-90 अंश दूरी पर स्पर्श करता था। यों मिलन बिन्दु चार हो गये। लंका से पूर्व मे 90 अंश पर जो बिन्दु बना उसका नाम यमकोटि, पश्चिम में 90 अंश पर

रोमकपत्तन और 180 अंश की दूरी पर सिद्धपुर। यों दो मोटे रस्सों और एक साधारण रस्मे से कुल छः महत्त्वपूर्ण बिन्दु हो गये 90-90 अंशों की दूरी वाले —

लंकाकुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक् पश्चिमे रोमक पत्तनं च ।
अधस्ततः सिद्धपुरं सुमेरुः सौम्येऽथ याम्ये बडानवलश्च ॥

भूमध्य पर लंका, उससे पूर्व में यमकोटि, पश्चिम मे रोमकपत्तन, ठीक नीचे सिद्धपुर (लंका में कील ठोकें तो सिद्धपुर मे निकलेगी) उत्तर मे सुमेरु और दक्षिण में बडवानल (अथवा उरु, अगस्त्य आदि)। यही थी भूमि की प्रथम भक्ति। यही था प्रथम विभाजन। यों भक्तजनों (विभाजन करने वालों) ने उसे भगवती (विभाजित) बना दिया। हम उसी भगवती वसुन्धरा की प्रतिदिन सोकर उठते ही वन्दना करते हैं—समुद्र-वसने देवि, पर्वतस्तन मडले। निर्विघ्न कुरु मे देविपादस्पर्श क्षमस्व मे। पादस्पर्श के लिए क्षमा याचना की गई है पर आज कल तो हर छोटा अपने से बडे को चरणस्पर्श से ही सम्मानित करता है।

अक्षवाट में भगवती वसुन्धरा की भक्ति करने वाला द्रविड़ इतनी-सी भक्ति से सन्तुष्ट नही था। इससे तो वह पूर्व-पश्चिम का ही विभाजन कर पाया था। उत्तर-दक्षिण का दिग्विभाजन तो प्रकृतिकृत था ही। लंकोज्जयिनी वाले रेखांश से पूर्व मे पूर्व और पश्चिम मे पश्चिम, यों हुआ दिग्विभाजन क्योंकि उसके लिए कहीं मध्य की कल्पना करनी आवश्यक थी। अन्यथा तो प्राची प्रतीची च विचित्रसंस्थे—पूर्व-पश्चिम का विचार बड़ा विचित्र है। उज्जयिनी से पूर्व में यात्रा आरम्भ कीजिए। प्रतिदिन एक अंश चलिए और वर्षभर पश्चात् वापस उज्जयिनी मे ! आप अपने हिसाब से पूर्व मे चले थे और उसी दिशा मे चलते रहे थे, बिना सिंहावलोकन किये और रास्ते मे देख आये वे सारे देश जो उज्जयिनी से पश्चिम में माने जाते हैं। है न विचित्र संस्था !

दूसरी भक्ति थी अन्तरयन की। कट्टू मरम् वाले द्राविड़ ने अक्षवाट वाले को बताया था कि अन्तरयन का दक्षिणी विस्तार कहां तक है। उसने दक्षिणी छोर को मकर नाम दिया जो सर्वथा उचित था। आप आगे पढ़ेंगे कि अगाध समुद्र का वासी होकर भी वह स्थल की ओर आता है। उधर कर्क स्थलवासी होकर भी समुद्र मे जाता है। उत्तरायण और दक्षिणायन की सीमा निर्धारित करने वाली मोटी रस्सियां बांध दी गयी गोलक पर। उनके बीच के क्षेत्र को पुनः छः समान भागों मे विभक्त किया गया—पाच रस्सियो से। कर्क रेखा से दक्षिण का पहला भाग हुआ कर्क-सिंह का, दूसरा मिथुन-कन्या का, तीसरा वृष-तुला का, चौथा मेष-वृश्चिक का, पांचवां मीन-धनु का और छठा कुंभ-मकर का (पुस्तक के आरम्भ का मानचित्र देखें)। सात रस्सियो से हुए छः भाग उत्तरायण-दक्षिणायन के भेद से बारह हो गये। यों बना राशि चक्र जो मूलतः रश्मि चक्र था। संस्कृत मे 'रस्सी'

का पर्याय 'रश्मि' था। वह प्राकृतों में 'रश्मि' बना पुनः संस्कृतीकरण में 'राशि' हो गया। विदेशी लोग कहते हैं, राशि विचार यवनान से आया। पुराने साहित्य में 'राशि' शब्द ही नहीं मिलता। यवन-भक्तजी! मिलता कैसे, तब तो रश्मि था। वह तो वेदों में भी मिलता है, ब्राह्मणों में भी और सभी सूत्रों में भी।

इस प्रकार अक्षवाट वाले द्रविड और कट्टुमरम् वाले द्रविड दोनों ने भगवती वसुन्धरा की षड्धा भक्ति करली थी। उसे यह ज्ञात हो गया था कि जब कर्क रेखा पर दिन का मान अधिकतम होता है, तब मकर रेखा पर न्यूनतम होता है। इसकी विपरीत स्थिति भी उतनी ही सत्य है। भूमध्य रेखा पर दिन रात के समान होने वाली बात भी ज्ञात हो गयी थी। पर जिज्ञासु मानव और भी गहन भक्ति करना चाहता था। उसने प्रत्येक राशि क्षेत्र का नौ-नौ भागों में विभाजन किया और विभाग-द्योतन के लिये मोटे-मोटे अंशु (धागे) बाँध दिये। यह नवधा भक्ति हो गयी। अंशुओं से घिरे क्षेत्र पहले अंशु क्षेत्र थे। प्राकृतों में अंश रह गये। आज भी हैं। यों बारह राशियों का अष्टोत्तरशतधा (एक सौ आठ में) विभाजन हो गया। इस तथ्य के स्मरण के लिए भक्तराज ने एक सौ आठ मनकों की माला बना ली। माला फेरता हुआ भक्त भजन करता रहा।

अगली भक्ति संपूर्ण गोलक की थी। यह अंशु बाँध कर ही की गयी थी पर 90 अंशु बराबर-बराबर दूरी पर भूमध्य रेखा के उत्तर में बंधे थे और 90 अंशु ही दक्षिण में भी। इसी प्रकार 'यत्ज्जकोलयिनी···' वाले रस्से के समानान्तर भी 180 अंशु बांधे गये थे। यों भगवती वसुंधरा उत्तर-दक्षिण में 180 भागों में भक्त हो गयी और पूर्व-पश्चिम में उसके 360 भजन हो गये प्रत्येक दिन से संबद्ध हो गया एक भाग। यह बात नहीं कि द्रविड मानव को 365° 25635 दिन वाले सौर वर्ष या 354 दिन वाले चान्द्रवर्ष का ज्ञान नहीं था। उसका तो पूरा-पूरा ज्ञान था पर व्यवहार में 360 दिन का वर्ष और 30 दिन का मास मान लेना अधिक सुविधा जनक था। बाद में संस्कृतभाषी उदीच्यों ने अपने यज्ञों के लिए भी व्यवहार वर्ष और व्यवहार मास ही उचित समझा था जिसे वे 'सावन' कहते थे। फिर भी ब्राह्मण ग्रंथों, श्रौत सूत्रों आदि में इस विषय को लेकर संकल्प-विकल्प भी हुआ है कि हवन के लिए चांद्र वर्ष ही अपनाने हेतु क्या आधे मास 29 दिन के ही रखे जाएं—अहरुत्सृज्याँ नोतसृज्याँ वा। एक दिन कम करें या नहीं। चांद्र वर्ष और सौर वर्ष में समन्वय के लिए अधिक मास की कल्पना भी विक्रमाब्द से कम से कम 2000 वर्ष पूर्व तो हो ही गयी थी।

अब देखना यह है कि तीन सौ साठ या पैंसठ दिन वाली अवधि का नाम करण वर्ष, संवत्सर या वत्सर क्यों हुआ? द्रविड़ ऋषि को सूर्य के उत्तरायण गत होने पर छाया लोप का स्थल पर प्रथम दर्शन वृष क्षेत्र में होता था—सिंहल भूमि पर जिसका दक्षिणी छोर 6° पर है। इसलिए वृष संक्रमण से आरंभ करके मेष की

समाप्ति तक की वर्ष संज्ञा हुई। 'वर्ष' का अर्थ है वृप से संबंधित। बड्ढ कहा (वृद्ध-कथा) में यही वत्सराज भी हुआ, वत्सर (बैल), संवत्सर (सांड) आदि भी हुआ। नाद करने से नांदी भी हुआ। ऋग्वेद वाले उदीच्यों ने बाद में उसका वर्णन करते हुए कहा 'त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति।'

भूमि की यह भक्ति भी भक्त को यथेष्ट सूक्ष्म प्रतीत नहीं हुई। उसने प्रत्येक अंशुभाग को भी पुन: साठ-साठ लघुतर भागों में विभक्त किया और इसे द्योतित करने के लिए कलाएं (महीन धागे) बांधी। आज भी तमिल में 'कला' के तमिल रूप (जो मूल रूप था) 'कलै' का इसी अर्थ में ही प्रयोग है और उत्तर भारत में पोंहचे पर जो लाल कलाओं का समूह (कलाप=कलावा) बांधा जाता है उससे हम अपरिचित नहीं है। इसके बंधने पर ही पोंहचा कलाई कहलाता था जो तमिल कलै का शुद्ध उच्चारण है। जो अच्छे अभ्यासी विद्वान् थे वे कलै खोल कर भी भूमि के भाग-प्रभाग बता सकते थे। यही 'कलई खुलना' मुहावरे का अर्थ है, अर्थात् सुज्ञात हो जाना। ध्यान रहे इसका बर्तनों वाली कलई से कोई संबंध नहीं है। वह तो उतरती है खुलती नहीं है। अधिक पक्के भक्त कला-क्षेत्र के भी पुन: साठ विभाग करते थे जिन्हें महीनतर तार बांधकर व्यक्त किया जाता था और विकला कहा जाता था। विकलाओं के साठवें भाग प्रतिकला होते थे। यों सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम भक्ति या भजन करते-करते भी असली भक्तजन सतुष्ट नहीं होते थे। खाना-पीना सब छोड़कर भक्ति और भजन में ही लीन रहते थे। उन्हीं भक्तों से प्रसन्न होकर कहा गया होगा—मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद। भूमि काल-निर्धारण का आधार भी थी अत: कालिका कहलाई। भारवती होने के कारण गौरी कहलाई।

यों भगवती की भक्ति का संक्षिप्त आख्यान यही छोडकर भगवान् की चर्चा करते हैं। हम आरंभ में तीन गोलो की चर्चा कर चुके हैं। इनमें भगवती के गोले के अतिरिक्त छोटा गोला भगवान् कृष्ण चंद्र का था और बड़ा गोला भगवान् 'राम' का। भगवान् कृष्णचंद्र थे आकाश में विचारण करने वाले 'चंद्र'। ये कृष्ण इस लिए हैं कि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से सदा कृष्ट रहते हैं और उससे निर्धारित दूरी पर उसकी परिक्रमा करते रहते हैं। भगवान् कृष्ण चंद्र के भक्तों ने उनकी भी भक्ति (विभाजन) कर डाली। भक्ति का आधार उसी 'योजन' को माना जिसका भगवती के प्रसंग मे उल्लेख कर चुके हैं और जो भू-व्यास का सहस्रांश है। द्रविड ऋषि ने चंद्र के व्यास को 273 योजन से कुछ अधिक पाया। उसे दस-दस योजनों की दूरी पर विभक्त किया। यों सत्ताईस नक्षत्र तो पूरे हुए अट्ठाईसवां आधे से भी कम रह गया। उसे अभिजित् नाम दिया गया। वैदिक वाङ्मय में क्वचित् नक्षत्र संख्या अट्ठाईस मानी गयी, क्वचित् सत्ताईस। आज कल कुल नक्षत्र सत्ताईस ही माने जाते है पर अभिजित् की उपस्थिति मध्याह्न के

कुछ पल पहले से कुछ पल बाद तक मानी जाती है।

चंद्र देव की एक भक्ति और हुई। यह भक्ति षोडशधा थी। उस पर सोलह कलाएं बाधी गयी थी। बात यह है कि चंद्र में अपना तो प्रकाश होता नहीं। वह तो सूर्य के प्रकाश को उसी तरह प्रतिबिंबित करता है जिस प्रकार कोई काच करता है। उसी तथ्य के जानकार वाल्मीकिजी ने कहा था—निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते। अस्तु जितना भाग प्रकाश ग्रहण करके पृथ्वी की तरफ फेंकता है उसी के हिसाब से तिथियां होती हैं। कभी केवल दो कलावृत भाग प्रकाश ग्रहण करता है, कभी तीन कला युक्त भाग। बढ़ते-बढ़ते पूरी सोलह कलाओं पर प्रकाश पड़ता है। यो शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक की कला वृद्धि स्पष्ट हो चुकी होगी। इससे विपरीत क्रम कृष्णपक्ष का है। उसमें प्रकाश फेंकने वाले चंद्र भाग की एक-एक कला मात्रा न्यून (क्षीण) होती जाती है और अंत में अमा आ जाती है। अमा को सूर्य और चंद्र साथ माने जाते हैं; पूर्णिमा को बिलकुल विपरीत दिशा में। चंद्रमा के सत्ताईस नक्षत्रों की चतुर्धा भक्ति भी की गई थी और इस प्रकार 108 भाग हो गये थे। सुमिरनी चंद्र भक्तों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुई थी।

अब बड़े भगवान् की चर्चा करेंगे। द्रविड मनीषी को दो सुविधाएं प्राप्त थी। एक कट्टुमरम् और दूसरा अक्षवाट। जब पृथ्वी की भक्ति हो चुकी तो कृष्ण चंद्र की सरल हो गयी थी। अब इन दोनों की भक्ति सरल हो जाने पर बड़े भाई राम, या बलराम या संकर्षण की भी भक्ति उतनी कठिन नही रह गयी थी यद्यपि उसकी दूरी बहुत अधिक थी, उसका आकार अति विशाल था और गुरुत्व भी तदनुरूप होगा ही। यह शीघ्र ही विदित हो गया कि वह एक केन्द्र बिन्दु है जिसकी परिक्रमा भगवती वसुन्धरा करती है और सदा निर्धारित दूरी पर रहती है। उसकी दूरी किस क्रम मे नीचे-ऊपर होती है यह भी देख लिया जा चुका था। उसे उसकी कक्षा में बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी सकर्षण का है। वह अपनी सकर्षण शक्ति से उसे नियंत्रण में रखता है। वह स्वयं धर्म है जिसके लिए कहा गया कि धर्म एकोहि निश्चलः। पूरे सूर्य मंडल मे ग्रहों को उसके सापेक्ष परिक्रमा करनी होती है पर वह वही रहता है। वह यदि परिक्रमा करता है तो किसी और बड़े ब्रह्माण्ड में जिसका वह अल्प सा अंग है पर वह उस परिक्रमा में अपने परिवार को साथ रखता है। सूर्य या संकर्षण की निजी परिक्रमा का भूम्यादि की परिक्रमा से कोई संबंध नही है। जहा तक सूर्य मंडल (सौर परिवार) का प्रश्न है, सूर्य स्थिर है, पृथ्वी आदि ग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं—यो है। द्रविड मनीषी द्वारा उपज्ञात यह सूचना उदीच्यों तक आज से कम से कम तीन-चार सहस्र वर्ष पूर्व तो पहुंच ही गयी थी। इसकी पुष्टि ब्राह्मण ग्रंथों से होती है। उन मे स्पष्ट उल्लेख है कि 'सूर्य न उगता है, न छिपता है; वह तो जहां का तहां रहता

है। यह तो पृथ्वी है जो विपरीत दिशा में भ्रमण करती है जिससे जो भाग सूर्य के सामने आता है वहां दिन उगता है और रात छिपती है। जो भाग सामने से हटता है वहां रात उगती है दिन छिपता है। वस्तुतः उगते तो दिन और रात हैं। वे ही छिपते भी हैं। अतः सूर्य का उगना-छिपना व्यवहार मे ही ठीक है, शास्त्र मे नही।' यदि आज से तीन हजार वर्ष पुराने ग्रंथ यह सूचना देते हैं तो उदीच्य मे यह जानकारी उससे भी हजार-पांच सौ वर्ष पूर्व तो पहुंच ही गयी होगी। और द्रविड देश के समुद्र तट पर बने अक्षवाटों में तो यह जानकारी और भी हजार पांच सौ पूर्व प्राप्त हो चुकी हो तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यूरोप के कोपरनिकस को इस महाज्ञान का संपूर्ण श्रेय देने वाले तो अब भी अड़े रहेंगे, ऐसा हमें विश्वास है !

द्रविड शालिहोत्री ने सूर्य रूपी वृष का सही-सही मान, गुरुत्व, व्यासमान आदि जानने के लिए उसे केवल त्रिधाबद्ध ही नहीं किया था, सहस्रधा-बद्ध भी किया था। एक हजार रस्सियों से बंधा तभी वह सहस्ररश्मि बताने को तैयार हुआ कि उसका मान क्या है, उसका व्यास कितना है। उसके व्यास के सही-सही मान का स्मरण रखने के लिए उस काल में बनी सुमिरनी बताती है कि सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास से 109.875 गुना था अर्थात् 110 गुने से केवल 1/8 कम। माला में 108 पूरे दाने होते हैं और 1.875 दानो का अर्थात् दो दानों का जिसमें ऊपर वाले का 1/8 अंश कटा होता है, एक सुमेरु होता है। आज के खगोलविद् भी सूर्य के व्यास को पृथ्वी व्यास से 109.87 गुना बताते हैं। संभवतः बिलकुल सही गणना से 109.873 या 109.874 आता होगा। आज वाला विद्वान् .003 को या .004 को छोड़ देता है पर द्रविडों ने उसे .005 कर दिया था। परिशुद्धता का कितना आग्रह था !

आज के प्रबुद्ध मानव ने पृथ्वी मंडल का तो भेदन कर लिया है। उसके अंतरिक्ष यान मंगल के दर्शन कर आये हैं। शुक्र भी अदृष्ट नही रहा। अन्यान्य ग्रहों को भी निकट से देखने की योजनाएं चल रही हैं। पर अभी मानव सूर्य मंडल का भेदन कर अन्य किसी तारे के मंडल मे प्रवेश करने की बात नही सोच पाया है। भारत का प्रबुद्ध मानव तो बहुत पहले से इसका इच्छुक रहा है।

सूर्य, पृथ्वी और चंद्र के परस्पर संबंधों को जान कर उन्हें व्यक्त करने के लिए कैसे रामायण बनी, कैसे अन्य काव्य बने, आप आगे के अध्यायों में पढ़ेंगे। ये तीनों ही भगवान् या भगवती अक्षवाट में बने थे; वैकुंठ या देवलोक में नहीं। वे वस्तुतः भक्त है। पृथ्वी आदि के धरातल पर तो न कोई रेखाएं खिची हैं, न रस्से बंधे हैं। जो कुछ था या है वह इनके प्रतीक गोलों पर होता था। आज भी होता है।

संकर्षण सूर्य के नियंत्रण में स्थित पृथ्वी की अभिव्यक्ति दो प्रकार से दी गयी

है। एक उसे सूर्य रूपी वृष के शृंगों पर विराजमान मान कर, दूसरे सहस्रफणा शेष नाग के फणों पर विराजमान मान कर। वह शेषनाग या अनंत नाग इसलिए है कि प्रलय काल अर्थात् सभी ग्रहों के सूर्य में ही वापस लीन हो जाने पर वही शेष रह जाता है। वह आदित्य भी इसीलिए कहलाता है कि सूर्य मंडल में सर्व प्रथम वही था। पर संपूर्ण विश्व पर विचार करें तो सूर्य न सबसे बड़ा है और न अनादि-अनन्त। उसकी विशालतर आकाश में क्या स्थिति हैं, यह विचार सापेक्ष है।

हेलियम जैसी गैसों से बना हुआ यह सूर्य एक दिन हमारे देवयान अथवा आकाश गंगा मे प्रकट हुआ था जिसमें इस जैसे अनंत कोटि तारे हैं, जिनका अपना-अपना मंडल और अपना-अपना परिवार है। इसी देवयान को ब्रह्माण्ड (गैलेक्सी) भी कहा जाता है। वह ब्रह्म के अनेक अंडों मे से एक अण्डा जो है। उस ब्रह्माण्ड का एक प्राचीन नाम 'इन्द्र' भी था। उसे यह नाम उदीच्यों ने दिया था। इसका प्रतीक एक बहुत बड़ा काष्ठ गोलक अक्षवाट में होता था। उसका भी एक सहस्र रश्मियों (रस्सों) से विभाजन किया जाता था। सहस्रधा विभक्त होने से ही उसका नाम सहस्रभग रखा गया था।

हमारे ब्रह्माण्ड जैसे अनंत कोटि ब्रह्माण्ड हैं जो ब्रह्म, अर्थात् संपूर्ण आकाश मंडल मे हैं। इन सबके अपने-अपने काल मान भी हैं। जैसे आज कल लाइट ईयर (प्रकाश वर्ष) गणना के आधार होते हैं, इसी प्रकार पहले सूर्य मूलक दिव्य वर्ष, देवयान या ब्रह्माण्ड मूलक कल्प वर्ष या ब्राह्म वर्ष और उनसे ऊपर विष्णु वर्ष होते थे। भूमंडल पर जब अनेक कल्प व्यतीत हो चुकते थे तब ब्रह्म लोक मे कुछ क्षण व्यतीत होते थे, यह पुराणों की 'रेवती-कथा' से स्पष्ट होता है। रेवती का पिता ब्रह्माजी से उपयुक्त वर के विषय में सम्मति लेने गया था, पर कुछ पल संगीत सुनने के बाद जब ब्रह्माजी से निवेदन करने लगा तो उन्होंने बताया कि पृथ्वी पर अनेक कल्प और मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं।

सूर्य मंडल का भेदन कर चुका द्रविड मनीषी 'ब्रह्मा' नाम से अभिहित होने का अधिकारी था। उसका विचार क्षेत्र सूर्य मंडल तक सीमित नहीं था। ब्रह्माण्ड और ब्रह्म पर भी विचार करना उसका कार्य होता था। ब्रह्म (आकाश) में विचरण करने वाले अनंत कोटि तारे 'ब्रह्म' अथवा 'ब्रह्मचारी' भी कहलाते थे। उनका अध्ययन करने वाले छात्र भी 'ब्राह्मण' अथवा 'ब्रह्मचारी' कहलाते थे। वे 'ब्रह्मवादी' भी कहलाते थे।

सम्पूर्ण ब्रह्म का भी बारह राशियों और सत्ताईस नक्षत्रों में विभाजन किया गया था। भूमि के मेष क्षेत्र पर छाया लोप करने वाला सूर्य आकाश के जिस खंड मे उदित प्रतीत होता था उसे आकाश का मेष खंड माना गया। इसी प्रकार भूमि की अन्य राशियों के अनुरूप आकाश में भी राशि निर्धारण हुआ। सत्ताईस खण्डों में भी। इसी प्रकार आकाश का भी विभाजन हुआ और भूमि के

अयन-क्षेत्र का भी। आकाश का विभाजन राशियों के नवांशकों तथा नक्षत्रों के चरणों में भी हुआ। यों 108 खंडों में आकाश भी विभक्त हुआ। प्रत्येक चरण को चार-चार उपचरणों में विभक्त कर षोडशधा भक्ति भी की जाती थी। इस प्रकार 432 उपचरणों या षट्त्रिंशांशों में भी विभक्त किया जाता था।

यों भक्ति, भजन, भगवान, भक्त, भाग, भग आदि शब्दों के अर्थ स्पष्ट हुए जो सभी 'भज्' धातु से व्युत्पन्न हुए हैं। विभाजन वाला एक ही अर्थ रहा है, 'भज्' धातु का। भक्त लोग भक्ति और भजन करते-करते जब इतने अभ्यस्त हो जाते थे कि गोलक पर उसे देखते ही अंगुलि रख कर बता सकते थे कि इस क्षेत्र के ये विशिष्ट लक्षण हैं तब ब्रह्म को हस्तामलकवत् देखने वाले कहलाते थे। फिर तो एक स्थिति यह आती थी कि बिना रस्सियों, नाड़ों, नाडियों, अक्षुओं, कलाओं, विकलाओं, तंतुओं के भी अभ्यासी के लिए स्थान- निर्देश संभव हो जाता था।

यों भक्ति भी दो प्रकार की हो जाती थी। एक वह जिसमें रस्से-रस्सियो की आवश्यकता होती थी। दूसरी वह जिसमे इनको खोलने पर भी पूरी जानकारी दे सकना संभव होता था। पहली भक्ति सगुण (रस्सियो वाली) और दूसरी निर्गुण (बिना रस्सी की) कहलाती थी। निर्गुण भक्ति कर सकने वाला ज्ञानी कहलाता था। यों ज्ञान भक्ति का पुत्र हुआ। बहुत से ज्ञानी अपना संपूर्ण जीवन ज्ञान-संवर्धन यज्ञ के लिए अक्षवाट को ही समर्पित कर देते थे। वे शेष भौतिक जीवन या गृहस्थ जीवन से विरक्त हो जाते थे अत: उनकी भावना या विचारधारा वैराग्य कहलाती थी। यों भक्ति के दो पुत्रों ज्ञान और वैराग्य से आप परिचित हो चुके हैं। भक्ति या भजन से पूर्व जो अनेक प्रयोग किये जाते थे वे कर्म कहलाते थे। यों भक्त के प्रबुद्ध होने पर उसी के मन में ज्ञान और तत्पश्चात् वैराग्य का जन्म होता था। अक्षवाट का प्रमुख जो, ब्रह्मा के नाम से ज्ञात होता था, ज्ञान और वैराग्य का पिता माना जा सकता है। वृन्दावन विशाल आकाश ही है जिसका विभाजन भक्त लोग करते थे। आकाश मे बारह रस्सियां फैलाकर कलाविद् नट मनोरंजक रीति से ज्ञान प्रदान करते थे। ये रस्सी पर चलकर दिखाते थे इसीलिए 'कइरु नट' कहलाते थे (कइरु=रस्सी, नट=चलना—तमिल)। कालान्तर मे वे कारुनट कहलाने लगे। इस संपूर्ण ज्ञान विकास के लिए द्रविड भूमि अधिक उपयुक्त थी अत: भक्ति का उदय वहां होना स्वाभाविक था।

अक्षवाटों के ब्रह्मचारी जब गृहस्थ बनते थे तो उतने बड़े-बड़े काष्ठ गोलक अपने घर में तो रख नहीं सकते थे अत: घरों में गोलाकृति पत्थर प्रतीक बना कर रखने लगे। ज्ञान हो जाने से रस्सियां अनावश्यक हो चुकती थी। अत: घरों में इन पत्थरों की पूजा करके भक्त लोग सारा विषय स्मरण कर लेते थे। फिर ऐसी स्थितियां आयी कि अगली पीढी ज्ञानार्जन न कर सकी पर पूर्वजों को जो पूजा करते देखती थी वही करने लगी। समय पाकर अक्षवाट नष्ट होते

गये, नागरिक ज्ञान को मूनते गये और भक्ति यह रह गयी जिसे आज कल लोग समझते हैं।

चद्र गोलक का, पृथ्वी गोलक का, सूर्य गोलक का, ब्रह्माण्ड गोलक का, ब्रह्म गोलक का भजन करने वाले भक्त किस सीमा तक आत्मोद्धार कर पाते थे, यह तो कह सकना कठिन है; पर उन्होंने ज्ञान का विकास किया, विज्ञान का परिष्कार किया। कदाचित् परिव्राजक भी बने हो। कदाचित् ब्रह्म रध्र का भेदन कर ब्रह्म में लीन भी हुए हों, कह नही सकते। हमारे ग्रंथ तो स्पष्ट कहते हैं कि ऋषि मुनि यह सब कर सकते थे, करते भी थे। पर हम इस प्रकार का कोई साग्रह दावा करने का यत्न नही करेंगे। हां, इतना हम अवश्य मानते हैं कि इस देश के अखवाटो में ज्ञान-विज्ञान का अर्जन करने वाले ब्रह्मचारी यह अवश्य जानते थे कि परिव्राजक वनना संभव है। भगवा वस्त्र पहन कर, मूंड मुंडा कर भिक्षाटन करना परिव्रजन नही है; परिव्रजन तो विशेष यान मे बैठकर पृथ्वी के चारों ओर निर्धारित कक्षा मे परिक्रमा करना है। पृथ्वी के पश्चात् सूर्य मंडल के अन्य ग्रहों की परिक्रमा करना भी परिव्रजन है। पूरे सूर्य मंडल का भेदन कर उसकी परिक्रमा करना भी परिव्रजन है। ऐसे परिव्राजक का ही वर्णन वेद व्यास करते हैं—

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रौ सूर्यमंडलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः।

दो ही नरश्रेष्ठ सूर्य मंडल का भेदन कर सकते हैं, एक युद्ध मे अभिमुख हत होने वाला वीर और दूसरा योगयुक्त परिव्राजक। पहला कथन तो केवल योद्धाओं को प्रोत्साहन देने के लिए है। उसमें वास्तविकता नही है पर दूसरा कथन सर्वथा सत्य है। आज के वैज्ञानिक ने चाहे अभी सूर्य मंडल का भेदन न किया हो, पर यदि वह इसी प्रकार योगयुक्त रहा, धुन के साथ ज्ञानार्जन मे लगा रहा तो संभव है दस-बीस वर्ष मे ही सूर्य-मडल का भेदन करने निकल जाए। पृथ्वी के वायुमंडल का भेदन तो भारत का परिव्राजक राकेश शर्मा भी कर आया है। अन्य अनेक परिव्राजक उससे पहले ही कर चुके थे। चन्द्र की परिव्रज्या भी हो चुकी है। भौम-परिव्रज्या यान तो कर चुके हैं। मानव भी शीघ्र करेंगे। अन्यान्य ग्रहों की परिव्रज्या के पश्चात् स्वयं सूर्य भगवान् की परिव्रज्या भी की जाएगी। उसकी ऊष्मा को सहन करने के साधन भी उपलब्ध होंगे। तब सूर्य मंडल का भेदन करने वाले परिव्राजक आयेंगे जो हमारे ब्रह्माण्ड के अन्यान्य तारा मंडलों का परिव्रजन करेंगे। और तब आयेगा ब्रह्माण्ड का भेदन कर उसके भी पार अनन्त आकाश में परिव्रजन करने का विचार करने का काल। पर मानव को सन्तोष नही होगा। वह अन्त में ब्रह्मरन्ध्र का भी भेदन कर अनादि अनन्त ब्रह्म मे लीन

होकर रहेगा।

मानव भविष्य मे क्या कुछ कर पायेगा, इनका स्वल्प सा आभास कराने के लिए ऊपर का विवरण यथेष्ट है। इतना कुछ संभव होगा, इसकी कल्पना आज से दो सौ वर्ष पहले का यूरोप का वैज्ञानिक नहीं कर सकता था। उसके मनो-मस्तिष्क पर यह भावना तब भी अभिभावी थी कि विश्व की रचना भगवान् ने आज से कुल छः हजार वर्ष पूर्व की थी। पर हमारे देश का विचारक आज से पांच हजार वर्ष पूर्व यदि ब्रह्मरध्र का भेदन न कर सका होगा तब भी इतना तो मानना ही होगा कि ब्रह्मरंध्र के भेदन को अपना चरम लक्ष्य तो बना ही चुका था। उसकी परम कामना तो यह हो ही चुकी थी कि वह ब्रह्मरंध्र का भेदन कर परम ब्रह्म मे लीन हो जाए। अप्सराओ, हूरो और परियों वाले स्वर्ग को तो चरम लक्ष्य मानना उसने छोड़ ही दिया था।

उस मेधावी मानव ने परिव्रजन के लिए योगयुक्त होने को तो आवश्यक शर्त मान लिया था। योग-युक्त मे 'योग' का अर्थ सिर के बल खड़े होना नही है जैसा कि अनेक अल्पज्ञ सोचते हैं। उसका अर्थ तो वैज्ञानिक कौशल है—योगः कर्मसु कौशलम्। वैज्ञानिक कौशल से ही तो राकेश शर्मा परिव्राजक बन सका, शीर्पासन करके थोड़े ही बना था। 'शीर्पासन' तो विकास की अवस्था को द्योतित करने वाला एक मुहावरा मात्र है। हमारी भगवती वसुंधरा पर जो प्रथम जीव निर्मिति हुई थी वह थी स्थावर वृक्षों की। चार टांगों पर, सिर ऊंचा करके चलने वाले प्राणी तो सबसे बाद में आये। इनमें मनुष्य वह प्राणी बना जो अब तक की विकासावस्था में सर्वोपरि है और जिसका सिर वृक्षो के सिर से ठीक विपरीत दिशा मे है। मनुष्य एक उलटा खड़ा वृक्ष है—ऊर्ध्वमूलमधः शाखः अश्वत्थोयं सनातनः। वृक्ष में सबसे नीचे पूरे वृक्ष का नियंत्रण करने वाला मूल होता है, उसके ऊपर तना तथा अन्त मे शाखाएं। मानव मे सबसे से नीचे शाखाएं, बीच मे तना और सबसे ऊपर मूल रूपी नियंत्रक मुंड। उसी मुड में बसती है वह अनन्त शक्ति जो मानव को एक दिन ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करने मे समर्थ बनाएगी। वह ब्रह्म मे लीन होकर ही भव-बाधाओं से मुक्त होगा। आज तो बे-चारा भव-बाधा का अर्थ ही सांसारिक कष्ट मानता है, जबकि भव का अर्थ है जन्म। जन्म-मरण का चक्र ही भव बाधा है, जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्यच। इसी चक्कर से छूटने का यत्न पांच-सात सहस्र वर्षो से भारत का मानव करता आया है। पर आज दिग्भ्रांत सा हो गया है—पश्चिमी विज्ञान के चाकचक्य से अभिभूत होकर। उसे स्वर्ण मृग अनेक बार ठग चुके हैं पर फिर भी वह स्वर्ण मृगो के पीछे भागने से बाज नही आता। उसे कैसे समझाएं कि 'असंभवं हेममृगस्यजन्म' उसे कैसे समझाएं कि 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' होती है अतः न पड़ किसी के चक्कर में। बस लग जा भक्ति और भजन में। पर खेद है कि आज तो

वह दूसरे प्रकार का भक्त होने के चक्कर में है। वह तो पूरे देश को अनेक खंडों में भक्त-विभक्त करने मे लगा है। हे भगवान्, यदि कही हो, तो इस भारत के मानव को 'अभक्त' बनाओ। हम तो इसी को प्रपत्ति मान लेंगे। यह देश को भक्त बनाने की जगह आकाश को, दिव्' को भक्त करने लगेगा तो उसे सच्ची दिव्य-दृष्टि मिलेगी। वह दिव्य दृष्टि यही है कि प्राचीन शास्त्रों को खगोल की दृष्टि से समझो। उनमे खगोल का ज्ञान भरा है।

भगवत्पूजा-विधि— आज के युग में बड़े-बड़े लक्ष्मीपुत्र लक्ष्मी पति बनकर विशाल और भव्य मंदिर बनवाते हैं, उनमे जयपुर के कलाविद् मूर्तिकारों की निर्मित भव्य मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा करवाते हैं और मन्दिर के द्वार सभी भक्तों के लिए उद्घाटित कर देते हैं। अनेक मंदिर तो मूर्ति वाले देवता के नाम से नही, निर्माता श्रेष्ठी के नाम मे ही ख्यात हो जाते हैं। दक्षिण भारत का रामेश्वरम् का सुप्रसिद्ध मंदिर ऐसा ही देवालय है जिसका निर्माण सर्वप्रथम भगवान् राम द्वारा करवाया गया माना जाता है, यद्यपि वाल्मीकि कृत आदि काव्य मे इस घटना का उल्लेख नही है। आज के बिरला मदिरों से सभी परिचित हैं, यद्यपि अनेक जन अनेक बार यह प्रश्न पूछते हैं कि क्या ये 'बिरला' भी तैंतीस कोटि देवों मे से ही एक है। अवश्य होंगे, हमे सन्देह के लिए कोई उपयुक्त कारण नहीं प्रतीत होता। मंदिरो मे यथा-समय पूजा-अर्चना करने के लिए सुयोग्य पुजारी नियुक्त होते हैं। पूजा की विधि सुनिर्धारित है। विभिन्न देवों के पूजन की विविध विधियां हैं। तदनुसार ही पूजा की जाती है। कुछ विशेष दिनो को विशेष कीर्तन होते हैं, झांकियां निकलती हैं, रथ यात्रा होती है और प्रसादार्थियों को प्रसाद का तथा भिक्षार्थियो को भिक्षा का दान होता है। पूजा के समय गाये जाने के लिए देवोचित स्तुतियां बनी हैं। उनका गायन घंटा, मृदग, पणवानक, गोमुख, भेरी, तूर्य, आदि के निनाद के साथ होता है। पूजा मे अनेकविध सुगंधित द्रव्यों, अगरु धूपादि का धूम वातावरण को शुद्ध करता है, केसर-चंदन आदि बहुमूल्य द्रव्यों का प्रस्तर-मूर्ति पर लेपन होता है, सुस्वादुतम मिष्ठान्नों का नैवेद्य निवेदित होता है और वितरित प्रसाद पाकर भक्तजन कृतकृत्य हो जाते हैं। सबसे बड़ी बात यह कि सामान्य जीवन की अनेकविध चिन्ताओं से व्याकुल मानव वहां आकर कुछ क्षणों के लिए मनः शान्ति पाते हैं। अनेक जन मनः कामनाओं के साथ देवदर्शन को आते हैं और मनः कामना पूर्ण होने पर प्रभूत मात्रा में नैवेद्य समर्पित करते हैं। भगवान्, हमारे पाठको की भी मनः कामना पूर्ण करना। इस लेखक की तो एक ही कामना है कि यह देश अभक्त बना रहे; बहुत भक्त रह चुका है। अब तो इसे अखण्डता का पाठ पढा दे।

मूर्तिपूजा-विरोधी विद्वज्जनों का कथन है कि ईश्वर अमूर्त, अगोचर, निर्गुण, निराकार और निर्विकार है। उसकी कोई मूर्ति नही बन सकती—न

तस्य प्रतिमास्ति । हमें इसे मानने में कोई आपत्ति नहीं है, यद्यपि हमें तो लगता है कि यहां प्रतिमा का अर्थ उपमान है। हमने तो ईश्वर के भी कथित लक्षण भी ब्रह्म के सुने हैं, ईश्वर के नही । हम ईश्वर के विषय में कोई विवाद नही करते । पर हमारे विचार से भगवान् या भगवती तो साकार ही हैं । उनके तो भाग-प्रभाग तभी हुए होंगे जब उनकी मूर्तियां बनीं । लिंग बने । उन पर रस्सियां लपेटकर उन्हें सगुण बनाया गया, दामोदर बनाया गया । उनका भाग-भाजन हुआ । फिर उनका नाड़े-नाड़ियों से विभाजन हुआ, अंशु-कलाओं से प्रभाजन हुआ, विकलाओं-तंतुओं से अनुभाजन हुआ । वे भगवान् या भगवतियां तो अवश्य ही सुमूर्त थे, ऐसा हमें लगता है । अतः हमारा निवेदन है कि जो अमूर्त का, निर्गुण का, निराकार का ध्यान करना चाहते हैं, वे यदि ऐसा कर सकते हों तो अवश्य करें, पर जो भगवान् की मूर्ति की पूजा करना चाहते हैं, उन्हें पूजा कर लेने दें । जो हम जैसे न आर्य समाज को मानते हैं, न सनातन धर्म को, बस मानव धर्म को मानते हैं, उन्हें मनु के मार्ग पर चल लेने दें । श्रुतियों और स्मृतियो का तर्कानुसंधान कर लेने दें—यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः । मनु ने ठीक ही कहा है । आखिर हमारे मुंडों की सुरक्षित पेटिकाओं मे जो श्वेत द्रव्य भरा है, वह भी तो उपयोग के लिए ही भरा है । उसका उपयोग नही हुआ तो कदाचित् सड जाएगा । मनु के पथ को अपनाये बिना हज़ार पांच सौ या दो-चार हजार वर्ष पहले हुए गुणीजनो की बातों को आंख मूंदकर माने जाना तो हमें कुछ जमता नही । जिसे निष्ठा या फेथ कहा जाता है वह बुरा तो नहीं पर उसे तर्क की तुला पर न तौलना तो हमें ठीक लगता नही । जिन्होने वे निष्ठा योग्य बातें कही, वे उनके काल में, उनके देश और समाज में उचित थी पर वे आज भी सर्वत्र हों, यह तो आवश्यक नही । हमारा तो विश्वास है कि शाश्वत, चिरंतन और सार्वदेशिक सत्य जैसी कोई वस्तु नही होती। सापेक्षता सिद्धान्त तो सर्वत्र लागू होता ही है । अस्तु, हमारी इस बात को जो न मानें उनसे हमें कोई शिकायत नही । वे अपने मार्ग पर चलें, पर हमें अपने पर चल लेने दें । मूर्ति पूजने वालों को मूर्तियां पूज लेने दें । हम तो केवल यह बताना चाहते हैं कि मूर्तिपूजा कैसे चली, कहां चली, क्यों चली ?

भगवतियां और भगवान अक्षवाट में होते थे । वे जिनके प्रतीक थे वे देव थे क्योंकि वे दिव् में चमकते थे । प्रकाशमान आकाशीय पिंडो की परिक्रमा करने वाले परिव्राजक भारत भूमि में थे या नहीं, यह हम साग्रह नही कह सकते पर वे परिव्रजन के इच्छुक अवश्य थे । परिव्रजन की तैयारी के प्रक्रम मे पहले उनके प्रतीकों की, लिंगो की परिक्रमा करना उचित था । लिंगो के माध्यम से देवो के स्वरूप को समझना आवश्यक था । यह सब कर्म अक्षवाटो मे होता था । अक्षवाट ऊंचे, किन्तु चौड़े, पर्वतशृंगों पर होते थे ताकि आकाशचारी पिंडों के साक्षात् दर्शन से प्राप्त ज्ञान की पुष्टि हो सके । ये अक्षवाट पहले पर्वत शृंगों—मलयों—

पर बने। फिर समतल भूमि पर, नगरों मे भी उन अक्षवाटों के प्रतीक अर्थात् प्रतीकों के प्रतीक बने। गिरिशिखरो के अनुकरण पर शिखर मदिर बने। अक्षवाटों में विद्यमान भगवानो-भगवतियो और शिव लिगों के प्रतीक मूर्तिमान बने। मूर्ति-निर्माता कलाकार अपनी कला को निखारते गये और मूर्तिकला विकसित होती गयी। मूर्तियों मे प्राण-प्रतिष्ठा होती रही। वे भक्तो के नैवेद्य स्वीकार करती रही; उनकी कामनाएं पूर्ण करती रही और अधिकाधिक भक्तों को आकर्षित करती रही; उनमे भक्ति भाव का उद्रेक करती रही।

यो मलय शृंगों पर बने अक्षवाटो की अनुकृतियां नगरों-ग्रामो मे बनकर भी 'मलै' कहलाती रही। बड़े-बड़े राजा लोग, बड़े-बड़े श्रेष्ठिजन मलै बनवा-बनवा कर पुण्य लाभ करते रहे, अपनी मन. कामना सिद्ध करते-कराते रहे। उन भगवानों-भगवतियों के गुणगान करते रहे जो न तब सगुण भगवान् थे न सगुण भगवतियां। वे तो सुंदर नर-मूर्तियां थी या नारी-मूर्तियां। देश-काल के प्रचलन के अनुसार ये मूर्तियां वस्त्र भी धारण करती, अलकार भी धारण करतीं। नित्य स्नान करती। गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्य ग्रहण करती और मानवों की कामनाएं पूर्ण करती। इन परिधानो से आवृत मूर्तियों के बीच शिवलिंग और शालिग्राम पिंड भी पुजते रहे।

पर जिन मूर्तियों में चमत्कार करने की क्षमता थी, भक्तों की मनोवांछा पूर्ण करने की शक्ति थी, उनकी पूजा द्रविड़ भूमि तक सीमित कैसे रहती। उसका प्रचार कर्णाटक भूमि में हुआ, आन्ध्र भूमि मे हुआ, महाराष्ट्र-गुर्जर भूमि में हुआ, ब्रह्मावर्त मे हुआ, आर्यावर्त में हुआ, अंग-वग-कलिग में हुआ, समग्र प्राच्य भूमि में होकर उदीच्य भूमि मे हुआ। फिर तो जैन-तीर्थंकरों की भी मूर्तिया निर्मित हुईं, महात्मा बुद्ध की मूर्ति भी निर्मित हुई; महाकाल की मूर्तियां निर्मित हुईं। बुद्ध और महाकाल की मूर्तियां तो मध्य एशिया तक पहुंची; आश्वकायन, गांधार, *आर्यान् सर्वत्र पहुंची। अपने निकटस्थ प्रदेश की 'बुद्ध' मूर्तियो को देखकर अरब* वासी उन्हें 'बुत' कहते थे। अरब के एक महात्मा को यह सब पाखड प्रतीत हुआ, कुफ़ लगा। उन्होंने इसका निषेध किया। जहा जहा उनके मत का प्रचार हुआ, वहां इसका आकर्षण कम हुआ भी, पर जिस देश की जनता की मनोवाछा ये मूर्तियां पूरी करती थी, वह क्यो इससे विरत होता। मनोवांछा की पूर्ति का रहस्य यह है कि यदि सौ व्यक्ति एक साथ मन: कामना लेकर जाएं और उनमें से तीस की संयोग से पूरी हो जाएं तो वे धन्यवाद देने तो जाएगे ही सर्वत्र प्रचार भी करेंगे। जिन सत्तर की पूरी नही होगी वे या तो रो-धोकर रह जाएगे या यह सोचकर संतोष कर लेंगे कि उनमे विधि का पालन करने में भूल हुई होगी। अस्तु, वास्तविक्ता यह है कि मे आकाश से अक्षवाटों में उतरे देव भगवान् बने और उनके प्रतिनिधि समग्र भारत भूमि मे फैल गये। माना कि अक्षवाट की

वैज्ञानिकता नगरों-ग्रामो मे लुप्त हो चुकी थी, अन्ध आस्था में परिवर्तित हो चुकी थी, पर फिर भी हमे उसमें इतना दोष नही दिखाई देता कि हमें लज्जा प्रतीत हो। खेद है कि कुछ लोग इसे लज्जा योग्य कृत्य मानते हैं, प्रबुद्ध अनोचित कृत्य नहीं मानते। संसार भर में अनेक परंपराएं चल रही हैं जो किसी प्रबुद्ध समाज को शोभा नही देती। पर क्या संसार के अन्य देश उन परंपराओं को छोड़ रहे है। यह तो हमारी ही दास्य काल की प्रवृत्ति है जो हमें अपनी परंपराओं के प्रसंग में लज्जा का बोध कराती हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि आज देवालयों में पूजा की विधियां सुनिर्धारित हैं। पूजा के अधिकारी भी विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। देव मूर्ति के प्रातर्जागरण से लेकर रात्रि मे शयन तक के कृत्य विधान निर्धारित हैं। तदनुसार ही सब कृत्य किये जाते हैं। भक्तों को दर्शन देने के समय भी निर्धारित हैं। दर्शन की विधिया भी निर्धारित हैं। माध्यम भी निर्धारित है। भाषा भी निर्धारित है। अवधि भी निर्धारित है। किसी भी निर्धारित तत्व के उल्लंघन पर देव-विग्रह के रुष्ट होने का भय भी सर्वत्र है। यों अपराधी तो सर्वत्र होते हैं। इन क्रियाओं मे भी होते होंगे। पर फिर भी बहुत कुछ क्रियाकलाप यथानिर्धारित क्रम और नियम के अनुसार ही होते हैं। उल्लंघन करने वाले मन मे पाप भावना से पीडित होते ही हैं। प्रायश्चित्त भी प्राय: करते ही हैं। देश की राजनीतिक विधि की स्थिति तो इससे सर्वथा विपरीत ही है। उस विधि द्वारा तो अपराधियों मे से दो-चार प्रतिशत ही दंड पाते होंगे। शेष तो अन्यों के स्थान पर ही पाते हैं। बस, विधिवेत्ताओं का वाग्वैदग्ध्य ही दंड का पात्र सिद्ध या असिद्ध करता है।

पाठक सोच रहे होंगे कि अक्षवाटों में तो भगवानों और भगवतियों के काष्ठ गोलक होते थे फिर मलै नामक नगर मंदिरों में ये मानवाकृतियां कैसे आ गयीं। क्या ये आकृतियां उन देवालयों में भी आ गयी थीं जो समतल भूमि पर न बनकर पार्वत्य भूमि पर बनते थे, या उससे भी पूर्व बनने लगी थीं जब अक्षवाटों में भक्तजन भक्ति-भजन करते थे। हां, यह मानवीकरण तभी आरंभ हो गया था जब अक्षवाटों में वैज्ञानिक भक्ति-भजन होता था। उन अक्षवाटों के प्रबुद्ध ब्रह्मा (प्रधान आचार्य) वैज्ञानिक अध्ययन को एक नीरस प्रक्रिया मात्र नही रखना चाहते थे। उन्होंने नीरस से नीरस विषय को भी सरसतम बनाने के यत्न किये थे। व्याकरण जैसे नीरस विषय के साथ भी रस, अलंकार, संगीत, नायिका-भेद जैसे सरस विषय जोड़ते थे। एळुत्तधिकारम् (वर्ण-विचार) और चोळ्ळधिकारम् (शब्द-विचार) के साथ पोरुळधिकारम् भी रखते थे जिसमें कोरा अर्थ विचार नहीं होता था, नायिका भेद आदि भी होते थे। संप्रति-उपलब्ध तोलकाप्पियम् में तो पोरुळधिकारम् अंतिम अधिकार है पर पाणिनि के वृत्तान्त से यही पता चलता है कि सर्वप्रथम इस सरस अधिकार में प्रवृत्त करके ही एळुत्तधिकारं और चोळ्ळधि-

कारं की शिक्षा दी जाती थी—'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव पंचवारम् ।' स्पष्ट है कि संस्कृत का व्याकरण पढ़ाने वाले नटराजन् ने पहले काव्यशास्त्र का अध्यापन संगीत-नृत्य के साथ समाप्त किया और तब वर्ण विचार के चौदह सूत्र पढ़ाये जिनसे पूर्व चौदह बार ढक्कावादन भी किया। यह घटना तो बहुत बाद की है पर इस परंपरा का परिचय अवश्य देती है कि द्रविड गुरु नीरस विषय का परिचय आरंभ कराने से पूर्व कैसे सरस प्रसगों से आकृष्ट करता था।

जहां तक हमारा ज्ञान है, देव पिंडों के प्रतीक गोलकों को भक्ति और भजन में प्रवृत्त करने से पूर्व ब्रह्मा अपने अन्तेवासी को उन गोलो पर सुंदर मानवी आकृतियां बनाना सिखाता था। कुछ गोले नर माने गये थे कुछ नारी। वे भक्त होने पर क्रमशः भगवान् और भगवती बनते थे। पर उससे पूर्व उन पर नर आकृतिया और नारी आकृतियां बनायी जाती थी। उनमें से अपनी सुपरिचिता भगवती वसुन्धरा की आकृति कैसे बनती थी, इस पर विचार कर लें। आचार्य ब्रह्मा के कौशल का बहुत कुछ आभास इस भगवती की आकृति से हो जायेगा।

भगवती की आकृति में उत्तर ध्रुववाला क्षेत्र सर्वोपरि स्थान पाता था। वहां शीर्ष बनता था। नीचे क्रमशः अन्यान्य अग बनते थे और दक्षिण ध्रुव पर चरण बनते थे। मुंड चद्र की आकृति का बनता था। उस पर सर्पाकृति अलकावलियां बनायी जाती थी। अष्टमी के चंद्र सदृश भाल बनाया जाता था सीपी-सदृश कर्ण बनाये जाते थे। भ्रमराकृति भृकुटियां बनायी जाती थी। मत्स्याकृति नयन बनते थे। वे कभी-कभी खंजन सदृश भी बनाये जाते थे, कभी-कभी मृग के नेत्रों सदृश बनाये जाते थे। उनको कज्जल से रंजित किया जाता था। शुकनासिका सदृश नासिका बनायी जाती थी। भाल पर मंगल के रंग का लाल बिन्दु आरोपित होता था। कमल पत्रों से कपोल बनाये जाते थे। दो फांकों में विभक्त पके बिम्बा फल सदृश ओष्ठाधर बनाये जाते थे। मोतियों से दांत बनाये जाते थे। नासिका में बेसर बनता था। अधरों पर यदा-कदा चमकती बिजली की आकृति बनायी जाती थी जो हास का बोध करा सके। चिबुक पर रंच-सा गर्त बनाकर उसमें काला तिल बनाया जाता था। कंठ में हार का आभूषण बनता था जिसमे अभ्रक से झलमलाहट उत्पन्न की जाती थी। यत्र-तत्र मौक्तिक-हीरक आदि को यथावत् स्थापित किया जाता था। ग्रीवा पर कंबु की आकृति बनाई जाती थी। स्कंध से दोनों ओर कमल नाल से भुजदंड बनाये जाते थे। उनके अन्त में कमल पत्रों से हाथ बनाये जाते थे। पतली डंडियों जैसे अंगुलियों के छोर पर मयूर पंख के चंद्र जैसे नख निर्मित होते थे। भूमंडल पर जहा हिमालय पर्वत है वहा गोलक पर भी उसके निर्देशक दो उभार बनाये जाते थे, जो स्तन बनते थे। उन्ही के कारण उस भगवती को 'पर्वतस्तनमंडले' संबोधन उचित होता था। जहां गोलक पर उज्जैन का विन्दु या वही नाभि बनायी जाती थी। कर्क, सिंह और

कन्या क्षेत्रों का निर्धारण करने वाली रस्सियां त्रिवली बनती थीं। समुद्र के शैवालादि रोम राजि बनते थे। लंका बिन्दु योनि केन्द्र बनता था। उसके ऊपर की मध्य त्रिवली करधनी बनती थी जिससे एक चाबी लटकती थी, बिलकुल वृश्चिकाकृति जो योनि से नीचे तक जाती थी। नितंबों की आकृति तुंबरू के तंबूरे जैसी बनायी जाती थी। सिंह क्षेत्र से तुला क्षेत्र तक का संपूर्ण भाग कटि माना जाता था। वह सिंह क्षेत्र से आरंभ होता था अतः कटि की आकृति सिंह की कटि-जैसी बनायी जाती थी। कुंभ क्षेत्र से नीचे जंघाएं आरंभ होती थी। कुंभ को गजकुंभ मानकर जंघाएं गज शुंड तुल्य बनाई जाती थी जो ऊपर पृथुल और नीचे को क्षीणतर होती जाती थी। कुछ अवसरों पर उसे कदली स्तंभ तुल्य बनाया जाता था। 75° दक्षिण वाली रस्सी जरा मोटी बनायी जाती थी और उसमें घुंघरू जड़े जाते थे जिससे नूपुर तुल्य हो जाती थी। पास-पास की दो रस्सियां इस प्रकार बांधी जाती थी कि कदली स्तंभ से बनी दोनों टांगें अलग-अलग रस्सियों से बंधी लगती थी। पदतल की विरचना कमल पत्रों से की जाती थी जिन्हें लाल रंग से रंगा जाता था या कमल का पत्ता ही लाल रखा जाता था। छोटी-छोटी कमलदंडियों से अंगुलियां बनाकर उनमें मणियां जटित की जाती थी जो नखों जैसी प्रतीत होती थीं। यों बनी पृथ्वीगोलक रूपी नायिका सर्वांग सुंदर बन जाती थी। उसके इस मनोमोहक रूप का वर्णन करने के लिए नवागत छात्रों को प्रेरित किया जाता था। प्रेरणा पाकर वे उसका वर्णन करने में प्रवृत्त होते थे। उनके इस कर्म को कवन-व्यापार कहा जाता था। जैसे आज के विद्यालयों में अन्त्याक्षरी जैसे कार्यक्रमों से छात्रों में अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न की जाती है, उसी प्रकार कवन-कर्म द्वारा छात्रों में रुचि उत्पन्न की जाती थी। जब उसमें यों रुचि उत्पन्न हो जाती तब उसे उस देवी की प्रशंसा में एक-एक वाक्य कहते हुए पुष्पोत्सर्ग करने को कहा जाता था। यह पुष्पोत्सर्ग ही पूजा कहलाता था। तमिल में आज भी 'पू' का अर्थ 'पुष्प' है और 'चय' का 'करना'। यों पुष्प का उत्सर्ग ही 'पू चय' था जो संस्कृत में 'पूजा' बना। संस्कृत और तमिल का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले इस बात से अभिज्ञ है कि तमिल में जहां स्त्रीलिंग शब्दों में अंत में 'ऐ' होता है वहां संस्कृत में 'आ' होता है। तमिल का 'कलै' संस्कृत में 'कला' होता है, तो संस्कृत का 'माला' तमिल में 'मालै'। शब्द के मध्यवर्ती 'च' का तमिल में 'ज' ही उच्चारण होता है। यों पू-चय या पूचै (उच्चारण पूजै) संस्कृत में पूजा बना है। उदीच्य के संस्कृत भाषियों ने जब द्रविड जनों से पूजा पद्धति सीखी तो उनका शब्द भी स्वाभाविक ईषत् संस्कार के साथ आदत्त कर लिया।

जिस प्रकार भगवती की पूजा का विधान बताया जाता था उसी प्रकार भगवनों की पूजा के भी विधान थे। उनके भी विविध अंगों के निर्माण की

निर्धारित विधियां थी। इन भगवानों में सूर्य और चंद्र प्रमुख थे। जाज्वल्यमान सूर्य गोलक का प्रभा मंडल भी बनाया जाता था जो कालान्तर में सभी महापुरुषों के चित्रों मे स्थान पाने लगा। चंद्र मे विद्यमान विशाल गर्त्तों को मृग की आकृति से व्यक्त किया जाता था। इन भगवानो के स्तव भी बने थे, पूजा विधियां भी बनी थी। तदनुसार ही नया छात्र अनेक मास तक सेवा-पूजा-आराधना में लगा रहता था। उसके पश्चात् ही उसे नीरस विषय की दीक्षा के योग्य माना जाता था।

यों सर्व प्रथम तीन गोलकों की पूजा करते-करते जब छात्र अपनी जिज्ञासा व्यक्त करने लग जाता तब उसे थोड़े से नीरस, थोड़े से कठिन, ज्ञान मे प्रवृत्त किया जाता। पर फिर भी विषय को पूर्णतः जटिल और नीरस नही बनाया जाता। पृथ्वी के गोलक को विशेष यंत्र से इस प्रकार घुमाया जाता कि उसका सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक एक चक्र पूरा हो जाता। जब छात्र को सूर्योदय से सूर्योदय तक के समय में पृथ्वी के एक चक्र के पूरे होने की बात ज्ञात हो जाती तो उसे बताया जाता कि वस्तुतः उदय सूर्य का नहीं होता। विपरीत गति से घूमती पृथ्वी के सूर्य के सम्मुख पड़ने वाले भाग में दिन का उदय माना जा सकता है। यों उदय या अस्त दिन का होता है सूर्य का नही।

तब एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक व्यतीत होने वाले समय के विभाजन की रीति बताई जाती। एक विशेष माप की हंडिया (घटी) में नीचे विशेष माप का छेद दिया जाता और उसे पानी पर छोड़ दिया जाता। वह अन्दर भरते पानी से भरती जाती और जितने समय मे वह हंडिया भर जाती उसे 'घड़ी भर' समय बताया जाता। वह घड़ी साठ बार भरे उतने समय में अहोरात्र का चक्र पूरा होता था अर्थात् एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक का समय था साठ घडी भर। उस घड़ी भर समय की भी विभक्ति आवश्यक थी। अतः उसके भी 60 प्रभाग किये जाते थे जो पल कहलाते थे। उनके लिए छोटे आकार के 60 कलश लिये जाते और उनमे घड़ी का पानी बराबर-बराबर भरा जाता। तब उनके अवरुद्ध छिद्रों को एक-एक करके खोला जाता और यों साठ कलश खाली होने पर पूरी एक हंडिया का पानी बह जाता। फिर पल का साठवां अंश विपल माना गया और उसका भी साठवां अंश अनुपल। इनकी आवश्यकता केवल गणना में होती थी, दैनंदिन जीवन मे नही। पर पल तक का विभाजन दैनंदिन जीवन का अंग था। पलक झपकने के समय को भी पल कहा जाता था। यों नये छात्र को ज्ञात हो जाता था कि पृथ्वी पर प्रचलित काल विभाजन पृथ्वी के अपने अक्ष पर काटे गये चक्कर के आधार पर है। दूसरा विभजन पृथ्वी द्वारा सूर्य परिक्रमा पर आधारित है। आकाश मंडल में वृष राशि से आरंभ कर पुनः वृष राशि तक पहुंचने की काल मात्रा मूलतः वर्ष थी—वृष पर आधारित होने के कारण। बारह राशियों की क्रमिक परिक्रमा मास विभाजन का आधार थी। मास विभाजन का एक अन्य

आधार चन्द्र मूलक था। जब आकाश मे सूर्य-चद्र दोनों एक राशि पर प्रतीत हों तब अमावस्या होती है, जब विपरीत राशियो पर हो तब पूर्णिमा। यों अमा मे अमा पर्यन्त के भी मास बने, पूर्णिमा से पूर्णिमा पर्यन्त के भी। पर बारह अमाएं 354 दिनों में ही पूरी हो जाती हैं अतः चांद्र वर्ष 354 दिन का ही हुआ। सौर वर्ष 365 दिन से कुछ अधिक हुआ। दोनों के बीच 360 दिन की अवधि को सावन वर्ष स्वीकार करना अधिक सुकर प्रतीत होता था। यो सौर वर्ष, चांद्र वर्ष और सावन वर्ष बनते थे। इनमे समन्वय भी किया जाता था। अधिक मास बनाये जाते थे। यह सब जानकारी नये छात्र को आरभ में ही दी जाती थी। यो वह 360° रेखांशों का रहस्य समझ पाता था।

इन नये छात्रों को एक और कार्य भार सौंपा जाता था। वह था पानी पर रखी घड़ियों के भरने का ध्यान रखना। ज्यों ही घडी भरे त्यों ही वे सबको सूचना देते थे। फिर दूसरी-तीसरी आदि घडियो के भरने की सूचना देते थे। दो-दो छात्र साढ़े सात घडियां भरने तक नियुक्त रहते थे। तब दूसरे दो छात्र आते थे। दिन में कुल आठ जोड़े छात्र यह काम करते थे। ये छात्र अपनी अवधि पूरी होने पर घडियाल पर जोर से प्रहार करते थे। आठ बार प्रहार करना 'गजर' कहलाता था। 'गज' का अर्थ आठ होता है। प्रहार करने वाला व्यक्ति प्रहरी कहलाता था। उसकी कार्यावधि 'प्रहर' कह लाती थी। इस प्रहर का ही एक पर्याय 'याम' भी था। 'अहोरात्र' आठ यामों या प्रहरों में विभक्त होता था। एक साथ दो प्रहरी' रखे जाते थे। अतः जोड़ा 'यम' कहलाता था। वह यम जितनी अवधि तक काम करे वह 'याम'। दो में से एक प्रहरी का कर्त्तव्य तो केवल घडी का ध्यान रखना होता था पर दूसरे का कर्त्तव्य था आकाशचारियों की गति को अभिलिखित करते जाना। इस अभिलेखन से इस बात की पुष्टि की जाती थी कि आकाशस्थ ब्रह्म-चारियो के विषय मे जो सूचनाएं पूर्व संगृहीत हैं, उनमे कही संशोधन तो अपेक्षित नहीं। पर संशोधन का निर्णय 'ब्रह्मा' के स्तर पर ही होता था, बीच में, कहीं किसी स्तर पर नहीं।

जो प्रहरी-यम भगवती वसुंधरा के पास घडी लेकर बैठते थे, वे अपने-अपने याम में क्या-क्या करें, यह निर्धारित होता था। केवल वसुंधरा गोलक को देखते जाना या आकाशस्थ पिंडों को देखते जाना बडा ही नीरस कर्म है अतः उसे सरस बनाये रखने के लिए उनके पास पुष्पों का ढेर रखा होता था। वे प्रत्येक याम के अनुरूप पुष्पों का चय करते रहते थे; तदनुरूप विधि से गंधाक्षतादि द्वारा अर्चना अर्पणा करते रहते थे। पृथ्वी गोलक अपने अक्ष पर घूमता रहता था और छात्र अपनी पूजा मे निरत रहता था। वह अपनी स्तुतियां यामानुकूल राग-रागनियों में गाता जाता था। नीरस कर्म को सरस बनाए रखता था। इन प्रहरी यमों को रेखांशों की गणना करते हुए वर्ष के दिनों की गणना करनी होती थी। ये रेखांश

रस्मियों मे—गुणो से—बने होते थे। ऋतु-गणना के लिए अक्षांशों की द्योतक रस्मियों का ध्यान रखना होता था। इनमे दस रस्मियां या दस गुण प्रमुख थे। सात रस्सिया वे जो छ: ऋतुओं को व्यक्त करती थी और तीन वे जो क्रमशः 0° तथा 180° रेखांश को एवं 90° पूर्व के तथा पश्चिम के रेखांश को व्यक्त करती थी। कुछ लोग इन तीन याम्योत्तर गुणों को ही महत्त्व देते थे, कुछ दसों गुणो को समान महत्त्व देते थे।

वर्ष मे चार बार अक्षवाट का पूरा गुरु-शिष्य समुदाय एकत्र होता था। उन अवसरों पर ब्रह्मा से नीचे स्तर के गुरु जन शास्त्रार्थ करते थे अर्थात् अपने-अपने ज्ञान के अनुरूप विवेचन करते थे। विगत अवधि मे हुई अपनी उपलब्धियों का लेखा जोखा लेते थे। उनमे से कोई कहता हमारे इस कार्यक्रम मे सबसे अधिक महत्त्व दस गुणो का है। कोई कहता—आठ या नौ रस्मियों का है। कोई कहता—महत्त्व तो राग-रागनियों का है। कोई कहता—नहीं, वह तो घंटादि की ध्वनियों का है। कोई कहता—नही, सबसे अधिक महत्त्व तो इस बात का है कि आकाश चारी चलते किस मार्ग पर हैं, किस रीति पर हैं। कोई कहता—नहीं, वह तो इस बात का है कि आपके अपनी बात कहने मे वैचित्र्य कितना है। ये लिपटी रस्सियां, या गुण तो केवल वृत्तियां है केवल घेरा बनाती हैं, इन से ज्ञान का उदय थोड़े ही हो सकता है। कोई कहता—हमारे लिए तो महत्त्व भगवती वसुंधरा का है। हम तो उसी पर रहते हैं। कोई कहता—नही, वह तो सूर्य की संकर्षण शक्ति से अपनी कक्षा मे टिकी परिक्रमा करती रहती है। कोई कहता—उसका मुख तो चन्द्र है। चंद्र के बिना सब अंधकार है। कृष्ण चंद्र ही उपास्य है। यों सूर्य के समर्थक अपने पक्ष को प्रस्तुत करते थे, चंद्र के समर्थक अपने पक्ष को, भगवती वसुन्धरा के समर्थक अपने पक्ष को प्रस्तुत करते थे। पर यह सब केवल शास्त्र चर्चा थी। परस्पर रागद्वेष जैसी कोई चीज नही होती थी। ब्रह्मा उन वक्ताओं के वाग्वैदग्ध्य की परीक्षा करके उन्हें पुरस्कार देता था। कभी चंद्र समर्थक पुरस्कार पाता था; कभी भगवती समर्थक; कभी सूर्य समर्थक पाता था, कभी ब्रह्माण्ड समर्थक; कभी ब्रह्म ज्ञान समर्थक पाता था, कभी वैराग्य समर्थक; कभी भक्ति समर्थक पाता था, कभी भजन-समर्थक। पर इन में परस्पर किसी प्रकार का मनोमालिन्य नही होता था। परस्पर एक दूसरे को ज्ञान का संप्रदान करते रहते थे। अतः जिस अलग-अलग ज्ञान का सप्रदान होता था वह संप्रदाय कहलाता था। ये संप्रदाय परस्पर लडने के लिए नही बनते थे; परस्पर ज्ञान का अदान-प्रदान, संवर्धन-परिवर्धन करने के लिए बनते थे।

अक्षवाटों की अनुकृति पर जब उनकी अनुकृतियां छोटे पर्वत शृंगों पर आयीं, मलयों पर आयी, तो मलय (मलै) बने। ये भी पर्वत शृंगो पर होते थे पर छोटे होते थे और कम उंचाई पर होते थे। वहां तक नगरों के नागरिक भी जाते थे।

नगर भी तो पर्वत श्रृंगों पर ही बनते थे। नग पर बनने से ही वे नगर कहलाते थे। समतल भूमि वाले तो ऊर कहलाते थे। पर अधिक बस्तियां ऊरों में, ग्रामों में, पल्लियों मे, धानियों मे होती थी, खेटों-खर्वटों मे होती थी। अधिक जिज्ञासु जन तो नगरों में जाकर शास्त्रार्थ देख लेते थे, पूर्चे देख लेते थे, पर सब के लिए तो यह संभव नही था। फलतः ऊरों में, ग्रामों मे भी शिखराकृति कृत्रिम मलै बनने लगे। उनमें भी वही पूजा विधान चलता; वही शास्त्रार्थ होते; वही मृदंग, पणवानक, गोमुख वजते; वही स्तुतिगान होते; वही कवन कर्म होते; वही प्रसाद वितरण होता। अच्छे विद्वान् पुजारी रखे जाते। ये पुजारी प्रायः अक्षवाटों से सीधे ज्ञान प्राप्त करके आते थे। जहां ऐसे पुजारी दुर्लभ थे वहां नगरों से आते थे। जहां वे भी दुर्लभ थे वहां ऊरों के मंदिरो में ही वर्षों का अनुभव रखने वाले पुजारियों से काम चलाया जाता। यह क्रम द्रविड भूमि से उत्तर को वढ़ा। कर्णाटक-आन्ध्र भूमि मे गया, महाराष्ट्र-गुर्जर भूमि में गया; उत्कल-अंग-वंग-कलिंग गया, कामरूप-प्राग्ज्योतिप गया; मूतों-नागों विद्याधरों-गंधर्वों-किन्नरों-यक्षों-सिद्धों की भूमि में गया, मध्यदेश में गया; मरुस्थल-घन्वस्थल गया; उदीच्य में केकय-गधार-आश्वकायन-कम्वोज-आर्यान्-शकस्थान गया, पश्चिम में सिन्धु-पुलिंदक-शूद्रक भूमि में गया। इस ज्ञान का सर्वत्र प्रचार-प्रसार-विस्तार हुआ। कोई तीन-चार सहस्र वर्ष तक यह सब ज्ञान-विस्तार का कार्य क्रम चला लगता है।

पर विक्रम से कोई पौने तीन सौ वर्ष पूर्व यवनान के निवासियों को सूचना मिली कि भारत की भूमि का प्रत्येक नागरिक पुजारी बन गया है। उसकी रुचि युद्ध कर्म मे रच मात्र नही रह गयी है। वह तो दिन में भी बैठा तारे देखता है और गिनता रहता है। तारे देखने की उसने एक नई विधि निकाल ली है। वह घन्वस्थल के गभीर कूपों वापियों में नीचे उतर जाता है जहां से दिन मे भी तारे दिखाई देते हैं। बस वह उन तारों को देखता रहता है; ब्रह्म विद्या का अध्ययन कर जीवन सार्थक करता रहता है। अतः दिग्वजय का ऐसा सुअवसर बार-बार नही आना। उन्होंने आक्रमण कर दिया। पारसीक-आर्यान् ध्वस्त हुआ; गंधार-आश्वकायन पद दलित हुआ; केकय-मद्र धूलि-धूसर हुआ। थोड़ा बहुत लोहा लिया तो शूद्रकों-भद्रकों ने। ये लोग सामने आये तो यवन भाग गये।

पर भागते-भागते भी उन्होने भारत के पुजारियों को संदेह की दोला पर आरूढ कर दिया। उन्होंने कहा तुम लोग बेकार पूजा-अर्चना में समय नष्ट करते हो। सूर्य, चंद्र, मंगल आदि का जो लाभ उठा सकते हो वह तो उठाते नहीं, उठाना जानते ही नहीं। हमारे यहां तो भविष्यवक्ता होते हैं। वे वच्चे के जन्म के समय ग्रहों-नक्षत्रों की स्थिति देख कर ही वता देते हैं कि वच्चे का भविष्य क्या होगा। वह राजा बनेगा या रंक। सिकंदर के गुरु ने बता दिया था कि वह दिग्विजयी बनेगा पर अल्पायु भी होगा। देख लो हुआ भी यही। तुम लोगों के ये

पुजारी चंद्र-सूर्य का क्या लाभ उठाते हैं। ये तो भविष्य-कथन जानते ही नहीं। यह बात सच थी। यवनों के पास चमत्कार था। भविष्य-कथन जानते थे। जातक-पत्र बनाते थे। बस हमारे सब पुजारी बनने लगे यवन-शिष्य। गाने लगे उनके गीत-यवना ऋषिवत् पूज्याः शास्त्रं तेषु प्रतिष्ठितम्। उन्होंने विपल-अनुपल तक की शुद्धि वाली अपनी गणना छोड़ दी और घंटों की भूल वाली स्वीकार कर ली। मान लिया कि पृथ्वी स्थिर है, सूर्य फिरता है मारा-मारा। अक्षवाटों को शिष्य मिलने बंद हो गये। वे खंडहर हो गये। नगरो-ऊरी के मंदिरों में केवल घंटे-घड़ियाल और पूजा विधियां रह गयी। शास्त्र-ज्ञान का संपूर्ण आग्रह समाप्त हो गया। ज्ञान की सपूर्ण परंपरा नष्ट हो गयी। हमें यह संपूर्ण सूचना एकत्र करने के लिए अनेक पुराण पढ़ने पड़े हैं। तब कही कुछ पल्ले पड़ा है। यह ठीक ही कहा है कि

इतिहासपुराणानां पंचमो वेद उच्यते।'

वैदिक वाङ्मय पर दिव्यदृष्टि

विगत अध्याय में द्रविड देश में हुए ज्ञान के विकास पर विचार किया गया था। वहां यह भी बताया गया था कि उच्च पर्वत शृगो पर बने अक्षवाटो में किस प्रकार ज्ञान का विकास हुआ। फिर अल्प उच्छ्राय वाले शृगो पर बसे नगरों मे अक्षवाटों की अनुकृति-स्वरूप मंदिरों का निर्माण किस प्रकार आरंभ हुआ। इन मंदिरों की अनुकृतियां किस प्रकार समतल भूमि के मंदिरों मे परिणत हुईं। किस प्रकार पूजा विधियां अनुकृत होती गयीं। किस प्रकार उदीच्य तक ज्ञान का प्रकाश विस्तीर्ण-व्याप्त हुआ। क्वचित् यह बताया गया है कि समग्र भारत भूमि का अध्येता छात्र ज्ञानार्जन के लिए कश्मीर की भूमि में जाता था। यह सत्य है पर यह मध्यकाल की बात है। जैसे परवर्ती काल मे विद्या केन्द्र काशीपुरी में चला गया उसी प्रकार आदि काल में वह केन्द्र द्रविड देश के अक्षवाटों मे था। ज्ञान पिपासु उदीच्य वासी छात्र शिक्षा ग्रहण करने द्रविड अक्षवाटों मे आता था। उसकी सुविधा के लिए उस ज्ञान का प्रकटीकरण उदीच्य भाषा मे भी किया जाना आवश्यक प्रतीत हुआ। उदीच्य के छात्र प्राच्य भूमि और अवाच्य भूमि में आकर ज्ञान प्राप्त करते थे। पर साथ ही वे उदीच्य भूमि जाकर यह सूचना भी देते थे कि प्राच्य और अवाच्य भूमि का नागरिक केवल ज्ञानार्जन में संलग्न रहता है। वह युद्धादि से सर्वथा विरत रहता है। उसे भौतिक जीवन की सुविधाएं भी सरलता से उपलब्ध है। फलतः सुविधा लोलुप उदीच्य वासी ने शस्त्र-सन्नद्ध होकर ज्ञान-पिपासुओं पर आक्रमण किये। पर उनके स्वभाव को देख चकित रह गया। उसे तो स्पष्ट निमंत्रण मिल गया था समग्र भारत भूमि में भ्रातृवत् बस जाने का। बसने भी लगे वे लोग और उदीच्य वासियों से संबंध बनाये रखने के लिए अपने बच्चो को उदीच्य की भाषा सीखने भेजने भी लगे। यों उदीच्य और शेष भारत के बीच ज्ञान का आदान-प्रदान भी हुआ। उदीच्य रावी के उत्तर-पश्चिम का क्षेत्र था। शेष भारत उनकी दृष्टि में प्राच्य था। अन्य दृष्टि से वह

प्राच्य और अवाच्य में विभक्त हो सकता था। पर देश का नागरिक विभक्त होने को आतुर नहीं था। वह तो सह-निवास का ही प्रेमी था। भक्ति तो वह केवल अक्षवाटों के लिंगों की करता था। फिर भी प्राच्य और उदीच्य की भाषाओं का भेद थोड़ा बाधक था। अतः दोनों के व्याकरण बनाये गये और परस्पर अवबोध सुकर बनाया गया। उदीच्य भाषा का प्रथम व्याकरण इन्द्र (उदीच्य नरेश) की प्रार्थना पर द्रविड विद्वान् महेश्वर ने बनाया जो ऐन्द्र व्याकरण कहलाया। द्रविड भाषा का व्याकरण महर्षि अगस्त्य ने बनाया। वह 'अगस्तिदम्' नाम से ख्यात हुआ। हां, इन दोनों भाषाओं में सुव्यक्त अन्तर था। इस भाषा भेद की विभाजक रेखा गर्वी (शरावती) नदी थी। इसके विषय में कहा जाता था—

प्रागुदंची विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिध्द्यर्थं सा नो पातु शरावती॥

जो शरावती प्राच्य और उदीच्य का विभाजन उसी प्रकार करती है जिस प्रकार हंस उदक और क्षीर का, वह शरावती विद्वानों को प्राच्य और उदीच्य के शब्दों का परस्पर ज्ञान कराने में सहायक हो। यों अक्षवाटों के ज्ञान का प्रकाशन उदीच्य भाषा में भी होने लगा और फिर ऐसा समय आया जब ज्ञान प्रकाशन का माध्यम केवल उदीच्य भाषा ही बन गयी। अवश्य ज्ञान का कुछ उदीच्य रूपान्तर स्वयं उदीच्यों ने किया, कुछ प्राच्यों ने करके दिया। उदीच्यों का रूपान्तर उदात्तानुदात्त सयुक्त वेदवाणी में हुआ। प्राच्यों का रूपान्तर स्वरहीन लोकभाषा में हुआ जो अन्यथा तो व्याकरण के अनुरूप थी पर जिसमें उदात्तादि का भेद लुप्त हो चुका था। स्वर संयुक्ता भाषा का नमूना प्रस्तुत करने वाले चार वेद और कुछ ब्राह्मण ग्रंथ आज उपलब्ध हैं। स्वर हीन भाषा के रामायण-महाभारत और पुराण हैं। परवर्ती बहुत सारा साहित्य इन्हीं पर आधारित है।

इस अध्याय में विवेच्य है वैदिक वाङ्मय। अन्यत्र प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द नामक प्रमाणों की चर्चा हुई है। वेद सबसे बड़े शब्द प्रमाण माने जाते रहे हैं—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

यह सायण विरचित कृष्ण यजुर्वेद भाष्य की भूमिका से उद्धृत श्लोक है। सायण मानते हैं कि प्रत्यक्ष प्रथम प्रमाण है। जहां उसकी सभावना न हो वहां अनुमान प्रमाण का उपयोग किया जाए। पर इन दोनों से काम न चले वहां वेद को—पूर्वजों के संचित ज्ञान को—प्रमाण मान लिया जाए। यही वेद की वेदता है। 'वेद' शब्द आद्युदात्त भी है, अन्तोदात्त भी। वह हमारा यहां अभीष्ट अर्थ तभी देता है जब आद्युदात्त हो। हम उसी की यहां चर्चा करेंगे। अन्तोदात्त होने पर

उसका अर्थ 'कुशमुष्टि' होता था, यह आज बहुत कम लोग जानते हैं। वस्तुतः जब भाषा में उदात्त स्वर ही नहीं रहा तो यह भेद कहां तक लोगों को याद रहता। हमारा विवेच्य वेद दो रूपों मे उपलब्ध है : मंत्र रूप में और ब्राह्मण रूप मे। बौधायन अपने गृह्य सूत्र मे 'मंत्रब्राह्मणमित्याहुः' कहते है तो आपस्तम्ब 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयं' बतलाते हैं। वेदों की संख्या चार बतायी गयी है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। छन्दोबद्ध मत्रो को ऋचा कहते हैं। छन्दोहीन गद्यात्मक मन्त्रों को 'यजुष्' कहते है। ऋचाओ मे जो गीयमान अंश है उसे साम कहते हैं। अथर्वांगिरस मंत्र भी छंदोबद्ध ऋचाएं ही है। ऋग्वेद ऋग्बहुल है, यजुर्वेद यजुर्बहुल, सामवेद सामबहुल और अथर्वांगिरस मंत्रबहुल अथर्ववेद है। यदि केवल ऋक्, यजुष् आदि शब्दों का प्रयोग हो तो केवल मत्र अभीष्ट होंगे। यदि ऋग्वेद-यजुर्वेद आदि कहा जाए तो तत् तत् ब्राह्मण भी समाविष्ट होंगे।

ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यक है। वन में जीवन-यापन करने वाले वानप्रस्थों के कर्मो और नियमों का उल्लेख आरण्यकों में है। आरण्यकों की कुल संख्या 1130 बताई जाती है पर आज केवल आठ उपलब्ध हैं—ऐतरेय, शांखायन, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, माध्यंदिन बृहदारण्यक, काण्व बृहदारण्यक, जैमिनीयोपनिषदारण्यक और छान्दोग्यारण्यक।

आरण्यको के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। इनकी संख्या तो विशाल है; पर ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्ड, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर आदि ग्यारह प्रमुख हैं।

वैदिक वाङ्मय अनेक शाखा-प्रशाखाओं मे विभक्त था। यजुर्वेद की सौ शाखाएं थी, सामवेद सहस्रवर्त्मा था, ऋग्वेद एकविंशतिधा विभक्त था। अथर्ववेद नवधा विभक्त था। यह आचार्य पतंजलि का कथन है—एकशतमध्वर्यु शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधावाह्वृच्यम्, नवधा आथर्वणो वेदः।

पर आज तो बहुत कम वाङ्मय उपलब्ध है। ऋग्वेद की केवल चार शाखाएं उपलब्ध हैं, सत्रह लुप्त हो गयी। वे चार हैं—शाकली, आश्वलायनी, शांखायनी और बाष्कली। पर वे भी अपूर्ण। आज ऋक् संहिता की केवल शाकली शाखा उपलब्ध है। इसे या तो 10 मंडलों, 85 अनुवाकों और 1028 सूक्तों में विभक्त करते हैं; या 8 अष्टकों, 64 अध्यायों और 2008 वर्गों मे। कुल उपलब्ध ऋचाएं 10580 हैं। मंडलों वाली शाकली संहिता कहलाती है; अष्टकों वाली बाष्कली। शाकली संहता का ब्राह्मण उपलब्ध नहीं है। आश्वलायनी शाखा का ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यक उपलब्ध हैं, यद्यपि उसकी संहिता नही

है। शाखायनी शाखा का केवल शांखायन ब्राह्मण उपलब्ध है। क्वचित् पद्धति ग्रंथों मे वाष्कली संहिता के कुछ मन्त्र मिल जाते हैं। यों ऋग्वेद की शाकली संहिता और ऐतरेय तथा शांखायन ब्राह्मण उपलब्ध हैं। शेष वाङ्मय लुप्त है।

यजुर्वेद के एक आचार्य वैशम्पायन थे। उन्होंने शिष्यों से कहा कि मेरे लिए व्रत करो। स्वाभिमानी शिष्य याज्ञवल्क्य बोला—ये बेचारे क्या व्रत करेंगे। मैं ही कर लूगा। गुरु को इसमे गर्व की गंध प्रतीत हुई। उसने कहा कि मुझ से जो कुछ पढ़ा है, उसे उगल दे। स्वाभिमानी शिष्य ने उगल दिया। फिर स्वयं भगवान् आदित्य की तपस्या करके प्रवुद्ध बन गया। उसने अपनी पाठशाला अलग कर ली। उसका शुक्ल यजुर्वेद बना। वाजसनेयी संहिता कहलायी। माध्यन्दिनी शाखा बनी। उसके उद्वान्त ज्ञान को जिन वैशम्पायन शिष्यों ने तीतर बन कर चुग लिया उनकी तैत्तिरीय शाखा हो गयी। यों एक कृष्ण यजुर्वेद बना। उसकी तीन शाखाएं उपलब्ध हैं . तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठ। उनमें मंत्र और ब्राह्मण घुल मिल गये हैं। पहले मंत्र हैं, फिर प्रपाठक रूप मे ब्राह्मण है। कहीं अलग प्रपाठक है, कहीं अलग काण्ड हैं। तैत्तिरीय शाखा मे संहिता और ब्राह्मण यों दो भाग तो मिलते हैं पर गड्डमड्ड। ब्राह्मणों में मंत्र भरे हैं तो संहिता मे ब्राह्मण भाग भी हैं। बस जिसमें मंत्र अधिक हैं उसे संहिता कह देते हैं, जिसमे ब्राह्मण अधिक हैं उसे ब्राह्मण कह देते हैं। सात काण्ड संहिता के है; तीन काण्ड ब्राह्मणों के। मैत्रायणी और कठ शाखा की तो केवल संहिताएं उपलब्ध हैं।

दूसरे अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएं हैं—काण्वी और माध्यन्दिनी। दोनों ही का शतपथ ब्राह्मण उपलब्ध है। माध्यन्दिनी के चौदह काण्ड है, 108 प्रपाठक हैं, 436 ब्राह्मण है, 7179 कंडिकाएं हैं। काण्व के सत्रह काण्ड हैं, 104 अध्याय हैं, 435 ब्राह्मण हैं, 6806 कडिकाएं हैं।

सामवेद की सहस्रों शाखाओं में से केवल तीन उपलब्ध हैं—कौथुमी, जैमिनी और राणायनी। 1824 मंत्र है। छन्दः संहिता और उत्तर संहिता नामक दो भाग हैं। इन्हे पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक भी कहते हैं। सामवेद के आठ ब्राह्मण उपलब्ध हैं। कौथुमी संहिता के ब्राह्मण 40 अध्यायो मे विभक्त है। पहले 25 अध्याय ताण्ड्य ब्राह्मण कहलाते हैं। 26 से 30 तक के अध्याय षड्विंश कहलाते है। 31-32 अध्याय मंत्र संज्ञक हैं। शेष आठ छान्दोग्य नाम से अभिहित है। जैमिनीय शाखा के दो ब्राह्मण हैं, जैमिनीय ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण। राणायनी संहिता का कोई ब्राह्मण उपलब्ध नही है।

अथर्ववेद की दो संहिताएं उपलब्ध हैं—पैप्पलाद संहिता और शौनक संहिता। शौनक संहिता मे बीस काण्ड हैं, 759 सूक्त हैं, 5977 मंत्र हैं। गोपथ नामक केवल एक ब्राह्मण उपलब्ध है। बौधायन, आपस्तम्ब आदि के सूत्रों और महाभारत आदि ग्रंथों में पैंगायनी, शैलाली, शाट्यायनि, काठक, मैत्रायणी,

जावाल, खाण्डिकेय, हारिद्रविक, कंकाति, गालव, माल्लवि, शाठ्यायन, रोरुकी, तुंबुरु, सौलभ, पराशर, भाषाशरावि, कापेय आदि अनेक ब्राह्मणों के उल्लेख हैं पर वे उपलब्ध नही है।

यों कितना विशाल वाङ्मय था वेदों का, जिसका शतांश भी आज उपलब्ध नही। मान लीजिए आज से पांच सौ वर्ष पश्चात् भारत के सांप्रतिक संविधान की प्रति के सात-आठ पृष्ठ किसी को मिलें जिनमे संविधान के 22 भागों, 395 अनुच्छेदों और दस अनुसूचियों के खडित अंश हों तो उनसे क्या सविधान के स्वरूप की कुछ जानकारी मिलेगी ? क्या उसकी भावना, उसके वर्ण्य, उद्देश्य और विधेय का कुछ आभास हो सकेगा ? हमें तो कोई आशा है नही। वही स्थिति है वैदिक वाङ्मय को समझने की। इसीलिए हमारे तो परिवार मे वैदिक संहिताओं के मंत्रों के अर्थ पर विचार करने का यत्न ही अनुचित माना जाता था। बिना प्रसंग और उद्देश्य को जाने अर्थ का यत्न भ्रान्तिकारी हो सकता है। सर्वथा विपरीत अर्थ का बोधक हो सकता है। अत: उनके अर्थों के चक्कर में न पड़ा जाए, न पड़ा जाए, न पड़ा जाए। यही आग्रह हमें सदा सुनने को मिला। यही आग्रह हमारा भी है।

यदि उन्हें आत्मपूर्ण वाक्य मानें तब भी उन्हें समझने से पूर्व जो शर्तें पूरी होनी चाहिए उन्हें भी तो पूरा कर सकना आज सर्वथा असंभव है। वेदार्थ के प्रयत्न मे प्रवृत्त होने से पूर्व आवश्यक है छः वेदांगो की जानकारी। उन्हे जाने बिना न वेदो का अध्ययन-मनन संभव है, न बोध—षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। खेद इस बात का है कि जिन्हें छः अंगो के नाम तक ज्ञात नहीं वे सीधे ही वेदों के अर्थ करने के लिए प्रवृत्त हो जाते है। उनमें आज की समस्याओं के समाधान ढूढने लगते है। कोई कहता है उनमें सती प्रथा का समर्थन था; कोई कहता है उसका निषेध था। कोई कहता है विधवा विवाह का विधान था; कोई कहता है निषेध था। कोई कहता है जन्मना वर्ण विभाजन का उल्लेख था; कोई कहता है कर्मणा वर्ण विभाजन विहित था। तीसरा कहता है वर्ण विभाजन ही नहीं था। चौथा कहता है पाच-सात वर्णों का उल्लेख था। कोई कहता है संसार भर के मानवों का काले, गौरे, लाल और पीले में विभाजन था। कोई कहता है केवल हिन्दुओं के वर्णों का उल्लेख था। कोई कहता है पांचवा वर्ण अन्त्यजों का था; कोई कहता है चाण्डालों का छठा वर्ण भी था। हमारा तो कर-बद्ध निवेदन है कि आपको जो मानना हो मानिये, जो सिद्ध करना हो कीजिए पर इस झमेले में इन पूज्य ग्रंथों को मत घसीटिए। लोग कहते हैं स्त्रियों के और शूद्रों लिए इस ज्ञान का निषेध करके ब्राह्मणों ने घोर अन्याय किया। पर मित्रो, विश्वास कीजिए जिन ब्राह्मणों के लिए आप समझते हैं कि उन्होंने कमरे में छिपकर अकेले अकेले मोदक भक्षण किया, उनका भी उदर खाली है। कुछ नहीं है उनके पास। उन्हें तो यह भी ज्ञात

नहीं है कि जिस पाकशाला में वे मोदक धरे हैं उसके आगे लगे छः तालों की कुंजियां किस के पास है और वह पाकशाला कहां है। उन्हें तो यह भी विदित नहीं कि जिनके कारण वे ब्राह्मण कहलाते हैं, वे ब्राह्मण कौन हैं? उनका सोम नाम का राजा कौन है? 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' पढ़ तो सब लेते हैं पर इस बात पर कितने ध्यान देते हैं कि यह 'राजा' हम भूदेवों का नहीं, आकाशचारी देवों का है, तारक पिंडों का है। वे यही कहते हैं कि पृथ्वी के अल्पज्ञों को 'सोम' हमारा राजा लगता है। कूप मण्डूकों को और क्या लगेगा। तो असली ब्राह्मण तो वे हैं, जो 'ब्रह्म' में विचरण करने वाले ब्रह्मचारी हैं। अर्थात् जो 'आकाश' मे विचरण करते हैं। 'आकाश' तत्त्व ही ब्रह्म तत्त्व है। उसमें विचरण करने वाले ही ब्रह्मचारी हैं। वे ही ब्राह्मण हैं। उनका अध्ययन ही 'ब्रह्मविद्या' है। उनका अध्येता ही ब्रह्मविद् है। जो भूदेव उन्हीं की चर्चा में लगे रहते थे वे भी ब्राह्मण, ब्रह्मचारी या ब्रह्मविद् कहलाने लगे। उन ब्रह्मवादियों का उल्लेख कितने ब्राह्मणों ने पढ़ा है जो यह चिन्ता करते थे कि सावन वर्ष जब 360 दिन का है और चांद्र वर्ष केवल 354 दिन का तो क्या हम वार्षिक यज्ञ की अवधि के लिए वर्ष के आधे मासों मे एक-एक दिन छोड़ कर वर्ष की दिन संख्या 354 ही कर लें—अहरुत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः। ये ब्रह्मवादी गणक ज्योतिषी नहीं हैं क्या? पर वह 'ब्रह्म' तो वेदान्तियों की शब्द माया के जाल मे ऐसा फंसा है कि उसे पहचानना ही दुर्लभ हो गया है। किसी ज्योतिषी को ब्रह्मज्ञानी या ब्रह्मविद कह देता हूं तो वह गले पड़ जाता है। कहता है—मित्र, क्यों मेरे परिवार से रुष्ट हो। पल जाने दो उसे। मैं ब्रह्मज्ञानी बन कर निकल गया अनन्त शक्ति की खोज मे तो मेरे परिवार का क्या होगा? वह यह मानने को तैयार ही नहीं होता कि वह ब्रह्मवादी है, वह ब्रह्मचारी है। 'ब्रह्मचारी' शब्द तो सुनते ही वह लाठी उठाता है और कहता है—मेरी पतिव्रता पर लांछन लगाते हो जिसने चार-चार पुत्र रत्न उत्पन्न किये हैं जो मुझे बिना किसी अन्य की सहायता के कंधा दे सकेंगे।

अस्तु, प्रसंग था वेदांगों का, उसी मे विषयान्तर हो गया पर यह स्पष्ट करना भी आवश्यक था कि सृष्टि का मूल तत्त्व ब्रह्म आकाश ही है और उसमे स्थित तारों का अध्ययन करने वाला एक शास्त्र है ज्योतिष जिसे पहले ब्रह्मविद्या कहा जाता था। उसी से संपूर्ण ज्ञान का उदय हुआ। अब आते हैं मूल विषय पर। वेदांग छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। इन छहों का सर्वांगपूर्ण ज्ञान वेदार्थ के बोध से पूर्व आवश्यक है और आज दशा यह है कि इन अंगों का काम चलाऊ भी ज्ञान करा सकने वाले ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। अतः यदि कोई उनका ज्ञान पाने का इच्छुक भी हो, लंगोट कसकर दिन-रात एक ही कर्म में प्रवृत्त होने को सन्नद्ध भी हो जाए; तो भी उसे सफलता कैसे मिलेगी, बिना ग्रंथों के।

कितनी स्वल्प सामग्री आज सुलभ है, उसका संक्षिप्त सा सर्वेक्षण अनुचित नहीं होगा।

पहला वेदांग है शिक्षा। वेद का अर्थ समझने से पूर्व 'शिक्षा' का परिपूर्ण अध्ययन आवश्यक है। भाषाविद् जानते हैं कि उच्चारण में स्वर, काकु, आघात आदि का बहुत अधिक महत्त्व होता है। आज की अधिकांश भारतीय भाषाओं में स्वर तथा आघात नहीं हैं। वैदिक संस्कृत में ये सब थे, भरे पड़े थे। इसीलिए वेदों की जो स्वल्प-सी सामग्री बच गयी है उसमें उदात्तादि का निरूपण अक्षरों के ऊपर नीचे चिह्न बना कर किया जाता है। स्वर के रंच से परिवर्तन से कितना अनर्थ हो जाता है इसका उल्लेख शिक्षा ग्रंथों में डिंडिम घोष से होता था। किसी मंत्र में स्वर या वर्ण का रंच सा अभाव हो जाए तो अर्थ ही बदल जाएगा, अपितु विपरीत हो जाएगा। उदाहरण देखिए : 'इंद्रशत्रु' शब्द में स्वर के स्थान भेद से दो अर्थ होते हैं 'इन्द्र का शत्रु' और 'इंद्ररूपीशत्रु'। इन्द्र का शत्रु वृत्र यज्ञ करने बैठा, इंद्र पर विजय पाने के लिए; उससे बढ़ कर बनने के लिए; पर उसके पुरोहित कदाचित् इंद्र से उत्कोच ग्रहण कर चुके थे अतः इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व का ऐसा उच्चारण किया कि उनके वाग्वज्र ने यजमान की ही हत्या कर दी—

मंत्रो हीन: स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
सवाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधात्।

आज की भारतीय भाषाओं में स्वर नहीं है, पर काकु तो है। आलंकारिकों ने एक 'काकुवक्रोक्ति' अलंकार बताया है जिसमें वक्ता एक वाक्य कहता है तो श्रोता 'काकु' से उसका भिन्न अर्थ ग्रहण करके उत्तर देता है। हम परंपरागत उदाहरण नहीं देंगे, वे किसी 'अलंकार' ग्रंथ में मिल जाएंगे। हम एक समयोचित उदाहरण देंगे। 'निर्वाचन हो गया' एक छोटा-सा वाक्य है। पर इसे लिखा देख कर आप यह निश्चय नहीं कर सकते कि यह एक तथ्य-कथन मात्र है, या प्रश्न है, या आश्चर्य प्रकट करता है, या निर्वाचक की वेदना की अभिव्यक्ति करता है, या भावी भयों और आशंकाओं की अभिव्यक्ति करता है, या इस प्रक्रिया की हास्यास्पदता पर व्यंग्य है, या पराजित प्रत्याशी का करुण क्रंदन है। सही विवक्षा आपको तभी समझ में आयेगी जब वक्ता आपके सामने खड़ा बोल रहा हो, काकु आपको श्रुति गोचर हो रही हो और वक्ता के सहचारी अंग संचालन आप को दृष्टि गोचर हो रहे हों।

तो यह है शिक्षा का महत्त्व। बिना उपयुक्त शिक्षा ग्रंथों के वैदिक मंत्रों के अर्थ पर विचार करना सर्वथा बेकार हवा में लाठियां घुमाना है। उससे किसी

अन्य को चोट नही लगती, घुमाने वाले के ही हाथ को झटका लगता है। या यदि लगती है तो पता नही किस प्रियजन को लग जाए। आज नारदीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा जैसी अपूर्ण पुस्तिकाएं मिलती हैं जिनके बल पर संपूर्ण वैदिक वाङ्मय का अर्थ बोध संभव नही है। पर जो कुछ उपलब्ध है, उसे भी देखते कितने लोग हैं ? वेदों को ही सर्वज्ञानसम्पन्न मानने वाले तो देखते नहीं। हां, जो वेदों से दूर रह कर केवल पुराणों मे काम चलाने को तैयार होते हैं, उन्हें मूर्ख अवश्य बताते है। हमें मूर्ख ही रह लेने दीजिए। स्वल्प सी शिक्षा सामग्री और अक्षरो के ऊपर-नीचे लगे चिह्नों के बल पर हम तो अर्थ-उद्घाटन में प्रवृत्त होना उचित नही मान सकते। हम तो उपलब्ध संहिताओं को सस्वर पाठ करने योग्य सामग्री ही मानते हैं। हमे तो उसी से अपार सुख उपलब्ध होता है। जब जीवन में वेदना के विकट क्षण आते हैं तो हम तो मंत्रो का सस्वर पाठ करके ही वेदना को सहन करते हैं। वेदना-निवारण का हमे तो यही उपाय सूझता है कि ध्यान कहीं और लगा लो, वेदना से विरत हो जाओगे।

दूसरा वेदांग है—कल्प। कल्प सूत्रों मे कर्मकाण्डों का निरूपण है। धर्म के समस्त कृत्यों, संस्कारो और अनुष्ठानो का उल्लेख है। इनके तीन भेद हैं—श्रौत, गृह्य और धर्म। श्रौत सूत्रों मे यज्ञ पद्धति का विस्तृत विवेचन है। किस मंत्र का किस प्रसंग मे किस कर्म के समय प्रयोग होता था, इसका विवेचन है। यदि ये पूर्ण उपलब्ध होते तो निश्चय ही इनसे सभी मंत्रो के प्रसंगों का बोध होता। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि पहले तो मंत्र ही बहुत कम उपलब्ध हैं। फिर जो उपलब्ध हैं उनके शतांश के भी सही प्रसगों का उल्लेख करने वाले सूत्र उपलब्ध नही है। केवल आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी के श्रौत सूत्र उपलब्ध हैं पर उनसे आज प्राप्त सभी मंत्रो के प्रसंग और प्रयोग जान सकना असंभव है, गृह्य सूत्रों मे गृहस्थ जीवन के आवश्यक अनुष्ठानों और आचारो का उल्लेख है। षोडश संस्कारो का विस्तृत विवेचन है पर आकाशीय ज्ञान पर प्रकाश डालने वाले सूत्र उपलब्ध नही हैं। आश्वलायन, शांखायन, मनु, बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, पारस्कर और गोभिल के गृह्य सूत्र उपलब्ध हैं पर उनमे गृहस्थ के सामान्य जीवन के दैनंदिन कृत्यों का ही अधिक उल्लेख है। धर्म सूत्रों मे चारों वर्णों और आश्रमो के धर्मों का निरूपण है। इनमे व्यवहार विधि अर्थात् कानून का उल्लेख प्रधान है। कौटुम्बिक संपत्ति के दायाधिकार आदि का तो बहुत ही सूक्ष्म निरूपण हुआ है पर विश्व की सृष्टि और आकाशस्थ पिंडों की चिन्ता उनका विषय-क्षेत्र ही नही था, यद्यपि वेदों का था।

कल्प सूत्रों का आरंभ वैदिक मंत्रों के प्रसंग निरूपण के लिए ही हुआ होगा। श्रौत सूत्रों से यही प्रकट होता है। अर्थ-निरूपण मे प्रसंग का बहुत ही महत्त्व होता है। 'सैन्धवं आनय' की प्रसिद्ध उक्ति से सभी परिचित हैं। शस्त्र, कवच

आदि से सन्नद्ध क्षत्रिय वीर इस वाक्य को बोले तो घोड़ा लाया जाये, भोजन करता ब्राह्मण बोले तो नमक लाया जाए ऐसी सम्मति शास्त्रकार देते रहे है क्योंकि अर्थ का निर्धारण प्रसगानुरूप ही होना चाहिए। हम एक अन्य उदाहरण लेते हैं : मनोरंजन । हम इस शब्द को सुनते हैं तो हमे हमारे प्रिय मित्र मनोरंजन बाबू का स्मरण हो आता है। सरकस देखने के लिए पैसे लेने को मचल रहे लड़के के सामने यह शब्द आग के बीच से कूदते सिंह-व्याघ्र और स्टूल पर बैठे हाथी या रस्सी पर नाचती कन्या का चित्र उपस्थित कर देता है। सिनेमा के टिकट की लाइन मे खडे भावी दर्शक की आंखों के सामने यह शब्द अमिताभ बच्चन या हेमा मालिनी को उपस्थित कर देता है। संगीत प्रेमी के सामने गर्दन हिला हिला कर आ-आ-आ-ऽऽ करता कलाकार आ जाता है या तबले पीटता वादक। नेता के सामने इसी शब्द से अनेक झूठी आशाएं लिए, अपने दुख दर्द सुनाते नागरिक आ जाते हैं; तो कर अधिकारी के सामने सिनेमा घरों की आय के आंकड़े आ जाते हैं। सचमुच अर्थ निर्धारण मे प्रसंग का बडा महत्त्व है पर वेद मंत्रों के सारे प्रसंग बताने वाले कल्प सूत्र आज उपलब्ध नही है।

वेदों का तीसरा अंग है व्याकरण। संस्कृत भाषा के व्याकरणों ने संसार के विद्या प्रेमियों को चकित किया है। हमारी परंपरा के अनुसार तो पाणिनि वर्षोपाध्याय का मंदबुद्धि शिष्य था पर केवल चार सहस्र सूत्रों में संस्कृत भाषा की संपूर्ण कुंजी निहित करके उसने विश्व भर के भाषा शास्त्रियों को चकित किया। परवर्ती सरस्वती कंठाभरण में सूत्र संख्या सात सहस्र हो गयी, चांद्र और सारस्वत आदि अनेक व्याकरणों में वह संख्या काफी कम हो गयी पर फिर भी पाणिनि की व्याकृति-शैली, विश्लेषण-रीति, अक्षुण्ण रही। चांद पर उतर कर लौटने वाले वैज्ञानिकों के देश में भी आज तक पाणिनि जैसा सर्वांगपूर्ण व्याकर्त्ता उत्पन्न नहीं हुआ। इस शताब्द के सातवें दशक का फिलमोर भी ब्लूमफील्ड, चॉम्स्की आदि को भले ही अल्पज्ञ बता दे और आठ कारकों का उपहास करके भले ही चार कारक पर्याप्त बता दे पर भाषा के वास्तविक तत्त्व को तो वह भी नही जान पाया। भाषा में तो कारक-वारक कुछ भी होता नहीं। यह तो वैयाकरण की भाषा शिक्षण की सुविधा पर आश्रित है कि वह भाषा में विद्यमान स्थिति को किस शब्दावली से निरूपित करे। 'कारक' तो क्रिया के साथ संबंध द्योतित करने के लिए बनाया गया शब्द है। किसी शास्त्रकार को दो प्रकार के संबंध बताने मे सुविधा लगे तो वह दो बता सकता है; चार, छः, आठ, दस, बीस या सौ प्रकार के संबंध गिनाने में सुविधा लगे तो वह वैसा कर सकता है। वस्तुत. यह तो उसके द्वारा निर्धारित व्यवस्था पर आश्रित है। वैसे भाषा का वक्ता तो वाक्य बोलता है। वह न तो संज्ञा-क्रिया बोलता है; न कारक-वाच्य आदि बोलता है; न प्रकृति-प्रत्यय बोलता है और न वचन-लिंग ही। ये सब तो शास्त्रकार की कल्पनाएं हैं।

इस विषय में नागेश भट्ट का कथन ध्यान योग्य है। वह कहता है—वाक्य स्फोट ही मुख्य होता है क्योंकि उसी से अर्थ का बोध होता है, उसी से अर्थ की पूर्णता है। पर प्रत्येक वाक्य का संकेतित अर्थ-ग्रहण कठिन होता है और उसका अन्वाख्यान संक्षिप्त रीति से अशक्य होता है इसलिए आचार्य लोग पहले अपनी कल्पना से पद विभाजन करते हैं, फिर अन्वय-व्यतिरेक की रीति से प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन करते हैं जो केवल शास्त्र के विषय होते हैं। वर्ण स्फोट केवल शास्त्र प्रक्रिया के निर्वाह के लिए होता है। प्रकृति प्रत्यय विचार भी उसी प्रक्रिया का अंग है। उपसर्ग-निपात-धातु आदि का विभाजन भी काल्पनिक है। लट्-लोट्-लृट् आदि स्थानी और तिप्-न्ति आदि आदेश केवल कल्पित हैं। अतः यह विचार ही निरर्थक है कि स्थानी वाचक है या आदेश क्योंकि दोनों ही का वाचकत्व कल्पित है—तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यः। तस्यैव लोकेऽर्थ बोधकत्वात् तेनैवार्थसमाप्तेश्चेति। तत्र प्रतिवाक्यं संकेतग्रहासम्भवाद् वाक्यान्वाख्यानस्य लघूपायेनाऽशक्यत्वाच्च कल्पनया पदानि प्रविभज्य, पदे प्रकृतिप्रत्ययभागान् प्रविभज्य कल्पिताभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तदर्थं विभागं शास्त्रमात्रविषयं परिकल्पयन्तिस्मा ऽऽचार्याः। तत्र शास्त्र प्रक्रियानिर्वाहकोवर्णस्फोटः। प्रकृतिप्रत्ययास्तत्तदर्थवाचका एवेति तदर्थः। उपसर्ग-निपात-धात्वादि-विभागोऽपि काल्पनिकः। स्थानिनो लादय आदेशास्तिवादयः कल्पिता एव। एवं च स्थानिनां वाचकत्वमादेशानां वेति विचारो निष्फल एव। कल्पितवाचकस्योभयत्र सत्त्वात्।

ऊपर का संपूर्ण विवेचन यह बताने के लिए किया गया है कि आचार्य लोग यह न समझें कि पाणिनि का इतना अद्भुत व्याकरण होते हुए वेदभाषा की व्याकृति में क्या दुष्करता है। वस्तुतः दुष्करता है क्योंकि पाणिनी का मुख्य लक्ष्य लौकिक भाषा की व्याकृति मात्र था। उसने वेद-भाषा का तो स्पर्श मात्र किया है। यदि उसे उस भाषा का पूर्ण ज्ञान होता और वह उसकी पूर्ण व्याकृति में संलग्न होता तो उसे कदाचित् हजारों सूत्र और बनाने होते, अनेक संज्ञाएं और निर्मित करनी होतीं। अतः उसने लौकिक भाषा का तो सर्वांगपूर्ण व्याकरण बनाया पर वेद-भाषा की ओर अंगुलि निर्देश मात्र किया। हां, उसने उदात्तादि स्वरों का निरूपण अवश्य किया क्योंकि वह स्वयं उदीच्य का वासी था जहां उसके काल में वह भाषा वस्तुतः बोली जाती थी। उस प्रदेश में तो कदाचित् आज भी स्वर-प्रक्रिया विद्यमान है यद्यपि परवर्ती लौकिक संस्कृत में उसका लोप हो गया है। अब तो केवल शास्त्र चर्चा के लिए वह देते है कि 'वेद' शब्द आद्युदात्त हो तभी उसका अर्थ 'ज्ञान' होता है, अन्यथा अन्तोदात्त हो तो उसका अर्थ, 'कुशमुष्टि' होता है। हमने तो किसी के मुंह से कुशमुष्टि के अर्थ वाले 'वेद' शब्द का उच्चारण

सुना नहीं है। जिन्होंने सुना होगा वे वस्तुतः भाग्यशाली हैं। पर इतना स्पष्ट है कि उपलब्ध व्याकरणों की सहायता से वेद भाषा की सम्यक् व्याकृति संभव नहीं है। ऐन्द्र व्याकरण उपलब्ध हो जाए तो कदाचित् कुछ अधिक उपयोगी हो, अधिक प्रकाश डाले। प्रतीक्ष्यं तद्दिनम्।

वैदिक व्याकरण से संबंधित ग्रंथों को प्रातिशाख्य कहा जाता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक शाखा का अपना व्याकरण था। बड़े अवान्तर भेद थे प्रत्येक शाखा में। आज भी बारह कोस पर बोली बदलने की बात कही जाती है। प्रातिशाख्य शाखा-वार व्याकरण थे। ऋग्वेद का शौनक प्रातिशाख्य और यजुर्वेद का कात्यायन प्रातिशाख्य सुविदित हैं। इनमे वर्ण-समाम्नाय, पदविभाग, सधिविच्छेद, स्वर-विचार, सहिता-पाठ और उच्चारण भेद आदि का विवेचन है। पर ये प्रातिशाख्य वेद भाषा के नियमों का बोध कराने मे कम सहायक होते हैं, चक्कर मे डालने में अधिक। उन्हें पढ़ कर अल्पज्ञ बनने से तो अज्ञ रहना ही श्रेयस्कर लगता है। अज्ञ चुपचाप मान तो लेता है—अज्ञः सुखमाराध्यः।

निरुक्त चतुर्थ वेदांग है। वैदिक वाङ्मय जब दुर्बोध होने लगा तब उसके शब्दों का अर्थनिर्धारण करने के लिए पहले शब्दों के संग्रह तैयार किये गये। ऐसे वैदिक शब्द संग्रह 'निघण्टु' नाम से अभिहित हुए। निघटु के शब्दों का विश्लेषण करके उनका निर्वचन करने का प्रयास भी किया गया। इस प्रकार अनेक निरुक्त ग्रंथ बने होंगे। उनसे पूर्व अनेक वैदिक निघंटु भी बने होंगे। निरुक्त में सर्वप्रथम निघण्टु का ही निर्वचन करने का प्रयास किया गया। निघण्टु का संबंध 'निगन्तु' के साथ जोड़ने का यत्न किया गया। यास्क का एक मात्र निरुक्त संप्रति उपलब्ध है। इसका सम्पादन अनेक लोगों ने किया है। महाराष्ट्र के विद्वान् राजवाडे का प्रयत्न बहुत श्लाघ्य है। भिवानी के पं० सीता राम जी शास्त्री का हिन्दी अनुवाद पुराना है। निरुक्त की समीक्षा डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने की थी। डाक्टर साहब में सूक्ष्म विवेचन की अपूर्व क्षमता थी और परिश्रम करने मे तो वैसा व्यक्ति आज ढूंढना ही असंभव है। डाक्टर साहब ने बहुत ही गंभीरता से विवेचन किया है।

डाक्टर वर्मा ने निरुक्त की निरुक्तियो को उनकी उत्कृष्टता के क्रम में विभक्त किया है और उनके विवेचन से स्पष्ट लगता है कि जहां कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति बताते हुए यास्क बहुत ही सिद्ध हस्त निरुक्तिकार दिखता है वहां अन्य शब्दों की निरुक्ति का विवेचन करते हुए वह पाणिनि व्याकरण के ज्ञाता को अत्यधिक हास्यास्पद लगता है।

वस्तुतः जिस विषय का एक ही ग्रंथ उपलब्ध हो उस को देखकर उसके आधार पर उस शास्त्र की कुछ भी कल्पना संभव नही लगती। निर्वचन के अध्येताओ ने इस विषय के अन्य ग्रंथों को तो ढूंढने का यत्न किया नही, यह बताने के प्रयास करने वाले अवश्य है कि यास्क पाणिनि का भी परवर्ती था।

पाणिनि की अति सुव्यवस्थित निरुक्तियां और यास्क का बहुत काम चलाऊ प्रयास देख कर सामान्यतः तो ऐसा ही लगता है कि निरुक्त बहुत पूर्ववर्ती है। उस काल का है जब निर्वचन शैशवावस्था में था जब कि पाणिनि के समय तक वह पूर्ण प्रौढ़ता और सुव्यवस्था को प्राप्त हो गया था।

फिर भी भाषा विषयक सैद्धान्तिक विवेचन में वह पतंजलि के निकट भी पहुंचता हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः पाणिनि के तो निर्णय ही सम्मुख हैं। वह उन निर्णयों तक कैसे पहुंचा यह उल्लेख सूत्र शैली में नहीं है। महाभाष्य में वह गुंजाइश थी और महाभाष्यकार अनेक बातों में यास्क का अनुयायी लगता है। अतः जो लोग उसे पाणिनि से परवर्ती बताते हैं वे भी बहुत कुछ तथ्य के निकट प्रतीत होते हैं।

अस्तु, हमारे विचार से इस बात का निर्णय किसी लाभ का नहीं है कि यास्क पूर्ववर्ती था या पाणिनि। यदि एक दो निरुक्त ग्रंथ और मिल जाएं तो अवश्य कुछ लाभ होगा।

पांचवां वेदांग छंद है। छन्दोबद्ध वेदों में लय और गति की विशुद्धता के लिए तो छंदः शास्त्र का ज्ञान आपेक्षित है ही पर विषय की पहचान के लिए भी छंदों का सहारा लिया जा सकता है। कोई छद विरह वर्णन के लिए अधिक उपयुक्त होता है,कोई हास-परिहास के लिए। कोई युद्ध वर्णन के उपयुक्त होता है तो कोई उपदेश के लिए। हमें कालिदास के काव्य कौशल पर पूरा भरोसा है पर हम समझते हैं कि उसने 'मेघदूत' या रघुवंशस्थ इन्दुमती मृत्यु प्रसंग के लिए त्रोटक या माणवकाक्रीड जैसा छंद चुना होता तो उसे वह सफलता न मिली होती जो प्रसंगोचित छंदों के प्रयोग से मिली है। स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीडित जैसे छंद हास्य रचनाओं के लिए कदाचित् ही उपयोगी हों। युद्ध वर्णन के लिए घनाक्षरी और मोतीदाम छंद हिन्दी कवियों को अधिक उपयोगी लगे हैं।

वैदिक छंद केवल ग्यारह हैं पर कौन-कौन सा छंद किस-किस प्रकार के वर्ण्य विषय के लिए उपयुक्त है, इस विषय पर प्रकाश डालने वाला कोई ग्रंथ हमारे देखने में नहीं आया। मंत्रों के साथ उनके ऋषि, देवता आदि के परिचय के अतिरिक्त छंद नाम देने की भी प्रथा है, पर नाम-निर्देशमात्र से यह ज्ञान नहीं मिलता कि मंत्र द्रष्टा ऋषि किस प्रसंग के लिए कैसे छंद का प्रयोग उचित समझते थे। हां, अनुष्टुप जैसे छंद सभी प्रकार के प्रसंगों में उपयुक्त लगते हैं। त्रिष्टुभ्, वृहती, जगती आदि की उपयुक्तता के विषय में हम कुछ कह सकने में असमर्थ हैं। यदि कोई विद्वान् इस विषय पर प्रकाश डालेंगे तो हम उपकार मानेंगे। हमारा विश्वास है कि छंदों को वेदांगों में इसीलिए स्थान दिया गया था कि वेद मंत्रों के प्रसंग निरूपण

और अर्थ निर्धारण में वे सहयोगी माने जाते थे। पर आज मंत्रों के छंदों के नाम का उल्लेख मात्र होता है। उनके औचित्य पर प्रकाश नही डाला जाता।

छठा और अन्तिम वेदांग ज्योतिष है जिसे वेदो के नेत्र माना जाता है। इस बात का उल्लेख तो सब कर देते हैं पर उसके सही भाव को समझने का यत्न बहुत कम लोग करते हैं। थोडा बहुत विदेशियों ने किया है, थोड़ा बहुत महाराष्ट्र के विद्वानों ने किया है। लोकमान्य तिलक ने इस दिशा मे कुछ सकेत किया था। ज्योतिष के वेद-दृष्टि होने का स्पष्ट अर्थ यही है कि वेदों को ज्योतिष की दृष्टि से ही देखा जाना चाहिए। उनका वर्ण्य विषय ज्योतिष-परक ही था। उनको दिव्य दृष्टि से देखेंगे तभी उनका अर्थ-बोध संभव है। परक्या इतना सरल है उनको दिव्य दृष्टि से देखकर समझ लेना। उनके लिए चाहिए ज्योतिष के ग्रंथ जिन्हें पढ कर वेदार्थ का प्रयत्न किया जाए। आप कहेंगे फिर क्या कष्ट है। हमारे पास आर्यभट का अपूर्व आर्यभटीय है जिसमे कोपरनिकस की बात पहले ही कह दी गई थी। हमारे पास ब्रह्मगुप्त का ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त है। हमारे पास वराहमिहिर को स्वयं सूर्य द्वारा वर स्वरूप प्रदत्त सूर्य सिद्धान्त है। हमारे पास भास्कर का सिद्धान्त-शिरोमणि है। फिर वेदों के अर्थ देखने के लिए और क्या चाहते हैं? पाठक वृन्द, ये सब वेद दृष्टि नहीं हैं। ये तो यवनों द्वारा आरोपित वे नकली पत्थर की आखें है जिन्हें यवनों ने हमारे खाली हुए नेत्र कोटरों मे निवेशित कर दिया था। उन से पूर्व उन्होंने हमारे नेत्रों का अपने ज्ञान-क्षुरो से उसी प्रकार उन्मूलन कर दिया था जिस प्रकार दन्त चिकित्सक दन्तोन्मूलन कर देते है।

आप कहेंगे कि लगध का वेदाग ज्योतिष भी तो है। जी हा, है। केवल 44 श्लोक है। यदि आज से एक सहस्र वर्ष बाद भारत के सविधान के नाम पर इतना सा अंश मिले कि 'भारत राज्यों का एक' तो इससे संविधान का क्या स्वरूप समझ मे आयेगा। टीकाकार सोमाकर, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी और श्याम शास्त्री इन 44 श्लोको से क्या उद्घाटन कर सके है? चतुर्लक्षंतु ज्योतिषम् की घोषणा करने वाले तो यत्र-तत्र मिल जाते हैं पर यदि उन्हें कहे कि पंडितजी, वे चार लाख श्लोक तो अठारह पुराणो के हैं चाहे गिन लीजिए तो वे बिदक जाते है। उनके प्रस्तर-चक्षु तो उन्हें देख नहीं पाते, दिव्य-दृष्टि लाएं तो कहां से लाएं! वह बाजार मे तो मिलती नही, दूरवीक्षक या अणुवीक्षक यंत्रो की तरह।

वेद कालीन मंत्र द्रष्टा के पास कितना खगोल ज्ञान रहा होगा, जरा अनुमान लगाना हो तो देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण। वह बताता है कि एक थे ब्रह्मचारी भरद्वाज। उन पर कृपालु होकर इन्द्र ने उन्हें तीन आयुष्य दिये। अर्थात् यदि शतायु जीवन मानें तो उनकी आयु तीन सौ वर्ष हुई। वे बुड्ढे हो गए तो उनके पास इन्द्रदेव आये और बोले—मुनिवर, यदि चौथी आयु और दे दूं तो क्या करोगे? मुनि बोले—ब्रह्मचर्या मे ही बिताऊंगा, चांद तारे ही देखता रहूंगा। इन्द्र ने उसे

दिखाये तीन पर्वत और बोला—इन में से एक-एक मुट्ठी ही आप उठा पाये हैं, तीन आयुष्य मे। पूरे तीन पर्वत उठाने मे कितने आयुष्य अपेक्षित होंगे। और तब भी तीन ही वेद पूरे होंगे। वेद तो अनन्त हैं। क्या कर पाओगे सौ पचास आयुष्य औरलेकर ?—भरद्वाजोऽह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं जीर्णं-स्थविरं शयानं इन्द्र उपव्रज्योवाच—भरद्वाज। यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमनेन कुर्याः ?ब्रह्मचर्यमेतेन चरेयमिति हो वाच। तं हत्रीन् गिरिरूपान् दर्शयांचकार। तेषामेकैकं मुष्टिमुपाददे। स हो वाच भरद्वाजेत्यामंत्र्य। वेदा वा एते। अनन्ता वै वेदाः।

तुलना कीजिए तीन आयुष्य में तीन मुट्ठी ज्ञान बटोर सकने वाले भरद्वाज की और 44 श्लोकों वाले लगध के वेदांग ज्योतिष की। भरद्वाज जी तीन सौ वर्ष जी कर, दिन भर ब्रह्मचर्या में लगे रह कर केवल सूर्य, पृथ्वी और चन्द्र विषयक ज्ञान के पर्वतों से मुट्ठी-मुट्ठी भर ज्ञान ले पाये पर हमारे ब्रह्माण्ड मे अनन्त कोटि सूर्यमंडल है और ब्रह्म मे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड। और हमारे पास हैं लगध के 44 श्लोक। इनके कुल 1408 अक्षर बनते हैं। यदि एक-एक अक्षर में एक-एक सूर्य मंडल का ज्ञान प्रदान करने की क्षमता मानें तब भी हमारे ब्रह्माण्ड के अनन्त कोटि सूर्यमंडलों मे से 1408 का ज्ञान पा सकेंगे।

पर विदेशी विद्वान साधिकार घोषित करते हैं कि उन्होंने सब वेद संहिताएं पढ़ लीं; ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् पढ़ लिये; पाणिनि का व्याकरण पढ़ लिया। अब हमारा निष्कर्ष है कि भारतवालो को राशिज्ञान ही नहीं था। न आते यवन, न मिलता भारत को राशि ज्ञान। जब प्राचीन वाङ्मय में 'राशि' शब्द ही नहीं मिलता तो विदेशी विद्वान कैसे मान लें कि हमे राशि ज्ञान भी था। वे यह जानने का परिश्रम क्यों करें कि संस्कृत शब्द तो 'रश्मि' था, उसका प्राकृत रूप था 'रस्सि' जिसका आर्यभट परवर्ती आचार्यों ने मूल शब्द जाने बिना पुनः संस्कृतीकरण कर लिया 'राशि'। कैसे समझाएं कि यदि हमे 'वृष' राशि का ही ज्ञान नहीं था, तो सूर्य के 'वृष' संक्रमण से आरम्भ करके मेषान्त तक की अवधि को 'वर्ष' कैसे मान लिया जिसे परवर्ती ज्योतिष मे मेषारम्भ से मीनांत तक माना गया। 'वर्ष' ही नहीं, उसके पर्याय वत्सर, संवत्सर, परिवत्सर आदि भी यवनों के आगमन से बहुत पूर्व भाषा मे सुप्रचलित थे। संहिताओं, ब्राह्मणों में भी थे, व्याकरणों मे भी थे। रही बात वर्षारंभ की, सो वह तो हमारे देश मे मेषादि भी रहा है, वृषादि भी, सिंहादि, कार्तिकादि भी और अग्रहायणादि भी। पर आरंभ मे वह वृषादि ही था। अतः 'वर्ष' शब्द सदा ही प्रचलित रहा है। शीत से भयभीत जनों ने 'जीवेम शरदः शतम्' भी कहा।

प्रश्न उठता है कि यदि भारत को राशि विभाजन का ज्ञान ही यवनों ने

कराया, उससे पूर्व नक्षत्र ज्ञान ही था जिसका प्रमाण आश्विन, कार्तिक जैसे मास नाम है तो यह बताया जाये कि बारह राशियों के विभाजन से अपरिचित लोगों ने बारह मासों की कल्पना कैसे कर ली ? आश्विन के बाद कार्तिक कैसे हो गया। बीच में भारण और बाद में रोहिण मास भी तो होने चाहिए थे। मंडूकप्लुति का हेतु क्या है ? सत्ताईस मास क्यों नहीं बने ? क्या उन्हें अनुमान हो गया था कि दो चार सहस्र वर्ष पश्चात् यवन गुरु आयेंगे और वे बारह मासों का ज्ञान कराएंगे अतः अभी से बारह मास ही रख लें।

हम तो यही मानने को विवश हैं कि वैदिक काल के ज्योतिर्विदों को राशि-ज्ञान भी था, नक्षत्र ज्ञान भी था। सौर मास, चन्द्र मास और सावन मास का तथा तदनुरूप सौर, चांद्र और सावन वर्षों का भी ज्ञान था। अधिक मास और क्षयमास तथा तिथि वृद्धि और तिथि क्षय का ही नही, वर्ष वृद्धि या अधिक वर्ष और वर्ष-क्षय या क्षयवर्ष का भी ज्ञान था।

हम भगवती श्रुति को व्यर्थ के वितण्डों में घसीटना महापाप समझते है पर हमें लगता है उनकी शरण में गये बिना लोग राशिज्ञान को हमारा मानेंगे नही। ब्राह्मण ग्रंथों तक को वे प्रमाण नही मानेंगे। अतः हम क्षमा याचना पूर्वक ऐसे एक दो मंत्रों के अश उद्धृत करेंगे जिन से 'राशि ज्ञान' की पुष्टि हो। हम केवल मेष, वृष और मिथुन राशियों की चर्चा करेंगे। जो मानने को तैयार हों उनके लिए इतना ही यथेष्ट है। जो मानने को तैयार नहीं हैं उनको सभी के प्रमाण भी प्रस्तुत कर दें तो भी मानेंगे नहीं। फिर भगवती श्रुति को क्यों कष्ट दें।

राशि ज्ञान को समझने के लिए पाठकों को इसी पुस्तिका में अन्यत्र संलग्न मानचित्र देखना होगा। उसमें मेष राशि का क्षेत्र देखें जिसमें अश्विनी, भरणी और कृत्तिका के तीन नाड़े (नाड़ियां) बंधे हैं। उस क्षेत्र मे केवल नीलांबुधि है। उस क्षेत्र की समाप्ति भू-देवी की योनि लंका पर होती है। मेष के दक्षिणी छोर से उत्तरी छोर लंका तक पहुंचने के लिए ऊपर को चढना पड़ता है। अब इस बात का वैदिक उल्लेख देखिये : इमा नारीरविधवा: सुपत्नीरांजनेन सर्पिषा सं विशन्तु। अनश्रवोऽनमीवा: सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे। अर्थात् ये अश्विनी, भरणी और कृत्तिका की तीन नारियां (नाड़ियां) हैं जिनका पति (धव) मेष (अवि) है। ये श्रेष्ठ पत्नियां काले घृत वाले (नीले रंग के जल वाले) समुद्र में प्रविष्ट हों। अश्रुहीन, स्वस्थ प्रकाश वाले, रत्नोज्ज्वल तारे (जनयो) आकाश में इन नारियों (नाडियों) पर चढ कर आगे लंका योनि तक पहुंचें (मेष खंड से वृष खंड पर जाएं)। यदि एक दृष्टि पुस्तक के आरंभ मे दिये मान-चित्र पर रखें और दूसरी शब्दों के अर्थ पर तो बात स्पष्ट हो जाएगी।

अब पुनः मानचित्र पर देखिए : वृष क्षेत्र को, जिसमें कृत्तिका, रोहिणी और

मृग के तीन नाड़े बंधे हैं और जिसमें सिंहल की भूमि भी आ गयी है। वर्णन देखिए : त्रिधा बद्धो वृषभो रौरवीति अहो देवो मर्त्या आविवेश। तीन नाड़ों से बंधा वृषभ रंभा रहा है (डोलड्रम्स प्रदेश के बादल गरज रहे हैं) और वृष राशि का सूर्य देव सिंहल के मर्त्यलोक में पहुंच गया है।

अब मान चित्र पर कन्या कुमारी का बिन्दु देखिए जहां उत्तरायण में मिथुन का आरंभ होता है और दक्षिणायन में कन्या की समाप्ति। यह जल और स्थल का अद्भुत संगम बिन्दु है। उत्तर में उत्तर ध्रुव तक भूमि ही भूमि। दक्षिण में दक्षिण ध्रुव तक जल ही जल। इसे कन्या भूमि के अपने जुड़वां भाई जल से मिलने (मिथुन) की इच्छा के रूप में वर्णित किया गया है। जिन्हें पढ़ना हो वे यम-यमी के संवाद को पढ लें। जिन्हें उसमें अश्लील तत्त्व दिखाई देता हो वे न पढ़ें। हम उतना लंबा प्रसंग उद्धृत नहीं करेंगे। अब भी जो मंत्र द्रष्टाओं को राशि ज्ञान से शून्य मानते है, उन्हें सन्तुष्ट करने की हम कोई आवश्यकता नहीं मानते। हमारा निवेदन तो केवल उन सज्जनों के लिए है जो अज्ञानवश भुलावे में थे; उनके लिए नहीं जो जान बूझ कर मिथ्या कथन पर अड़े रहना चाहते हैं।

अब यवनों से प्राप्त ज्ञान-राशि का प्रभाव देखिए। हमने पल-विपल-अनुपल तक की शुद्धि वाली गणना छोड़ी और घंटों की अशुद्धि वाली गणना स्वीकार कर ली। यह यवनों के राशि-ज्ञान की ज्ञान-राशि का प्रभाव नहीं था। यह प्रभाव था उनके फलित ज्योतिष का जिसके चाकचक्य ने हमें विमोहित कर दिया। हम स्वर्ण मृग के पीछे भागे और अपनी विद्या-सीता को खो बैठे। राम को तो सीता मिल भी गयी थी पर हमें उसके मिलने की भी आशा नहीं है।

लोग कहते हैं कि कोपरनिकस से पहले सारा संसार पृथ्वी को स्थिर मानता था और सूर्य को उसकी परिक्रमा करने वाला। पर हमारे तो दो ब्राह्मण ग्रंथों में पूर्णतः स्पष्ट भाषा में इससे विपरीत बात कही गयी है।

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि "सूर्य का उदय या अस्त मानना बोलचाल में तो ठीक है पर वस्तुतः सूर्य न तो ऊपर जाता है, न नीचे। वह तो जहां का तहां रहता है। होता यह है कि विपरीत दिशा में घूमती पृथ्वी का जो भाग सूर्य के सामने आता है वहां दिन का उदय होता है, रात्रि अस्त होती है। इसके विपरीत जहां रात्रि का उदय होता है वहां दिन अस्त होता है। यों उदित होने वाले भी दिन-रात हैं, अस्त होने वाले भी दिन-रात ही हैं। सूर्य तो न कभी ऊपर जाता है न नीचे।" अब इसी बात को ऐतरेय ब्राह्मण की शब्दावली में देखिए—

स एव एष (आदित्यः) न कदाचनास्तमेति नोदेति। तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते

रात्रिरेव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्नोचति ।

इसी बात को गोपथ ब्राह्मण भी संक्षेप में कहता है । तदनुसार सूर्य न कभी अस्त होता है, न उदित । जो उसे अस्त होता मानते है वे उलटे क्रम के कारण दिन के ही अस्त होने की बात करते हैं जब पृथ्वी को ऊपर आते देखते हैं । दिन के उदित होने और रात्रि के अस्त होने की बात तब करते हैं जब पृथ्वी के नीचे जाने को देखते है । ब्राह्मण की भाषा इस प्रकार है—स वा एष (आदित्य:) न कदाचनास्तमयति नोदयति । तद्यदेनं पश्चादस्तमयतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तं गत्वाऽथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवाधस्तात् कृणुते रात्रिं परस्तात् ।

आधुनिक इतिहासकार भी ब्राह्मण ग्रंथों को आज से तीन हजार वर्ष पुराना तो मानते ही है । ब्राह्मण ग्रंथों मे उल्लिखित यह ज्ञान उदीच्य तक आज से साढ़े तीन-चार हजार वर्ष पूर्व तो आ ही गया होगा । अत. दक्षिण के ऊरों मे तो पांच हजार वर्ष पूर्व ही उतर चुका होगा । अक्षवाटों में इस ज्ञान के उदय का समय उस से भी एक-डेढ हजार वर्ष पूर्व का मानें तो कह सकते हैं कि अक्षवाट के ब्रह्मा को यह बात आज से छ: सात हजार वर्ष पूर्व ज्ञात थी । पर आज से डेढ हजार वर्ष पुराने ब्रह्मगुप्त आदि का मत इसके विपरीत है । उनके समय में हत्यारे यवनो की कृपा से पृथ्वी अचला हो चुकी थी, गौ मर चुकी थी । हमारी दिव्य दृष्टि का उन्मूलन हो चुका था, पत्थर की आंखें लग चुकी थी ।

जो संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों के साक्ष्य से भी संतुष्ट नही हों । उनके लिए तो कन्नड कवि श्रीधर की ये पंक्तियां ही सही उत्तर देंगी—

कण्णिद्दवरिगिन्नु बेरे बेके साक्षि ।
कण्णिद्दवरिगो अेल्ल साक्षिगळोदे ॥

[जो साक्षि (आंखों वाले) हैं उन्हें और क्या साक्ष्य चाहिए । जो साक्षि नहीं हैं, उनके लिए तो सभी साक्षी निरर्थक हैं ।]

निस्संदेह वेद मंत्रों का अर्थ दिव्य दृष्टि से ही समझ मे आयेगा । जो आकाश के देवो को नही जानते वे ऋचाओं को क्या समझेंगे—ऋचे अक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदु: । यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति ।

दर्शन-दिग्दर्शन

भारतीय वाङ्मय की एक विपुल राशि 'दर्शन' या 'दर्शन शास्त्र' नाम से अभिहित होती है। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि प्रतिदिन प्रातः उदित होता सूर्य, ऋतुओं में परिवर्तन लाता सूर्य; उदय-अस्त की, वसंत-ग्रीष्म-हेमंत आदि की, नियम बद्ध पुनरावृत्ति करता सूर्य; क्रमशः क्षीण होता और क्रमशः वर्धमान होता चद्र, यथा-क्रम उदित-अस्त होते तारक-गण मानव को आदि काल से ही झकझोरते रहे हैं। उनके मन में जिज्ञासा जगती रही है कि ये सब क्या हैं? कहा से आये हैं? किसने इन्हें बनाया है? इनमें क्या नियमबद्धता है? क्यों है? तो इन प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन से जगी सहज जिज्ञासा ही दर्शनों का मूल है। हमारे यहा इसे 'दर्शन' कहा गया क्योंकि कुछ तत्त्वों के दर्शन से ही इनका विकास हुआ। बाद में इनका प्रभूत विकास हो गया, बहुत कुछ तत्त्व दर्शन हो गया तो यह तत्त्वज्ञान भी कहलाने लगा। पश्चिम में इस प्रकार के चिन्तन के लिए जो शब्द चला 'फिलोसॉफी' उसका शब्दार्थ 'जिज्ञासा' से मेल खाता है।

हमारे दर्शनों का उद्घाटन करने के लिए भी विदेशी विद्वान् पिल पड़े थे और उन्होने निर्णय भी कर लिया था कि इनमे कुछ नही धरा है। भारत के समग्र 'ज्ञान' (अज्ञान) को संचित करके यूरोप के 'ज्ञान' के सामने रखें तो उनके विशाल पुस्तकालयों के किसी एक कोने में रखी अलमारी के एक-दो खानो में भर सकने लायक भी ज्ञान नही है भारतीयों के पास। इस निर्णय पर तत्काल पहुंच गये थे विदेशी विद्वान्। ऐसे फतवों से दुःखी होकर भारतीय विद्वान् सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने भारतीय दर्शनो का इतिहास अनेक खडों मे लिखा। विदेशियों की धारणा के विषय मे इस भारतीय विद्वान् की वेदना इस प्रकार व्यक्त हुई है: कोर्नेल विश्वविद्यालय के आचार्य फ्रैंक थिली ने अपनी पुस्तक 'दर्शन के इतिहास' में कहा है—"विश्व दर्शन का इतिहास सभी जातियों के विचार दर्शन का इतिहास होना चाहिए। परन्तु सभी राष्ट्रों मे क्रमबद्ध वास्तविक विचार दर्शन पाया ही नही

जाता और बहुत कम ऐसे देश हैं जिनके वैचारिक विकास की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि मिलती है। अधिकतर ऐसे हैं जो पौराणिक गाथाओं के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाये हैं। यहां तक कि हिन्दू, मिस्री, चीनी आदि प्राच्य संस्कृतियों के दर्शन भी गाथाओं और आचार नियमों के सिद्धान्तों तक ही पहुंच पाये हैं। इन संस्कृतियों में पूर्ण विकसित, क्रमबद्ध तर्कमय विचार-दर्शन उपलब्ध ही नहीं है। उनका आधार तो केवल काव्यात्मकता एवं श्रद्धा है। अतः हम केवल पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन का प्रयास करेंगे और सर्व प्रथम प्राचीन यूनानी दर्शन के अध्ययन का आरंभ करेंगे जिस पर हमारी संस्कृति कुछ अंशों तक आधारित है।"

दास गुप्त जी को यह फतवा खला था और संभवतः उसी का उत्तर देने के लिए उन्होंने अपने महा ग्रंथ का निर्माण किया। पर क्या वे पर्याप्त साहस जुटा पाये? क्या वे भारतीय दर्शनों की गरिमा का उतना उद्घाटन कर पाये जितना अपेक्षित था? उन्ही के ग्रंथ के एक उद्धरण पर विचार करना उचित होगा जो इस प्रकार है—

"भारत में वैदिक साहित्य से प्राचीन और कोई साहित्य उपलब्ध नही है। अग्नि, वायु आदि प्रकृति के देवों की स्तुति मे लिखे मंत्र ही इस साहित्य मे पाये जाते हैं और हमारे विचार से इनमे कोई विशेष दर्शन प्राप्त नही होता। परन्तु परवर्ती वैदिक वाङ्मय के कुछ सूक्तों में जो संभवतः 1000 ई० पू० के आसपास लिखे गये होंगे, काव्यात्मकता और कल्पना से संपुटित दर्शन शास्त्र के कुछ ब्रह्माण्ड विषयक रोचक प्रश्न प्राप्त हो जाते है। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथ ब्राह्मण एवं आरण्यक हैं। ये ग्रंथ मुख्यतया गद्य में है। इन ग्रंथों मे दो विशिष्ट धाराएं पायी जाती हैं। पहली मे पूजा या कर्मकाण्ड की विधि है जो चमत्कारात्मक अधिक है, और दूसरी में कल्पनात्मक ढंग पर कुछ विचारणीय तथ्यों का बहुत साधारणीकरण करते हुए चिन्तन के धरातल पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है। पर चिन्तनात्मक पक्ष नगण्य है, कर्मकाण्डीय पक्ष ही अधिक है और यह भी स्पष्ट लगता है कि वैदिक वाङ्मय के इस परवर्ती भाग मे जिन थोड़े से दार्शनिक विचारों का परिचय मिलता है उस पर वह अधिकांश वाङ्मय हावी हो गया है जो कर्म काण्ड की विधियो पर ही विशेष बल देता है। और अन्त तक तो इस धारा का भी कर्मकाण्ड की मरुभूमि मे ही लोप हो जाता है। इसके पश्चात् गद्य और पद्य मे लिखे उपनिषद् नाम के दर्शन ग्रंथ प्राप्त होते है जिनमें एकान्तवादी अथवा अद्वैतवादी दार्शनिक विवेचन विविधता से पाया जाता है। साथ ही द्वैतवादी एवं बहुलवादी विचार धाराओं का भी उल्लेख मिलता है। इन विषयो का कोई तर्क-संगत प्रतिपादन नही किया गया वरन् इनमे स्थान-स्थान पर उन सत्यों की स्थापना का यत्न किया गया है जिनका शाश्वत सत्यों के रूप में दैवी अनुभूति की भांति मनीषियो द्वारा साक्षात्कार किया गया और जिनके प्रामाण्य के विषय

में किसी प्रकार का संदेह नहीं है।"[1] तो प्रो० दास गुप्त चले थे आचार्य फ्रैंक पिली को उत्तर देने पर उन्हें भी भारत के प्राचीन वाङ्मय में क्या मिला: कुछ स्तुतियां, कर्मकाण्ड की मरुभूमि में लुप्त हुई ज्ञान धारा और तर्क-संगत प्रतिपादन से रहित कुछ बलात् मान लिये गये दासवत् सत्य। हमें तो दास गुप्त जी की दशा देखकर उन भरद्वाज जी की करुण कथा याद आयी जो तीन सौ वर्ष तक खाना-पीना, सोना-जगना छोड़ कर तारे गिनते रहे। पर खोदा पहाड़ निकली चुहिया वाली कहावत भी सिद्ध नहीं कर पाये; तीन विशाल पर्वतों से तीन मुट्ठी रेत ही उठा पाये। दास गुप्त जैसे भारतीय विद्वानों से भारतीय वाङ्मय की रक्षा की आप क्या आशा कर सकते हैं? उन्होंने तो फ्रैंक पिली के आक्षेप की पुष्टि ही की है। वे चले थे नदन कानन की खोज में पर उन्हें मिले कुछ झाड़-झंखाड़। मैक्स-मूलर, मैक्डोनल, वेबर आदि की दी हुई पत्थर की आंखों से देखेंगे तो यही होगा। श्री दास गुप्त महोदय के अनुसार बौद्ध दर्शन का प्रादुर्भाव ईसा से 500 वर्ष पूर्व हुआ। बुद्धकाल और ईसा से 200 वर्ष पूर्व के समय के बीच अन्य भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं का भी प्रादुर्भाव हुआ होगा—ऐसा उनका अनुमान है। उनके अनुसार हिन्दू धर्म की पुरातन दार्शनिक विचारधारा की छः प्रणालियां इस प्रकार हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा (जो पूर्व मीमांसा के नाम से प्रख्यात है) और वेदान्त (जिसे उत्तर मीमांसा कहा जाता है)। वे यह भी मानते हैं कि सांख्य और योग एक ही दर्शन की दो शाखाएं हैं और वैशेषिक पहले तो मीमांसा के निकट था पर बाद में न्याय से इतना मिलता-जुलता हो गया कि विद्वान् लेखक ने दोनों का एक साथ ही विवेचन किया। दास गुप्त जी ने जैसी बातें कही हैं वैसी ही बातें अन्य अनेक विद्वानों ने भी कही हैं क्योंकि सब को वही कहना पड़ा है जो उन्हें विदेशी विद्वानों ने बताया। विदेशी विद्वान यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि अरिस्तू से पहले अन्यत्र कहीं भी ज्ञान का उदय हो सकता था। उनके अनुसार तो बस केवल यवनान में उनसे पूर्व सुकरात और प्लातून हुए। उनका ज्ञान इधर-उधर फैला तो संसार के और लोगों की भी आंखें खुलनी आरंभ हुई।

अस्तु पश्चिमानुयायी विद्वान् क्या स्वीकार करते हैं, उसकी हमें चिन्ता नहीं है। उनसे हमें प्रमाणपत्र भी नहीं लेना है। हम तो यह मानते हैं कि दर्शन का आरंभ तो तभी हो गया था जब चांद तारों के दर्शन कर मनुष्य ने सोचना आरंभ किया। हम यह नहीं मान सकते कि भारत के मनुष्य ने ईसा से केवल पांच सौ वर्ष पहले चांद तारे देखे। ब्राह्मण ग्रंथों की विदेशियों द्वारा निर्धारित रचना तिथि

1. यह उद्धरण प्रोफेसर दास गुप्त की अंग्रेजी पुस्तक के हिन्दी रूपान्तर से है जिसका प्रकाशन राजस्थान ग्रंथ अकादमी ने किया है।

मानें तब भी ईसा से एक सहस्र वर्ष पूर्व का भारतीय यह तो जानता ही था कि पृथ्वी घूमती है, सूर्य नहीं। यह भी जानता था कि सौर वर्ष का मान क्या है, चांद्र वर्ष का मान क्या है, सावन वर्ष का मान क्या है। सताईस या अठाईस नक्षत्र कौन-कौन से हैं। उनके साथ चंद्र-सूर्य आदि का संबंध क्या है। और जब यह सब ज्ञात था तो उनके मन में यह जिज्ञासा बहुत पूर्व अवश्य हुई होगी कि चांद, तारे, पृथ्वी क्या हैं? कहां से आये? किसने बनाए? क्यों बनाए? यह सब प्रश्न किसके मन में उपज रहे हैं? वह कहां से आया? क्यों आया? कैसे आया? इतना निर्बुद्धि तो नहीं होना चाहिए भारतीय मानव, कि एक तरफ तो सौर-चांद्र वर्षों में समन्वय की स्थापना करने के लिए अधिक मास तक की सही-सही गणना कर ले और दूसरी तरफ यह भी नहीं सोच पाए कि सूरज-चांद-तारे क्या हैं, क्यों हैं? एक तरफ तो भूमंडल के समस्त जीवों का जीवनाधार सूर्य को बता दे—सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च—और दूसरी तरफ सूर्य उसके मन में जिज्ञासा ही न उत्पन्न करे। हमारा तो दृढ विश्वास है कि 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च' कहने वाले लोगों से कम से कम एक सहस्र वर्ष पूर्व तो जिज्ञासा जगी ही होगी। और जब जगी तो सृष्टि क्या है? क्यों है? उसका नियामक कौन है, क्यों है? वह कैसे नियमन-नियंत्रण करता है—जैसे प्रश्न भी उसके मनोमस्तिष्क को झकझोरते रहे ही होंगे। सूर्य-चंद्र-पृथ्वी के सम्बंधों का सही-सही निरूपण और कालों का सही-सही निर्धारण करने से पूर्व ऐसे प्रारंभिक प्रश्नों के उत्तर अवश्य दिये जा चुके होंगे। अतः हमें पुराणों से जो सूचना मिली है उसी के आधार पर विवेचन-निरूपण करेंगे, किसी बंदर के बनाए पुल पर से ज्ञानाम्बुधि के दर्शन नहीं करेंगे। उसके अन्दर कूद कर ही मज्जन करेंगे। बन्दरों की पूंछ पकड़ कर तैरने का यत्न करने वाले तो वैसे ही बहुत हैं।

हम आगे बढ़ने से पूर्व स्पष्ट कर दें कि भारतीय दर्शनों का उदय द्रविड भूमि के अक्षवाटों में ही आज से पांच-सात सहस्र वर्ष पूर्व हो गया था। उन्होंने सर्ग-प्रतिसर्ग का, लय-प्रलय का भी विचार कर लिया था। विश्व के परम नियामक को खोज लिया था। उसके द्वारा किये गये सृष्टि-क्रम का पता लगा लिया था। किस-किस प्रक्रिया में कितना-कितना समय लगता है उसके लिए कल्पों, मन्वन्तरों, महायुगों आदि की काल गणना भी निर्धारित कर ली थी। आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त कर ली थी। स्वर्ग और मोक्ष के स्वरूप पर विचार कर लिया था। इन प्रमेयों तक पहुंचने के लिए प्रमाणों का निरूपण कर लिया था। जन्म-मृत्यु-पुनर्जन्म रूपी भवबन्धन का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उससे मुक्ति के उपायों पर भी विचार कर लिया था। ईसा से पांच-सात सौ वर्ष पूर्व बने दर्शन सूत्रों में तो इस ज्ञान का अस्पष्ट निरूपण अधिक है, स्पष्टता कम है। आइए जो प्राचीन ज्ञान है उस पर थोड़ा-सा विचार कर लें।

पांचभौतिक सृष्टि पर सम्यक् विचार हुआ था। ध्यान रहे पंचभूतों को पांच तत्त्व कहना और फिर तत्त्व को अंग्रेजी के 'एलिमेंट' का पर्याय बता कर भारतीय ज्ञान की खिल्ली उड़ाना उचित नहीं है। यदि आप पांच महाभूतों के स्वरूप को समझे बिना उन्हें 'एलिमेंट' का पर्याय मान लें और कहें कि भारतीय मनीषियों को सौ से ऊपर तत्त्वों में से पांच का ही ज्ञान था और फिर यह कहें कि ये तो जल को भी तत्त्व मानते थे जो यौगिक है तो इस आक्षेप-विवाद में दोष आपका ही है, प्राचीन मनीषियों का नहीं। 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग सांख्य वालों ने किया है और तत्त्व चौबीस बताये हैं पर वे भी एलिमेंट के पर्याय नहीं है। महाभूत, तत्त्व और एलिमेंट तीनों पृथक् संकल्पनाएं हैं।

अब किंचित् सृष्टि क्रम पर विचार कर लें। आरंभ में केवल ब्रह्म था जो अनन्त काल और अनन्त दिक् में व्याप्त था। कालान्तर में उसमें ईषत् प्रकाश उत्पन्न हुआ जिसे आकाश भी कहा गया, माया भी कहा गया। 'मा' का शब्दार्थ भी प्रकाश ही होता है जो चन्द्रमा, पूर्णिमा, अमा जैसे शब्दों में द्रष्टव्य है। माया युक्त ब्रह्म अर्थात् आकाश अनेक कल्प तक एकाकी बना रहा। फिर उसकी इच्छा हुई—एकोऽहं, बहुस्याम् (अनेक रूप धारण करूं) वह अनेक गैसों में परिवर्तित हो गया। या कहिए उसने अनेक गैसें उत्पन्न कीं। इन नये भूतों की वायु या पवन संज्ञा हुई। पहले भूत को समझ लें। वह है 'सत्ता' या 'अस्तित्व' का स्वरूप (फॉर्म ऑफ बीइंग)। कुछ कल्पों तक आकाश में वायु महाभूत ही विद्यमान रहे। तब उनके परस्पर घात-प्रतिघात से, मन्थन से, अनंत कोटि अग्नि पिंड उत्पन्न हुए। ये अग्नि पिंड टोलियों में बंट गये जिन्हें ब्रह्माण्ड कहा गया। ब्रह्माण्डों की संख्या अनन्त कोटि थी। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में भी अग्नि पिण्डों की संख्या अनन्त कोटि थी। इन अग्नि पिंडों के अपने-अपने शासन क्षेत्र थे। अरबों-खरबों वर्ष तक ये अग्नि पिंड (तारक) अकेले रहे। इनमें से एक अग्नि पिंड सूर्य था जिसका अपना अधिकार क्षेत्र था। वह हमारे ब्रह्माण्ड, देवयान अथवा आकाश गंगा, के अनन्त कोटि तारों में से एक था। उससे भी अकेले नहीं रहा गया। उसमें से कुछ अग्नि पिंड निकले और उसी की परिक्रमा करने लगे। वे उसकी संकर्षण शक्ति से बंधे उसके चारों ओर परिक्रमा करते हैं, अपनी-अपनी कक्षा में, पर स्वयं भी अपने अक्ष पर परिभ्रमण करते हैं। ये परिक्रमारत पिंड 'ग्रह' कहे जाते हैं क्योंकि ये सूर्य की संकर्षण शक्ति की 'पकड़' में हैं। वे अपने-अपने आकार और सूर्य से दूरी के अनुपात में परिभ्रमण और परिक्रमण करते है और उसी अनुपात में अपने-अपने अहोरात्रों और वर्षों का निर्माण करते हैं। पृथ्वी इन ग्रहों में से एक है। आरंभ में ये अग्नि पिंड ही थे। पर समय पाकर उनकी उष्णता ह्रसित होती रही। पृथ्वी पिंड पर एक समय ऐसा आया जब उस पर दो गैसों के अनुपात विशेष में मिश्रण से जल तत्त्व की सृष्टि हुई। इससे पृथ्वी का ऊपरी धरातल शीतल हुआ। उसका

पृथ्वी तत्त्व विकसित होने लगा और अरबों वर्षों मे जाकर यह पिंड जीवों के निवास योग्य बना। यों आकाश, वायु (गैस), अग्नि (अग्नि पिंड तारक), सूर्य से पृथक् हुए पृथ्वी पिंड पर द्रव (जल) और स्थल (घन रूप) का विकास हुआ। सूर्य की परिक्रमा करने वाले ग्रहों की सख्या घट बढ सकती है। वह सदा नौ नहीं थी, न सदा नौ रहेगी। वह समय पाकर सैकड़ों हजारों मे हो सकती है। घट कर एक-दो हो सकती है। अन्यान्य तारकों के भी अपने-अपने ग्रह होंगे। उन ग्रहों के उपग्रह भी होंगे। पृथ्वी से एक पिंड पृथक् होकर उसकी परिक्रमा करने लगा, अपनी कक्षा मे, इसे चंद्र कहते हैं। अन्य ग्रहों के भी ऐसे उपग्रह हैं। किसी के अनेक हैं, किसी के है ही नही। हमें उनकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। पर चन्द्र का पृथ्वी से सीधा सबध है अतः उसका विचार हमे अवश्य करना चाहिए। ज्योतिषी लोग कहते भी हैं कि अपना चंद्र सोचकर काम करो। घात चंद्र न हो, यह ध्यान रखो। चंद्र पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से अपनी कक्षा में बना रहता है। इसलिए वह 'कृष्ण चंद्र' कहलाता है।

यों सृष्टि का पांचभौतिक क्रम स्पष्ट हुआ। अब इसके विपरीत क्रम पर विचार कीजिए। दो-चार अरब वर्ष पश्चात् वह समय आयेगा। जब हमारी पृथ्वी सूर्य के विरह से व्याकुल होगी। सूर्य भी व्याकुल होगा और पृथ्वी वापस जाने की तैयारी कर ही लेगी। उसका पहला चरण होगा जलमग्न हो जाना। यह स्थिति लय कहलाएगी और अरबों वर्ष रहेगी। पर शायद इस बीच दोनों के बीच नोक-झोंक हो जाएगी। पृथ्वी अपनी कक्षा मे ही बनी रहने का विचार करके पुन. स्थल रूप को प्रकट करेगी। पुनः जीव सृष्टि उत्पन्न करेगी। वह जीव सृष्टि अब जैसी भी हो सकती है, इससे भिन्न भी हो सकती है। ऐसा लय अनेक बार हो चुका है, अनेक बार भविष्य मे भी होगा। और अत मे वह स्थिति आएगी जब पृथ्वी पुनः सूर्य मे लीन हो जाएगी। यह 'प्रलय' होगा। खरबो बरस यह स्थिति रहने के पश्चात् पुनः पृथ्वी सूर्य से अलग होगी, पुनः उस पर जल होगा, स्थल होगा, जीव सृष्टि होगी। पुनः अनेक बार लय होंगे, सृष्टि होगी। फिर लय होगे। फिर प्रलय होगा। प्रलय और सृष्टि का सूर्य और पृथ्वी के मिलन और वियोग का क्रम अनेक बार हो चुकेगा, तब ऐसी स्थिति भी आएगी कि तारे ही लुप्त हो जाएगे। पुनः गैस अवस्था आएगी और ये गैसें समाप्त होकर आकाश तत्त्व रह जाएगा। फिर माया समेटी जाएगी और रह जाएगा ब्रह्म। यह होगी महाप्रलय। महा-प्रलय के बाद पुनः वायु-अग्नि आदि क्रम से सर्ग (सृष्टि विकास) और पुनः लय-प्रलय-महाप्रलय का क्रम। ब्रह्म, उसकी माया से आकाश, वायु, अग्नि पिंड, जलावृत पृथ्वी गोलक और स्थल का एक क्रम; लय-प्रलय-महाप्रलय का दूसरा क्रम। इस सबकी अनेक आवृत्तिया। यह है भारतीय दर्शन। इसे भारतीय द्रष्टाओं ने पांच-सात सहस्र वर्ष पहले तो देख ही लिया था। पर···पर पत्थर की

आंखें इस दर्शन को पा नहीं सकती। उनके लिए तो वेदों में कुछ स्तुतियां हैं, ब्राह्मणों मे कुछ मरुस्थल मे खोयी धाराएं हैं, उपनिषदों मे कुछ तर्क हीन बलात् माने गये सत्य हैं। उनके लिए यदि दर्शन का उदय होता है तो बुद्ध के बाद। गोतम, कणाद, कपिल, पतजलि, जैमिनी और बादरायण के सूत्रों से ही दर्शन का आधा-अधूरा; कुछ स्पष्ट, कुछ अस्पष्ट रूप प्रकट होता है, विद्वानो के अनुसार। उनमे क्या है ? लीजिए थोड़ा विचार कर लें।

न्याय सूत्र के रचयिता गोतम ने अपने शास्त्र के विवेच्य विषय (पदार्थ) बताये हैं—प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त -सिद्धान्त- अवयव-तर्क निर्णय-वाद - जल्प- वितण्डा - हेत्वाभास- छल - जाति- निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि: श्रेयसाधिगमः। अर्थात् प्रमाण से निग्रहस्थान पर्यन्त परिगणित विषयो के तत्त्व ज्ञान से—वास्तविक बोध से—निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। गोतम ने 'निःश्रेयस' की बात कही है, परम कल्याण की चर्चा की है। मोक्षादि का यहा उल्लेख नही है। इन विषयों पर विचार करने के लिए शास्त्रकार को तीन कार्य करने होते हैं: (क) उद्देश अर्थात् नामोल्लेख, (ख) लक्षण अर्थात् उद्दिष्ट के उस असाधारण धर्म का उल्लेख जिससे उद्दिष्ट की सही पहचान हो सके और (ग) परीक्षा अर्थात् उक्त लक्षण पूर्णतः ठीक है या नही, इसकी जाच।

इन विषयो मे पहला विषय 'प्रमाण' ही वह विषय है जिसका सर्वाधिक विस्तृत विवेचन न्याय ग्रथों में हुआ है। कुछ सीमा तक बात है भी सही। आप जिस 'प्रमा' या ज्ञान-निष्कर्ष पर पहुंचते हैं वह यदि सही साधनो अर्थात् प्रमाणों के बिना ही प्राप्त हुआ है तो भ्रामक होने की संभावना बहुत अधिक है। अतः उसका प्रमाणों से परिपुष्ट होना आवश्यक है। न्यायविद् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नामक चार प्रमाण मानते रहे हैं। अन्य विचारको के अन्य प्रमाणों अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, अभाव आदि का इन्ही मे अन्तर्भाव करते रहे हैं। उस प्रत्यक्ष-अनुमान आदि के अनेक भेदोपभेद करके बहुत ही वाग्विस्तार हुआ है। उस चक्कर मे हम नही पडेंगे।

दूसरा विषय जिसका न्याय ग्रंथों में वाग्विस्तार हुआ है, 'प्रमेय' है। गोतम ने 'आत्म-शरीर- इन्द्रिय-अर्थ- बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दु:ख-अपवर्गास्तु प्रमेयम्' कहकर ये बारह ज्ञेय विषय बताये हैं। इन का भी न्याय ग्रंथों मे विस्तृत विवेचन हुआ है। तीसरा विषय 'संशय' है। एक ही धर्म मे नाना धर्मों की प्रतीति हो तो संशय उत्पन्न होता है। यह अन्य वस्तु में भी समान लक्षण दीखने पर 'समान धर्म दर्शनज' कहलाता है। विशेष लक्षण ही दृष्टिगोचर न हो अर्थात् कोई कहे यह विशिष्ट लक्षण, कोई कहे वह विशिष्ट लक्षण, यों जो अनिश्चय की स्थिति है उसे 'विप्रतिपत्तिज' संशय कहेंगे। तीसरा संशय है असाधारण धर्म के दर्शन से ही उत्पन्न होने वाला 'असाधारण धर्म दर्शनज' संशय।

न्याय ग्रंथो का चौथा विषय है 'प्रयोजन' अर्थात् हम किसी ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्नशील होते हैं तो क्यों, किस हेतु—इसी का विचार 'प्रयोजन' है। हम किसी काम मे निष्प्रयोजन प्रवृत्त न हों यही उचित है। पाचवा विषय 'दृष्टान्त' है। विवाद मे निरत दोनो पक्ष जिस तथ्य को समान रूप से देखें, मानें और स्वीकार करें वही 'दृष्टान्त' कहलाता है। इसके साधर्म्य और वैधर्म्य दो भेद किये गये हैं। पहला साहचर्य मूलक दृष्टान्त है, जैसे रसोईघर धुए का और दूसरा विरोध मूलक जैसे—'ह्रद' धुएं का। छठा विचार्य विषय है 'सिद्धान्त' अर्थात् वह ज्ञान जिसे सब पक्ष सामन रूप से प्रमाण स्वीकार कर लें। उसके सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम नामक चार भेद किय गये हैं। पहला सभी शास्त्रों में प्रमाण माना जाता है, दूसरा शास्त्र विशेष में, तीसरा ऐसा प्रमाण है जिसके सिद्ध होने पर अन्य अनेक तदाधारित ज्ञान भी प्रमाण मान लिये जाएं। चौथा वह जिसे कुछ समय के लिए स्वीकार कर लिया जाए ताकि आगे विचार संभव हो।

न्याय के विचार्य विषयों मे सातवां 'अवयव' है। अनुमान की प्रक्रिया मे पंचावयव वाक्य का प्रयोग होता है। ये अवयव हैं: प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन। 'पर्वत में अग्नि है' जैसा पक्ष-प्रतिपादक वचन 'प्रतिज्ञा' है। धूमवत्व जैसा उसका पोषक तथ्य 'हेतु' है, रसोई घर में उसकी स्थिति 'उदाहरण' है, 'जहा-जहां धुआं होगा वहां-वहां आग होगी ही' जैसा निश्चय बोधक तत्त्व 'उपनय' है और उससे आरंभ के उल्लिखित निष्कर्ष अर्थात् 'इसलिए पर्वत पर अग्नि है' जैसा निष्कर्ष 'निगमन' है। न्याय में पचावयवी वाक्य का बहुत महत्त्व है। पाश्चात्य तर्क शास्त्र मे तीन-तीन अवयवों से निष्कर्ष की दो पद्धतियां है: आगमन और निगमन की जो एक दूसरी से विपरीत प्रक्रियाएं हैं।

न्याय का आठवा विषय 'तर्क' है जो ज्ञान की उत्पत्ति मे सहायक होता है। वह प्रमाणों का अनुग्राहक होता है, उनकी पुष्टि करता है। नवा विषय 'निर्णय' है जिसे प्रमाणों का परिणाम मान सकते हैं। दसवा विषय 'वाद' है। तत्त्व ज्ञान के इच्छुक जिस चर्चा में प्रवृत्त होते है वही 'वाद' कहलाता है, उसी से तत्त्व का ज्ञान होता है—वादे वादे जायते तत्त्वबोधः। वाद और तर्क से भिन्न वे कथन जो सब पक्ष प्रासंगिक रूप मे कहते हैं 'जल्प' कहलाते है। जो कथन अपने पक्ष के समर्थन की चिन्ता न करके केवल पराये पक्ष के दोषो का निरूपण करता है उसे 'वितण्डा' कहते हैं। जहां हेतु-सा प्रतीत तो हो पर वस्तुतः हेतु न हो वहा होता है तेरहवा विषय 'हेत्वाभास'। जैसे यदि कहें कि राम मनुष्य है, सभी मनुष्य जन्मते हैं अतः राम भी जन्मा था तो यह हेतु पूर्वक कथन है। पर यदि कहें कि राम मनुष्य है, कृष्ण भी मनुष्य है इसलिए राम ही कृष्ण है तो यह हेत्वाभास मात्र है। इसमें साम्य का हेतु ठीक नही है। हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरण-सम और कालात्ययापदिष्ट नामक पांच भेद बताये गये हैं जिनके विस्तार

में हम नही जाएंगे। चौदहवां विषय 'छल' है। वक्ता यदि एक अर्थ को ध्यान में रख कर किसी शब्द का प्रयोग करे और श्रोता जानबूझ कर उस शब्द का भिन्न अर्थ ग्रहण करे तो श्रोता का कार्य 'छल' कहा जाएगा। पंद्रहवा विषय है 'जाति' जिसका अर्थ है वादी के पक्ष का उचित उत्तर न देकर असत् उत्तर देना। इसके उत्कर्ष सम, अपकर्ष सम आदि चौबीस भेद किये गये हैं। अंतिम विषय 'निग्रह स्थान' है। तार्किक अपनी जिस भूल के कारण पराजय का मुंह देखे उसे 'निग्रह स्थान' कहते है।

न्याय शास्त्र में इन विषयों का निरूपण होता था। यह शास्त्र वेद को प्रमाण मानता था अतः आस्तिक कहलाता था। सर्जक तत्वों से सृष्टि की उत्पत्ति मानता था इसलिए असत्कार्यवादी माना जाता था। आरंभ मे ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता मानता था अतः ईश्वरवादी था पर नव्यन्याय ने सृष्टि को अणुजन्य माना।

वैशेषिक दर्शन का मूल कणाद के सूत्र है। इनमें सात ही पदार्थ माने गये है। यह अधिक तर्क संगत विवेचन प्रतीत होता है। 'पदार्थ' का तात्पर्य है 'संकल्पना'। भाषा मे जितने भी पद (शब्द) प्रयुक्त होते हैं वे किसी न किसी अर्थ का बोध कराते हैं। ये 'अर्थ' सात विभागों मे विभक्त किये जा सकते है। कोई पद या तो किसी द्रव्य का अभिधान होगा, या किसी गुण का बोध करायेगा, या किसी क्रिया को घोषित करेगा, या सामान्यता का निर्देश करेगा, या विशिष्टता को संकेतित करेगा, या समवाय का उल्लेख करेगा या अभाव को ध्वनित करेगा। यों द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभाव ये सात पदार्थ हैं।

पृथ्वी, जल,तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा आदि नव 'द्रव्य' बताये गये हैं। ईश्वर इन सब से ऊपर है। रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमिति, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व 'गुण' बताये गये हैं। 'कर्म' के पाच प्रकार हैं: ऊर्ध्वगति, अधोगति, आकुंचन, प्रसारण और सामान्य गति। 'सामान्य' चौथा पदार्थ है जिसका अर्थ है जाति या अनेक वस्तुओ में समान रूप से पाया जाने वाला भाव। जैसे यदि हम 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग करें तो इससे अभीष्ट होगा राम, श्याम, आनंद, गोविन्द आदि सभी मनुष्यो मे प्राप्त समान तत्व जिसके कारण वे सब मनुष्य कहलाते है। 'विशेष' वह तत्त्व है जो वस्तु विशेष को अन्यों से पृथक् निरूपित करने में निर्णायक हो। जैसे 'मननशीलता' वह विशेष लक्षण है जो मानव को अन्य जीवो से पृथक् करता है। 'समवाय' वह व्याप्ति संबंध है जिससे विभिन्न वस्तुओ मे वह संबंध स्थापित होता है जिससे वे एक और अविभाज्य प्रतीत हों। जैसे वस्त्र और उसके तंतु-रंग आदि। ये छः 'षट्पदार्थ' कहलाते हैं। इनका बोध प्रत्यक्ष अनुभव से होता है। सातवां पदार्थ 'अभाव' इन में से किसी एक या सभी के अभाव का बोध करा सकता है।

न्याय-वैशेषिक दोनों संप्रदाय बहुत घुल मिल से गये थे। दोनों ही मूलतः ईश्वरवादी थे, परवर्ती काल मे अणुवादी हो गये। ऐसे भी आचार्य हुए जिन्हें अंत समय मे सृष्टि कर्त्ता का स्मरण करने को कहा गया तो उनके मुंह से 'अणवः-अणवः' ही निकला।

न्याय-वैशेषिक के विद्वानो का हम एक बहुत बड़ा उपकार मानते हैं। उन्होंने भाषा के स्वरूप को, औचित्य को, व सार्थकता को सही परिप्रेक्ष्य मे समझने का यत्न किया। 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति' की पूछ पकड़ कर अपाणिनीय शब्द के प्रयोग में 'गोहत्या' का दोष मानने वाले वैयाकरणों का उन्होंने सामना किया। उन्हें बताया कि भाषा का उद्देश्य वक्ता की बात बोद्धव्य के मस्तिष्क तक पहुंचाना है, न कि पाणिनीय शब्दों का प्रयोग सिखाना। यदि अपाणिनीय शब्दों से भी श्रोता समझ जाए तो वह भाषा शुद्ध है पर यदि सुपाणिनीय प्रयोग भी श्रोता के मन पर कुछ और प्रभाव डालें तो वह भाषा अशुद्ध है। मैंने बचपन मे वैयाकरणों और नैयायिकों के शास्त्रार्थ की एक रोचक कहानी सुनी थी जिसमे नैयायिक ने कहा था—'अप्माकूणां नैयायिकेपां अर्थरि प्रयोजनः न तु शब्दरि' जिसमे 'न तु' के अतिरिक्त सभी पद अशुद्ध हैं। इस पर दुःखी वैयाकरण ने पूछा, 'शब्दरि' इति कथम्—कैसे बना शब्दरि। उत्तर था—अर्थरि इति यथम्। पुन. प्रश्न था 'यथम्' इति कथम्। उत्तर था—कथं इति यथम्। रुष्ट वैयाकरण ने कहा—नैयायिका अणवः। उत्तर था—वैयाकरणास्तृणवः। हमें तो लगता है कि नैयायिक की बात सच्ची है। हमारा प्रयोजन तो अर्थ का प्रेषण ही होता है, शब्द का उच्चारण नही। और पूरी की पूरी अशुद्ध भाषा कैसे शुद्ध से अधिक काम देती है, इसका उदाहरण मुझे मिला था बीकानेर में, जब मैं छात्र था और छात्रावास मे रहता था। छात्रावास में एक सज्जन रहे थे भूरामल, जो छात्रावास छोड कर गगा शहर रोड पर रहने लगे थे। उनसे मिलने उनके कोई मित्र आये और चौकीदार से अंग्रेजी मे पूछने लगे। उत्तर भी अंग्रेजी में मिला। वार्तालाप इस प्रकार था—भूरामल लिव होस्टल ? (भूरामल होस्टल मे रहते हैं क्या), उत्तर—नो होस्टल (होस्टल मे नही), प्रश्न-ह्वेयर लिव (कहा रहते है), उत्तर-गंगा शहर रोड लिव। और प्रश्न कर्त्ता गगा शहर रोड मे जाकर मिल लिये अपने मित्र से। मेरे विचार से प्रयोजनवती सार्थक भाषा का सुष्ठु प्रयोग था। यदि शुद्ध अंग्रेजी का ही प्रयत्न रहा होता तो स्वर्ग चाहे मिल गया होता पर भूरामल न मिले होते। मैं नैयायिको का आभार मानता हू।

साख्य संभवतः न्याय-वैशेषिक से प्राचीनतर दर्शन है। इसकी विचारधारा उपनिषदों में भी द्रष्टव्य है, भगवद्गीता मे भी और चरक सहिता मे भी। यह समग्र सृष्टि को प्रकृति और पुरुष नाम से जड और चेतन मे विभक्त करता है।

फिर प्रकृति को त्रिगुणात्मक मानता है जिसके सत्व, राजस और तामस तीन गुण हैं। इनसे फिर महत्, अहंकार और मन उत्पन्न होते हैं। तब पांच महाभूत, पांच तन्मात्राएं, पांच ज्ञानेन्द्रिया और पांच कर्मेन्द्रिया उत्पन्न होती हैं और इस प्रकार 24 तत्वों से त्रिगुणात्मिका सृष्टि उत्पन्न होती है। पुरुष स्वतंत्र द्रष्टा है। यदि वह अपनी सही स्थिति मे रहे तो सदा सुख की ही अनुभूति करेगा। वह महत् या बुद्धि के चक्कर में पड़ कर अपना कर्तृत्व मान बैठता है और भव बन्धन में बंध जाता है। जब उसे सद् ज्ञान से अपने पार्थक्य का बोध होता है तभी दु:खादि से निवृत्ति होती है। इस ज्ञान के मूल प्रतिपादक सूत्रकार कपिल माने जाते हैं। कपिल के सूत्रों के सबसे महत्वपूर्ण व्याख्याता ईश्वर कृष्ण माने जाते हैं जिन्होंने अपना नाम ईश्वरकृष्ण होते हुए भी ईश्वर की सत्ता को आवश्यक नहीं माना। उनकी सांख्य कारिका बहुत ही ज्ञान गर्भित ग्रंथिका है जिस में केवल सत्तर श्लोकों मे सम्पूर्ण ज्ञान कूट-कूट कर भर दिया गया है।

न्याय-वैशेषिक असत्कार्यवादी हैं अर्थात् यह मान कर चलते हैं कि कारण और कार्य का पूर्वापरत्व संबंध है। उनके अनुसार कारण का कार्य से नियतपूर्व-भावित्व है अर्थात् पहले कारण होता है, तब कार्य होता है। दूसरे शब्दों में कार्य कारण में विद्यमान नहीं होता। परवर्ती होता है। सांख्य इसके विपरीत सत्कार्य-वाद को मानता है अर्थात् यह मानता है कि कार्य का बीज कारण में ही विद्यमान था। अन्यथा वट हो ही नहीं सकता था। वट वृक्षत्व यदि वट के बीज मे निहित नही होता तो उस बीज से आम्र वृक्ष भी उत्पन्न हो सकता था। पर ऐसा कभी होता नही। इसमें स्पष्ट है कि वटत्व सूक्ष्म रूप से बीज मे विद्यमान था। इसीलिए अनुकूल परिस्थितियां पाकर वह वट वृक्ष में परिणत हुआ। इस परिणति के कारण सांख्य सिद्धान्त को परिणामवाद भी बताया जाता है।

सांख्य की तीन शाखाएं मानी जाती हैं। एक के अनुसार तत्व केवल 24 हैं। दूसरी के अनुसार वे ईश्वर सहित 25 हैं। अंतिम शाखा 26 मानती है। इसके अनुसार एक 'प्रधान' तत्व भी है जो पुरुष के अतिरिक्त है।

सांख्य का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ षष्टितंत्र बताया गया है। सांख्यकारिका के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने इसका उल्लेख किया है। हमने नही देखा है। मिश्र जी के अनुसार उसमें 60 तंत्र हैं जिनके विषय क्रमशः प्रकृति की सत्ता, उसका एकत्व, पुरुष से उसका भेद, पुरुष के लिए उसका महत्त्व, पुरुषों का अनेकत्व, पुरुषों के संबंध और वियोग, तत्त्वों की उत्पत्ति, पुरुषों के नैष्कर्म्य आदि से संबंधित दस तंत्रों के अतिरिक्त, पांच तंत्र विपर्ययों के, नौ तुष्टियों के, अट्ठाईस इंद्रिय दोषों के और आठ सिद्धियों के संबंध में हैं। यों कुल साठ तंत्र हैं। पर अहिर्बुध्न्य संहिता में परिगणित तंत्रों की सूची इससे भिन्न है। अस्तु, जिन्हें देखना हो मूल ग्रंथ देखें। अन्यथा हमारी तरह संतोष करें।

पतंजलि का योग दर्शन 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' सूत्र से आरंभ होता है, अर्थात् चित्त की वृत्तियो का निरोध ही योग है। टीकाकारों ने इस विषय पर गहन विचार किया है कि 'चित्त' क्या है, उसकी 'वृत्तिया' क्या हैं और उनका 'निरोध' क्या है तथा कैसे संभव है। पतंजलि ने सांख्य दर्शन के सृष्टि तत्त्व को यथावत् स्वीकार किया। उसमे केवल 'ईश्वर' तत्त्व को जोडा। पर उसे सृष्टि-कर्ता मान कर नही, केवल चित्तवृत्ति-निरोध के लिए ध्येय तत्त्व के रूप मे। चित्तवृत्ति निरोध के लिए आठ साधन बताये गये है जिन्हें अष्टाग योग कहते हैं। वे आठ योग हैं · यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, और समाधि। मैत्रायणी उपनिषद् मे भी योग का उल्लेख है पर उसमे छः ही साधन बताये गये हैं : प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यानधारणा-तर्क-समाधि षडंग इत्युच्यते योगः। यों यम और नियम का उल्लेख नही है। 'आसन' का स्थान 'तर्क' ने ले लिया है।

आश्चर्य की बात है कि मैत्रायणी उपनिषद् के विरुद्ध आजकल के योगिराज नारे क्यो नही लगाते। कदाचित् उन्हें यह सूचना नही है। आज कल तो गली-गली मे 'योगा' के विद्यालय चल रहे हैं जिनमें पंद्रह-बीस वर्ष के अल्पायु गुरु निःशुल्क योग शिक्षा देते हैं। एक बार हमारे पड़ोसी की बीस वर्षीया पुत्री मेरे पास भी आयी। कहने लगी चाचा जी आप भी चला कीजिए योगा सीखने। मैंने कहा—बेटी, योग बहुत दुर्लभ ज्ञान है। यों सड़क पर बिकने वाली वस्तु नही है। उसे सीखने-सिखाने के लिए बहुत अधिक ज्ञान और अनुभव अपेक्षित होता है, बहुत अधिक आत्म-नियंत्रण—यम-नियम—का पालन अपेक्षित होता है। अतः मैं तो पात्र नही है। गुरु तो अति दुर्लभ हैं। बिटिया बोली—चाचा जी, आप चिन्ता न करें आपकी सब शंकाओं का सम्यक्तया निराकरण किया जाएगा, मुझे योगा का पूरा ज्ञान हो गया है। मैंने पूछा—तुम्ही गुरु हो क्या? फिर तो बताओ कि राजयोग सिखाओगी, या ब्रह्म योग, या अक्षर योग, या सांख्य योग, या हठ योग। वह बगलें झांकने लगी। बोली—ये सब तो बेकार की बातें है; मैं तो 'योगा' सिखाती हू। फिर बताने लगी शीर्षासन का महत्त्व। मैंने कहा—बेटी, शीर्षासन तो सभी पेड़-पौधे करते है। आदमी तो विकास की अंतिम अवस्था मे पहुंचा है तब उसका सिर ऊंचा हुआ है। फिर क्यों नीचा करने को विवश कर रही हो। मस्तिष्क मे रक्त की मात्रा अधिक पहुंच गयी तो तत्काल मृत्यु भी हो सकती है। वह निराश चली गयी। मुझे अपना अगाध ज्ञान नही दे सकी। आज के योगी कहते हैं 'योग' से सब 'रोग' समाप्त हो सकते है। हमे विश्वास है कि सब 'लोग' भी समाप्त हो सकते हैं।

रोग निवारण की चर्चा योग सूत्रो के व्यास भाष्य मे भी हुई है। वहा कहा गया है कि जैसे चिकित्सा शास्त्र के चार व्यूह है . रोग, रोग हेतु, आरोग्य और

भैषज्य उसी प्रकार योग के भी चार ही व्यूह हैं : संसार, ससारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय। संसार दुःख बहुल है अतः हेय है। प्रधान और पुरुष का संयोग हेय का हेतु है। इस संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति 'हान' कहलाती है और हान का उपाय सम्यग् दर्शन है : यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगो, रोगहेतुः आरोग्यं, भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेय। तद्यथा संसारः, संसारहेतुः, मोक्षः, मोक्षोपायः। दुःख बहुलः संसारोहेयः। प्रधान पुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोग स्यात्यन्तिकीनिवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग् दर्शनम्।

योग सूत्र अविद्या की चर्चा भी करते हैं : अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिदुःखात्मख्यातिरविद्या। इस अविद्या को योग से दूर करने की बात भी कही गई है। उस विस्तार मे न जाकर सांख्य योग का प्रकरण यहीं समाप्त करते हैं।

मीमांसा—वेदों की रक्षा का पूरा भार अपने कंधों पर उठाने वाला मीमांसा दर्शन तव पूर्व मीमांसा दर्शन कहलाता है जब वेदान्त को उत्तर मीमांसा कहा जाता है। जैमिनीय सूत्र ही इस दर्शन का प्राचीनतम विवेचन माने जाने के अधिकारी हैं जिनका आरभ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' और धर्म की परिभाषा 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' से होता है। भर्तृमित्र, भवदास, हरि और उपवर्ष के मीमांसा भाष्यों की रचना के उल्लेख मिलते हैं पर उपलब्ध भाष्यों मे शाबर भाष्य ही प्रमुख है। फिर भी मीमांसा की शास्त्र रूप में प्रामाणिक स्थापना कुमारिल भट्ट और उनके प्रमुख विरोधी शिष्य प्रभाकर की रचनाओं से ही हुई। उन दोनों ने दो शाखाओं को जन्म दिया।

मीमांसा दर्शन की मुख्य स्थापना है स्वतः प्रामाण्यवाद। उस दर्शन के अनुसार वेदों का ज्ञान तो स्वतः प्रमाण है, उसके लिए अन्य किसी प्रमाण की क्या आवश्यकता? यह स्थापना न्याय के परतः प्रामाण्य सिद्धान्त की विरोधी है। मीमांसा के अनुसार ज्ञान के विषय को प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान अपनी सत्यता का सत्यापन स्वयं कर देता है। इसके लिए किसी भी इतर-ज्ञान की आवश्यकता नही। न्याय के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति इंद्रिय-संनिकर्ष से होती है। मीमांसा के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति स्वयमेव होती है। उसका कोई बाह्यजनक नही होता।

मीमांसा दर्शन के अनुसार न्याय के चार प्रमाणों के अतिरिक्त अर्थापत्ति और अनुपलब्धि नामक प्रमाण भी होते हैं। इनका न तो अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है और न उपमान में। इसका विस्तार से विवेचना मीमांसा ग्रंथों मे मिलती है।

शब्दों के अर्थों का ज्ञान किस प्रकार होता है, इस भाषा शास्त्रीय प्रश्न पर

भी मीमांसा में विचार हुआ है। कुमारिल और प्रभाकर इस प्रसंग में एक मत नही हैं। कुमारिल की स्थापना अभिहितान्वयवाद कहलाती है। इसके अनुसार वाक्य का प्रत्येक शब्द स्वतंत्र रूप से सार्थक होता है। उसका अपना अर्थ होता है। ये शब्द सम्मिलित होकर जब वाक्य बनते हैं तो प्रसंगानुसार अर्थ अभिव्यक्त करते हैं। यों अभिहित शब्दों का अन्वय होने पर वाक्यार्थ होता है। प्रभाकर इस मत से सहमत नही हैं। उनका कथन है कि शब्दों का प्रयोग उनके पूर्वापर संबंध अर्थात् अन्वय के आधार पर ही होता है। वाक्य से पृथक् शब्द का अर्थ नही समझा जा सकता। यह मत अन्विताभिधान कहलाता है। हमें यही मत ठीक प्रतीत होता है।

वेदों की व्याख्या करते हुए मीमांसकों ने वेद का अर्थ मत्रो और ब्राह्मणों का संग्रह किया है जैसा कि धर्म सूत्रकारों, आपस्तम्ब आदि, ने किया था। ब्राह्मणों को 'विधि' भी कहा गया है। विधियों के तीन भेद किये गये है: अपूर्व विधि, नियम विधि और परिसंख्या विधि। अपूर्व विधि वह होती है जिसका हमें पहले से कोई ज्ञान नहीं होता। जैसे कार्यालय मे किसी कर्मचारी को नियुक्त होने पर बताया जाता है कि वह यदि अराजपत्रित है तो टिप्पणी लिखकर नीचे बाईं ओर केवल आद्यक्षर करे। दूसरी नियम विधि है जिसमे अनेक ज्ञात विधियो मे से एक विकल्प का निश्चित विधान होता है। यथा: किन कामों के लिए कर्मचारी अशासकीय टिप्पणी लिखे, किनके लिए शासकीय पत्र लिखे, किनके लिए अर्धशासकीय पत्र लिखे आदि। परिसंख्या विधि वह विधि है जिसका प्रयोग हो तो अनेक अवसरों पर सकता है पर किया विशेष अवसरों पर ही जाता हैं। जैसे विशेष अवसरों पर निमंत्रितों के लिए कार्ड छपवाना।

मीमांसकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे वेदों को स्वत: प्रमाण मानते हैं। अत. वेदों की प्रामाणिकता के लिए ईश्वर की भी आवश्यकता नही है। सारा ज्ञान स्वत: प्रमाणित है।

उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त के अनेक संप्रदाय है पर हम केवल अद्वैतवाद की ही चर्चा करेंगे क्योकि शेष संप्रदाय तो भक्ति संप्रदाय है। उन्हें दार्शनिक विवेचन की अधिक चिन्ता नही है। उन्हें तो भक्ति द्वारा भगवान को प्रसन्न करने की चिन्ता है। भक्ति के विषय मे भी भटकाव अधिक है। भटकाव तो अद्वैत सम्प्रदाय में भी है। बात यह है कि अद्वैत सम्प्रदाय का जो वाङ्मय उपलब्ध है उसमें ब्रह्म की ही एक मात्र चिरन्तन सत्ता का निरूपण तो ठीक है पर उसकी माया का निरूपण स्वप्न या सर्प रज्जु न्याय जैसे प्रसंगों का प्रयोग करके ऐसा कठिन बना दिया गया है कि स्पष्ट सी बात अस्पष्ट हो जाती है। सब कुछ मिथ्या बताने वाला मायावाद असल मे ब्रह्म की माया का परिणाम नही रह जाता। वह तो लेखकों द्वारा प्रयुक्त शब्द ब्रह्म की ही माया का चमत्कार हो जाता है। इस

अध्याय के आरम्भ मे ब्रह्म से हुई पार्थिव सृष्टि तक का विवेचन किया गया है। वही ब्रह्म 'एकं ब्रह्म द्वितीयोनास्ति' या 'अहंब्रह्मास्मि' के मूल मे था। पर उसका निरूपण कुछ इस रूप मे हुआ जैसे जो कुछ दृश्यमान जगत् में दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब है ही नही। यह तो सत्य है कि परम सत्य केवल ब्रह्म है और शेष सब वस्तुओ की निर्मिति उसी से होती है जिनकी सत्ता अस्थायी है और उन्हें एक दिन पुन: ब्रह्म में परिणत होना पडेगा चाहे नील-पद्म-शख वर्ष बाद ही ऐसा हो। जो कभी-न-कभी नष्ट हो जाएगी उसे अनश्वर तो नही कहा जा सकता अत: अविनश्वर केवल ब्रह्म ही है पर जो इस समय है, चाहे अस्थायी रूप से ही सही, उसे भ्रान्तिजन्य या रज्जु सर्प या स्वप्नगत सत्य तो नही माना जा सकता। सारी कठिनाई यह है कि वेदान्त निरूपण का आरभ तो हुआ था आलंकारिक शैली में, लक्षणाओ से, पर बाद में उसे ही अभिहितार्थ माना जाने लगा और परम तत्त्व की खोज में वैज्ञानिक परिव्रजन के स्थान पर भगवा कपड़े पहन कर, गृहस्थ धर्म त्यागना ही मोक्ष का हेतु समझा जाने लगा।

शंकर का अद्वैतवाद विवर्तवाद भी कहलाता है क्योकि वह दृश्यमान जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नही करता। वह उसे ब्रह्म का परिणाम नहीं मानता, आभासमात्र मानता है, विवर्तमात्र मानता है। वह वाद सत्कारणवाद भी कहलाता है क्योकि वह कारण भूत ब्रह्म के ही अस्तित्व को स्वीकार करता है। जगत् रूपी कार्य के अस्तित्व को मिथ्या मानता है। पर मिथ्या का मूल अर्थ अस्थायी था; अर्थात् उसका कभी अभाव था, कभी पुन: अभाव हो जाएगा पर वर्तमान में भाव है। 'नाऽसतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत:' वाला आग्रह उचित नहीं है। 'जल मे कुभ, कुभ मे जल है' वाला दृष्टान्त तो ठीक है। घड़ा एक दिन फूटेगा तो अवश्य ही और उसका जल जल मे समा जाएगा पर अभी तो घड़ा है ही। सार यह है कि वेदान्त के भाव को सही और वैज्ञानिक पद्धति से समझने की आवश्यकता है। ब्रह्म भी सत्य है, उसकी माया भी सत्य है, आकाश तत्त्व से उत्पन्न हुए शेष तत्त्व भी तब तक सत्य हैं जब तक ब्रह्म मे पुन: लीन नही हो जाते, महाप्रलय नही हो जाती।

अब तक जो विवेचन हुआ है वह उन दर्शनों का है जो आस्तिक माने जाते हैं अर्थात् जो वेदों को प्रमाण मानते हैं। इनके अतिरिक्त जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन के चार भेद और चार्वाक् दर्शन मिलकर छ: नास्तिक दर्शन माने जाते हैं। ये वेदों को प्रमाण नहीं मानते इसलिए नास्तिक हैं। ईश्वर को मानने न मानने का आस्तिकता-नास्तिकता से संबंध नही है। उसे मानने वाले ईश्वरवादी और न मानने वाले अनीश्वरवादी कहलाते हैं। जैन दर्शन 'आत्म तत्त्व' को तो मानता है पर ईश्वर को नही। जीव को भव बंधनों से मुक्त कराने का उपाय घोर तपस्या आदि को तथा सम्यक् संबुद्धि को मानता है। इनकी तर्क शैली बड़ी प्रबुद्ध है।

लगता है इनके सामने स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक टिक नहीं सके थे इसीलिए वेदों के समर्थन हेतु नैयायिकों को अपनी तर्क शैली विकसित करनी पड़ी थी। जैनों की प्रत्यक्ष और अनुमान मूलक प्रमाण मीमांसा सुविकसित हैं। सृष्टिमूल विषयक पुद्गलवाद परिपुष्ट है, पर कृच्छ्र तप आदि के विधान अनावश्यक रूप से कठोर है। हां, उनका परपीडा से विरति का उपदेश अनुकरणीय है।

बौद्ध दर्शन अहिंसा आदि परपीडा विरोधी सिद्धान्तों में जैन दर्शन से मिलता है पर उसमे आत्म तत्त्व के लिए स्थान नही है। आत्मा का कार्य स्कधपंचक से लिया जाता है यद्यपि पुनर्जन्म में उनका भी विश्वास है। सौत्रान्तिक, वैभाषिक आदि उनकी चार शाखाएं हैं पर उस विस्तार में यहां नहीं जाएंगे। जहां तक तर्क प्रणाली का प्रश्न है, उनकी प्रणाली भी सुविकसित है। पाश्चात्य विद्वानो ने महावीर और बुद्ध के बाद ही भारतीय दर्शनों का व्यवस्थित विकास माना है पर इन्ही के ग्रंथों से स्पष्ट है कि इनसे पूर्व अनेक दार्शनिक धाराएं थी और सभी सुविकसित थी।

चार्वाक् दर्शन बौद्ध मत से भी इस बात में आगे है कि वह केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है और अदृष्ट सुख-दुःखादि की चिन्ता निरर्थक मानता है। वह दर्शन न पुनर्जन्म को मानता है, न मोक्ष, मुक्ति या अपवर्ग को। वह तो आकाश तत्त्व की भी चिन्ता करने की आवश्यकता नही समझता। यदि आरभ मे आकाश ही था और अन्त मे भी वही रह जाएगा तो हुआ करे, उसे तो केवल वर्तमान की चिन्ता है जो हमारे सामने घट रहा है। वह सर्वथा व्यावहारिक चिन्तन को महत्त्व देता है। ऋणकृत्वा घृतं पिबेत्, जैसे सिद्धान्त तो उनके विरोधियो ने उन पर आरोपित कर दिये हैं।

भारतीय दर्शनो में चार्वाक् को छोड़कर सभी पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व को आरंभ में न्याय वैशेषिक मानते थे। बाद में उन्होंने भी अणुवाद को मान लिया। और तो किसी भारतीय दर्शन ने उसके द्वारा सृष्टि रचना का प्रतिपादन करने की चर्चा ही नही की। अद्वैत वेदान्त ने तो सृष्टि रचना ही मिथ्या मानी। हां भक्ति सम्प्रदाय ईश्वरवादी हैं। उसके कर्तृत्व को भी मानते हैं।

खेद की बात है कि परवर्ती दार्शनिक सृष्टि के मूल तत्त्व ब्रह्म की चिन्ता छोड़कर आत्मोद्धार में अधिक लग गये। अतः हमें मानना ही पडता है कि—

पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः।

तावद् रामायण कथा

यह शीर्षक वाल्मीक रामायण के आरंभ में दी हुई कथा का अंश है। महर्षि वाल्मीकि व्याध के हाथ से क्रौंचमिथुन में से एक का वध देखते हैं और उनके मन मे उत्पन्न हुई करुणा एक श्लोक के रूप में प्रकट हो जाती है—निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ: श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः। जिस प्रथम श्लोक का उद्गिरण उनके मुख से होता है, वह है :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।

महर्षि अपने ही मुख से उद्गीर्ण इस अद्भुत वाणी से चकित रह जाते हैं। और सोचते हैं कि यह क्या हुआ; यह वाणी कैसी; कैसे उद्गत हुई। ब्रह्मा प्रकट होते हैं और उन्हें बताते हैं कि आपने श्लोक की ही रचना की है, चिन्ता न करें— श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा और फिर ब्रह्मा जी कहते हैं कि पवित्र श्लोक बद्ध रामकथा की मनोरम रचना करो : कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्। ब्रह्मा महर्षि को यह आश्वासन भी देते हैं कि जब तक पृथ्वी पर गिरिसरिताओं की विद्यमानता रहेगी तब तक लोक में रामायण की कथा होती रहेगी और तभी तक तुम्हारी रची इस रामकथा का भी प्रचार रहेगा :

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।
तावद् रामस्य च कथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति॥

पर लोगों को यह पाठ जमा नहीं। परवर्ती दोनों पंक्तियों में पुनरुक्ति सी लगी। अतः पाठ संशोधन कर लिया। दूसरी पंक्ति के प्रथम शब्द 'तावद्' को 'यावद्' बना दिया और चौथा चरण बना दिया—

तावदूर्ध्वमधश्चत्वं मल्लोकेषु निवत्स्यसि।

पर हमें तो ऊपर की तीन पंक्तियाँ ही ठीक लगती हैं जो प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में मिलती हैं। संशोधन-परिवर्धन ठीक नहीं लगता। अर्थ की संगति इस प्रकार है : इस संसार में जब तक नदी-पर्वत रहेंगे तब तक राम के अयन (उत्तरायण-दक्षिणायन) की घटना होती रहेगी और तब तक तुम्हारी विरचित यह राम कथा भी जन-जन मे प्रचलित रहेगी। ऊपर जैसा मनमाना संशोधन टीकाकार, संपादक आदि करते ही रहते हैं, अपनी-अपनी जानकारी के अनुसार। मल्लिनाथ ने कालिदास के 'विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीरविचेष्टनैः' में 'वंक्षु' को 'सिन्धु' बना दिया था क्योंकि उसे वंक्षु का तो नाम ही ज्ञात नहीं था और 'सिंधु' के विषय में भी यह ज्ञात नहीं था कि वह तो पारसीक देश से पूर्व मे है, उत्तर में नही। अतः उसके मन में यह प्रश्न भी नहीं उठा कि फिर 'ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्' की संगति कैसे बैठेगी। उसे तो पता था केवल काश्मीरजन्मा कुंकुम-केसर का। वंक्षु के तीर पर भी केसर के बाग होते हैं यह पता उसे न था। पर अन्य पूर्ववर्ती टीकाकारों ने 'वंक्षु' पाठ ही दिया है जिससे अर्थ-संगति की क्षति नहीं होती। रामायण के साथ भी ऐसी ही घटना हुई।

ये संपादक लोग प्रथम सर्ग के अर्थ निर्धारण मे अन्यत्र भी ऐसे ही गड़बड़ाये हैं। गीता प्रेस वाले संस्करण के श्लोक 87 के अर्थ में 'भेजा' क्रिया का प्रयोग है, 88 में 'गये' क्रिया का, 89 में 'प्राप्त किया' का पर 89, से 97 तक के सभी श्लोकों के अर्थ में होगा, होगी, रहेगा, होंगे, रहेंगे, करेंगे, रहेंगे, पधारेंगे जैसे भविष्य सूचक प्रयोग किये गये हैं। अर्थ कर्ता विद्वान् को व्याकरण की यह जानकारी तो है नही कि 'लृट्' का प्रयोग भूतकाल के अर्थ मे भी होता है। पाणिनि ने स्पष्ट कहा है—अभिज्ञा वचने लृट्। पुरानी घटनाओं का स्मरण करते हुए भी लृट् का प्रयोग होता है। नारद के वाक्यों मे ऐसा ही लृट् प्रयुक्त हुआ है। पर ऐसे ही भ्रष्ट अर्थों को पचाने के लिए बेचारा पाठक विवश है। प्रसंग से स्पष्ट है कि 89 से 97 तक के श्लोकों मे भी भूतकाल की क्रिया ही होनी चाहिए थी। पर दोष वाल्मीकि का नही, टीकाकारो का है।

हमें तो रामायण की रचना कथा को पढ़कर स्पष्ट दीखता है कि वाल्मीकि जी को आशीर्वाद देने वाला ब्रह्मा अक्षवाट का आचार्य ब्रह्मा है और रामकथा बताने वाला नारद है उसका वह पुत्र जो 'कट्टुमरम्' मे बैठकर मकर रेखा तक घूम आया था। नारद शब्द को समझने के लिए हमें 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' जानना होगा। नारा का अर्थ जल है और 'नारद' का अर्थ है जल में घूम-घूमकर ज्ञान राशि अर्जित करके देने वाला।

वाल्मीकि रामायण की 'आदिकाव्य' के रूप में ख्याति है पर उसकी प्रौढ़ता, उसकी अद्‌भुत वर्णन कुशलता, उसका प्रकाण्ड वाग्वैदग्ध्य, उसका अपूर्व कल्पना कौशल देखकर हमें तो लगता नही कि वह आदि काव्य है। वह तो बहुत ही

समृद्ध काव्य परंपरा की परिणति प्रतीत होने वाली रचना है। हमें तो लगता है कि इस कथा की प्रथम रचना अक्षवाटो की क्षेत्रीय भाषा में हुई थी और जिसे हम आज वाल्मीकि रामायण कहते हैं वह उस मूल रामायण का प्रथम संस्कृत अनुवाद है जो उदीच्यों के उपकार के लिए किया गया। हां उदीच्यों की भाषा में वेदवाणी के पश्चात् यही प्रथम काव्य निर्मिति रही होगी। तभी तो वाल्मीकि का उल्लेख उसमें अन्य पुरुष में हुआ है और बताया गया है कि वाल्मीकि ने रामकथा नारद से सुनी और ब्रह्मा ने उसे प्रोत्साहन दिया। नारद के अतिरिक्त कथा वता भी कौन सकता था। धरायणत्व को छोड़कर नारायणत्व धारण करने वाला सूर्य के पीछे नारायण-नारायण करता, उसकी भक्ति करता, चौदह नक्षत्रों के चौदह लोकों में वही तो कट्टुमरम् में बैठा पीछा करता रहा था।

तो आइए रामकथा का थोड़ा-सा रसपान हम भी कर लें जिसके लिए भारत का नागरिक तो लालायित रहता ही है; तिब्बत, बर्मा और सुदूरपूर्व के देश भी जिसके रस के लिए आतुर रहते हैं। भारत में बौद्धों, जैनों तथा वेदवादी आस्तिकों सभी मे यह कथा विविध रूपों में दृष्टिगोचर होती है। कहीं राम, लक्ष्मण और सीता परस्पर भाई-बहन हैं और राजा दशरथ के पुत्र-पुत्री हैं तो कहीं सीता रावण की पत्नी मंदोदरी की कुक्षि से जन्मी पुत्री है जिसे अशुभ और पितृघातिनी मानकर जनक के राज्य क्षेत्र की भूमि में गड़वा दिया गया था। कहीं राम एक पत्नीव्रती हैं तो कहीं उनकी हजारों रानियां हैं। कहीं राम के पराजित होने पर सीता महो रावण का वध करती हैं तो कहीं वह अपनी ननद के आग्रह पर रावण का चित्र बनाने के कारण, ननंद की ही शिकायत पर राम द्वारा निर्वासित की जाती हैं। रामकथा की इस विविधता को देखकर फादर कामिल बुल्के ने उस विषय पर बहुत शोध कार्य किया था और 'रामकथा' नामक पुस्तक भी लिखी थी। पुस्तक पठनीय है।

हम अब पाठक से आग्रह करेंगे कि वह कृपया आरंभ में दिए गये मानचित्र पर ध्यान दे। उसमे जो वृष राशि का क्षेत्र है उस पर छायालोपी किरणें डालने वाला सूर्य ही 'राम' है। चित्र से स्पष्ट है कि वृष के क्षेत्र में कृत्तिका, रोहिणी और मृग नामक तीन नक्षत्र आते हैं। इन्हीं तीनों मे सबंधित हैं तीन राम : मार्गवेय, औपतस्विनी और क्रातुजातेय। वे क्रमशः मृग, रोहिणी और कृत्तिका के सूर्य हैं। मार्गवेय और क्रातुजातेय का संबंध तो मृग और कृत्तिका नक्षत्रों से स्पष्ट है पर औपतस्विनी का रोहिणी से क्या संबंध ? इसका उत्तर यह कि रोहण और वपन दोनों ही बीजों के कर्म हैं। 'उप्त' वप् धातु का क्तांत रूप है। 'उप्त' से औपतस्विनी उसी प्रकार व्युत्पन्न होता है जिस प्रकार रुह् से रोहिणी। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथों के ये तीन राम ही पुराणों में क्रमशः परशुराम, राम और बलराम बन जाते हैं। कृत्तिका अर्थात् कटार या कुठार वाला परशुराम है तो मृग के

पीछे भागने वाला भी राम है। रोहिणी अर्थात् गाड़ी में जुतने वाला राम हलधर बलीवर्द है ही।

अ र रामायण कथा को लेते हैं जो संक्षेप मे इस प्रकार है:—राजा दशरथ के तीन रानियां थी जिनसे राम-लक्ष्मण आदि चार पुत्र हुए। उनमें लक्ष्मण राम का अनुयायी था। वे दानों विश्वामित्र के साथ जनकपुर गये। वहां शिव का धनुप तोड़ा और सीता से विवाह किया। फिर अयोध्या लौटे। वहां राम को सिंहासन पर बैठना था पर वनगमन मिला। वहां राम स्वर्ण मृग के पीछे भागे। बाद में लक्ष्मण भी उसके पीछे गये। पीछे से सीता का हरण हो गया। उसे लंका-नरेश रावण अपनी नगरी लंका ले गया जो समुद्र के मध्य थी। श्रीराम और लक्ष्मण ने उन पर आक्रमण किया तथा रावण, कुंभकर्ण, मेघनाद को मार कर सीता को वापस पाया। अयोध्या लौटे। राम सिंहासन पर बैठे। सीता का परित्याग हुआ। वन में उसके दो पुत्र हुए। नाम थे लव और कुश। सीता भूमि में प्रविष्ट हो गई। बाद में राम वैकुंठ चले गये। राम के एक परम भक्त हैं हनुमान जो केसरी-वानर और अंजनी माता के पुत्र हैं। वे वायुपुत्र भी कहलाते हैं, शंकर सुत भी।

अब इस रामायण और सूर्य के प्राकृतिक अयन की परस्पर तुलना करें। राम का कुछ परिचय ऊपर दे चुके है। उसका संबध वृप राशि और कृत्तिका, रोहिणी तथा मृग नक्षत्रों से बताया जा चुका है। रोहिणी का अर्थ गाड़ी या रथ बताया जा चुका है। सूर्य की उत्तरायण यात्रा मे जो भूमिक्षेत्र कृत्तिका-रोहिणी-मृग का है वही दक्षिणायन में चित्रा-स्वाति-विशाखा का है। रोहिणी और विशाखा के पांच-पाच तारे हैं। इन दस तारों को ध्यान में रखकर रोहिणी पति सूर्य की कल्पना 'दाशरथि' के रूप में की गयी। वह 'दाशरथि' जब 'दशरथस्य अपत्य' के रूप में व्युत्पन्न किया गया तो उसके पिता 'मेष' सूर्य की 'दशरथ' संज्ञा हो गयी। उसकी तीन पत्नियां हुई: अश्विनी, भरणी और कृत्तिका। अश्विनी अर्थात् कौशल्या राम की माता है, भरणी भरत की माता कैकेयी है और कृत्तिका का संबंध दो राशियों मेप और वृप से है अत: कृत्तिका रूपी सुमित्रा के दो पुत्र होते है लक्ष्मण और शत्रुघ्न। दशरथ की यह कल्पना रामायण तक सीमित नही है ऋग्वेद जैसे प्राचीन ग्रथ मे भी है। मेष क्षेत्र का उत्तरायण-दक्षिणायन मिलाकर छ: नक्षत्रों से संबंध है। इनके कुल चालीस तारे हैं। इनका ऋग्वेद में वर्णन इस प्रकार है:—चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणा: सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति अर्थात् दशरथ के शोण रंग के (कुमेत) घोड़े सहस्रश्रेणि को आगे ले जा रहे हैं।

दशरथ के बड़े पुत्र वृषस्थ सूर्य राम हैं। उनसे एक पक्ष छोटे वृष के चन्द्र हैं जिनका कथा में नाम लक्ष्मण है। लक्ष्मण का शब्दार्थ है लक्ष्म (कलंक) वाला। एक पत्नीव्रती राम की पत्नी भूसुता सीता नही स्वयं भूमि है। उस सीता भूमि से वैदिक मन्त्रद्रष्टा परिचित था:—सीते वंदामहे त्वार्वाची सुभगे भव। यथा न:

सुमना असो यथा नः सुफला भव। फल-फूलो से संपन्न होने की यह प्रार्थना सीता भूमि से ही है। अथर्व वेद के सीरा युंजंती विषयक मंत्र एक ओर उसका भूमि से संबंध जोडते हैं तो दूसरी ओर उसके जनक (सीरध्वज)के हल से निकली होने का संकेत करते है। रोहिणी भूखंड की समाप्ति पर ही सिहल भूमि आरंभ होनी है अतः रोहिणी पृथ्वी से ही सीता की उत्पत्ति बतायी गयी है। रोहिणी नक्षत्र के देवता प्रजापति माने गये हैं। प्रजापति और जनक पर्याय हैं। जनक का ही अन्य नाम 'सीरध्वज' है जिसका अर्थ वृष भी है। यों सीता वृषभानुजा है। इसका दूसरा अर्थ वृषभ अनुजा भी है। यों दशरथ-जातक की कहानी भी सच बन जाती है जिसके अनुसार सीता राम की बहन है। सूर्य का मिथुन-कन्या राशि के क्षेत्र मे प्रवेश ही वृषसूर्य राम और कन्याभूमि सीता के मिथुन के अर्थात् विवाह के रूप में वर्णित है। सूर्य के मिथुन राशि में प्रवेश के आसपास ही ज्येष्ठ का पूर्ण चद्र धनुराशि मे होता है। इसी का उल्लेख रामकथा मे चंद्रभाल के धनुर्भंग के रूप मे हुआ है।

मानचित्र से स्पष्ट है कि मिथुन के बाद उत्तरायण में कर्क,का क्षेत्र आता है, दक्षिणायन में वही सिंह का क्षेत्र होता है। कर्क का स्वामी चंद्र है और] सिंह का सूर्य। यो विवाह के पश्चात् राम-लक्ष्मण सीता सहित अपने प्रदेश में वापस आते हैं। वहां राम के सिंह-आसन पर बैठने की तैयारी होती है तो उसे वनवास की आज्ञा हो जाती है। अर्थात् दक्षिणायन आरंभहो जाता है। जनक की कन्या सीता (कन्या राशि की भूमि) भी उनके साथ दक्षिण यात्रा करती है। दक्षिण में जल है जिसे 'वन' कहा गया है। कोशकार भी 'वन' को जल का पर्याय मानते हैं—जीवनं भुवनं वनम्।

आषाढ़ के आरंभ में सूर्य आता है मृग नक्षत्र पर और अमावस्या के आस-पास चंद्र भी मृग नक्षत्र पर पहुंच जाता है और तभी सूर्य की छायालोपी स्थिति सिहल भूमि से भी दक्षिण में चली जाती है, अर्थात् सीता भूमि का अपहरण हो जाता है और वह पहुंच जाती है लंका के तुला क्षेत्र पर। यह लंका भूमध्य रेखा परहै और वहां राज्य है दशानन रावण का। दशानन और रावण दोनोंही सार्थक शब्द हैं।आज के भूगोल वेत्ता बताते हैं कि भूमध्य रेखा के उत्तर और दक्षिण में पाच-पाच अंशों की पट्टी ऐसी है जहां रोज सायंकाल मेघों की गड़गड़ाहट होती है। और इसीलिए उस क्षेत्र को 'डोलड्रम्स' क्षेत्र कहते हैं। 'रावण' का शब्दार्थ भी 'रव का समूह' अर्थात् गड़गड़ाहट ही है और पांच अंश उत्तर और पांच अंश दक्षिण का यह क्षेत्र ही दशानन का क्षेत्र है। उसके बाद धनु-मीन का क्षेत्र है जो तुला-वृष क्षेत्र के समान ही मेघ गर्जन का क्षेत्र हं। इसलिए उसे 'मेघनाद' का क्षेत्र ठीक ही माना गया है। उसके बाद का क्षेत्र मकर-कुंभ का है। ध्यान रहे कुंभ के क्षेत्र का ही एक भाग श्रवण (कर्ण) नक्षत्र का भी है अतः उसे कुंभकर्ण

का क्षेत्र कहना उचित ही है। उसी क्षेत्र को मकर का क्षेत्र भी माना जाता है। हिन्देशिया की रचना 'हिकायत सेरिराम' में उल्लेख है कि रावण द्वारा समुद्र में फेंका हुआ विभीषण एक मकर पर बैठकर अपनी रक्षा करता है। मकर ही दक्षिणायन की सीमा है अत: मकरारूढ विभीषण को ही राज्य सौंपकर राम अयोध्या की दिशा में उन्मुख होते हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कुंभ से काफी दक्षिण में वह दक्षिणध्रुवीय क्षेत्र है जहां छ: मास का दिन होता है और छ: मास की रात्रि। इसी रात्रि को कुंभकर्ण का शयन काल बताया जाता है। अक्षय-कुमार शून्य अक्षांश है और मकराक्ष मकर का अक्षांश।

अस्तु रावण, मेघनाद और कुंभकर्ण के क्षेत्र को पददलित करके श्रीराम-लक्ष्मण-सीता वापस भूमि पर आते हैं अर्थात् छायालोपी घटना पुन: मिथुन-कन्या प्रदेश में होती है और यों वियुक्ता सीता का राम से मिलन होता है। अब वे अपने प्रदेश कर्क-सिंह क्षेत्र में आ जाते हैं और राम सिंहासन पर बैठते हैं। पर सीता के वन वास की, दक्षिणायन की, कथा फिर आरंभ हो जाती है। सार यही है कि उत्तरायण और दक्षिणायन का क्रम अनंत है।

वन में सीता के दो पुत्र उत्पन्न होते हैं: कुश और लव। ये दोनों ही दो प्रकार की घासों के नाम है जो भूमि पर उत्पन्न होती है। भूसुता भूमि में ही विलीन हो जाती है। राम भी वैकुंठ में, असीम आकाश में, चले जाते हैं।

रामकथा में राम की ऋक्ष-वानर सेना का उल्लेख है। केसरी के पुत्र हनुमान का उल्लेख है। वाली के वध का उल्लेख है। इन्हें भी किंचित् समझ लें। वाली का अर्थ होता है लंबी पूछ वाला। यह संभवत: कोई अति विशाल पूछवाला धूमकेतु था जिसकी पूंछ कभी सूर्य के आगे आ गयी थी। फलत: सूर्य के प्रकाश को दर्पण के समान फेंकने वाला चंद्र प्रकाश हीन हो गया था। तारा-गण भी छिपे हुए प्रतीत हुए थे। समय पाकर वह हट गया और सूर्य चंद्र-तारे पूर्ववत् प्रकाशमान दृष्टिगोचर होने लगे। इसे छिपे हुए राम द्वारा वाली का वध बताया गया। उसके पश्चात् तारा सुग्रीव को मिली। तारा 'अश्विनी' नक्षत्र है। सुग्रीव मेष का चंद्र है। सुग्रीव और अवतारी 'हयग्रीव' पर्याय हैं: अश्व जैसी ग्रीवा के कारण। अर्थात् यदि मेष को अश्विनी, भरणी और कृत्तिका में विभक्त करें तो अश्विनी ग्रीवा से ऊपर का भाग है, भरणी रुंड है और कृत्तिका चरण हैं। यों अश्विनी तारा सुग्रीव को प्राप्त हुई। इसमे हनुमान का सहयोग रहा। उसका उल्लेख वैदिक वाङ्मय में वृषा कपि के रूप में हुआ है। अत्र आरंभ के मान-चित्र में देखें। सिंह भूमि से दक्षिण में कन्यामिथुन की भूमि है। इन्ही की संयुक्त रूप से केसरी वानर और अंजनी भूमि के मिथुन के रूप में कल्पना है। मिस्र में एक मूर्ति है जिसका नाम स्फिंक्स है जिसका धड़ सिंह का और मुख कन्या का है। यहां विपरीत कल्पना है। सिर सिंह का है, धड़ नरकन्या का है। इसलिए प्रश्न

उठता है कि इसे सिंह कहें या नर (केसरी-वा-नर)। अंजनी भूमि तो कन्या प्रदेश की अंजन (काजल) जैसी काली भूमि ही है। इनसे उत्पन्न होता है वृषा-कपि 'सिंहल द्वीप', आज का श्रीलंका। यह मान चित्र में वृष-तुला का क्षेत्र है। वही समुद्र पार करने वाला हनुमान है। यही क्षेत्र रोहिणी और स्वाती नक्षत्रों का भी है जिनके देवता क्रमशः वायु और प्रजापति हैं। प्रजापति का अर्थ पिता (जनक) पहले बता चुके हैं। यों हनुमान का पिता वायु भी है। सिंहल समुद्र की गोद में होने के कारण शंकर (समुद्र)-सुत भी कहलाता है। यही शंकर-सुवन, केसरी-नंदन, अंजनिपुत्र, पवनसुत नामा का परिचय है। यही वृषाकपि का परिचय है। कपि तारे हैं और ऋक्ष भी। ऋक्ष का 'तारा' अर्थ किसी भी कोश मे मिल जाएगा।

यों 'रामकथा' राम रूपी सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन की कथा है। इसीलिए 'रामायण' के नाम से इस की ख्याति रही। वाल्मीकि विरचित राम-कथा 'रामायण' ही कहलाती रही, तुलसी का 'मानस' भी रामायण ही कहलाया। लोगों की जबान पर 'रामायण' शब्द ऐसा ही चढ चुका था। मानना होगा कि वाल्मीकि की कवन-क्षमता अद्भुत है। उसने कथा को बहुत ही मार्मिक बनाया है। ऐसी मार्मिकता संसार के बहुत कम वाङ्मय मे मिलती है। वाल्मीकि आदि कवि इस अर्थ में नही लगता कि उसने सब से पहले कवन-कर्म किया। उसकी प्रौढ़ता इसके विपरीत साक्ष्य प्रकट करती है। पर उत्कर्षता की दृष्टि से वह प्रथम स्थान का अधिकारी है, यही उसका आदि काव्यत्व है।

प्रथम अध्याय में बताया जा चुका है कि अक्षवाटो में कवि कर्म होता था तो न के विषयों का पौरुषीकरण करके उनको अभिव्यक्त किया जाता था। इन कवियों का एक लक्ष्य तो विज्ञान का कवन होता था पर दूसरे भी अनेक लक्ष्य होते थे। यथा : राजनीति का उपदेश, समाजनीति का ज्ञान, कुटुंब व्यवस्था और कुटुंब के सदस्यों के आदर्श आचरण-संस्कारों का उल्लेख, समाज के सदस्यों के कर्त्तव्यों का उल्लेख आदि। वाल्मीकि कृत रामायण कथा मे भी ये सब कुछ मिलेंगे पर उस मे प्रधान लक्ष्य है राजनीति का उपदेश। राजा द्वारा साम, दान, दण्ड और भेद नामक चारो उपायों को समान महत्व दिया जाना आवश्यक है। विश्वस्तेप्वपि न विश्वसेत्—किसी को विश्वसनीय मत मानो, कभी किसी का विश्वास न करो—यह राजनीत का मूल मंत्र है। राजनीति में सफलता के लिए सब प्रकार के हथ कंडे अपनाओ। आचरण के सामान्य आदर्शों को राजनीति में बाधक न होने दो। पहले अपने हित को सोचो बाद में आदर्शों को। विजयी होने वाला ही धर्मात्मा गिना जाता है, पराजित होने वाला ही पापी। अतः यथाकथ-चित् विजय प्राप्त करो। आत्माभ्युदय में पत्नी भी बाधक हो तो उसे भी छोड़ो। तभी राजनीति मे सफलता मिलेगी। यदि सफल रहे तो सभी दोष छिप जाएंगे।

वाल्मीकि रामायण राजनीति प्रधान काव्य है अतः ऊपर की बातों का उसमे पूरी तरह निर्वाह किया गया है। हां, जहां राजनीतिक हितों में बाधा न हो वहां समाजिक, पारिवारिक और लौकिक आदर्शों का पालन पूरी तरह किया गया है। पर जहां राजनीति के उपर्युक्त उपदेश का उल्लंघन होगा वहां पराजय होगी। वाली परम शक्ति संपन्न है। पर उसे शक्ति का अनावश्यक विश्वास, अन्यों के सुने-सुनाए चरित्र पर विश्वास और केवल साम-दंड की नीति में विश्वास नष्ट कर देते हैं ' उसे तारा सचेत करती है कि सुग्रीव अकेला नही है, उसको राम और लक्ष्मण नामक परमवीर मित्र मिल गये है अतः उससे युद्ध न करो। पर वाली मानता है कि राम-लक्ष्मण धर्म के ज्ञाता हैं, कर्त्तव्य के ज्ञाता हैं, वे भला सुग्रीव का पक्ष लेकर अकारण शत्रुता क्यों करेंगे—

न च कार्योविपादस्ते राघवं प्रति मत्कृते।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति।

परन्तु राम को धर्म और कर्त्तव्य एक ही लगता है कि सुग्रीव का उपकार करके उसको अपनी सहायता के लिए विवश किया जाए। छद्म से आहत हुआ वाली पूछता है कि मेरा-आपका कोई वैर न था। फिर भी आपने छिपकर मारने मे पराक्रम समझा, इसमें क्या पराक्रम था। सामने लड़े होते तो पहुंचे होते यम के घर। यदि सीता ही चाहिए थी तो मुझसे कहते, मैं लाकर देता। वह सुग्रीव क्या देगा जो अपनी पत्नी की भी रक्षा न कर सका—

उदासीनेषु योस्मासु विक्रमोऽयं प्रकाशितः।
नापकारिषु ते राम नैव पश्यामि विक्रमम्।
दृश्यमानस्तु युध्येथा मया युधि नृपात्मज।
अद्य वैवस्वतं देवं पश्येस्त्वं निहतो मया।
मामेव यदि पर्व त्वमेतदर्थमचोदयः
मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान् भवेः।

राम के उत्तर मे रंच मात्र भी औचित्य नही है। एक ओर यह कहना कि तुम वन्य प्राणी हो और वन्य प्राणियों का आखेट हमारा अधिकार है जब कि वानर आखेट के योग्य कभी नही माना गया और दूसरी ओर यह कहना कि तुमने अपने छोटे भाई की पत्नी को छीन कर पाप किया; इन दोनो मे कैसी संगति ? पशु से छोटे भाई और बड़े भाई की पत्नी के विचार की अपेक्षा करना क्या उचित है। यदि है तो मातृ तुल्या तारा को पत्नी बनाने वाले सुग्रीव को आशीर्वाद देना क्या उचित है। पर राम को तो सुग्रीव की सहायता से अपना काम करना था। राजनीति स्पष्ट कहती है कि सच्चा मित्र वही हो सकता है जिसका पहले

आप उपकार करें। राम ने सुग्रीव को पहले राज्य दिलवाया फिर उससे सहायता चाही। विभीषण को भी पहले राज्य देने की घोषणा की फिर उससे सहायता ली। यही राजनीति है।

रावण दूसरा शक्तिशाली है जो शक्ति के मद में अन्धा हो कर दान और भेद की नीति को नहीं अपनाता। अपितु उसका भाई कुम्भकर्ण तो विभीषण के सामने पड़कर कमजोरी दिखाते ही उसे स्पष्ट कहता है कि तुम ने हमारे साथ तो स्वार्थ-वश धोखा किया पर अब राम के साथ भी धोखा करके राक्षसकुल को कलंकित मत करना, उसकी ओर से वीरता पूर्वक ही लड़ना। राम दान और भेद की नीति अपनाते हैं, रावण नहीं अपनाता; इसीलिए परास्त होता है। यही वाल्मीकि का प्रतिपाद्य है। रावण चारित्रिक आदर्शों को महत्त्व देता है, राम राजनीतिक सफलता को। राम झगड़ा मोल लेने के उद्देश्य से ही रावण शासित भूमि में प्रवेश करते हैं और वहां की शासिका, रावण की बहन, के नाक-कान काट कर अकारण युद्ध का हेतु उत्पन्न करते हैं। पर रावण तब भी उन्हें केवल यह पाठ पढ़ाना चाहता है कि पराए घर की स्त्रियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। वह सीता को लंका मे लाकर भी उसकी सुख सुविधा का पूरा ध्यान रखता है, उसे कोई कष्ट नहीं होने देता, उसे किसी काम के लिए विवश नहीं करता।

दूसरी तरफ राम हैं जिन्हें अपने अभ्युदय की कामना है। अपने युग के प्रबलतम वीर रावण को पराजित करने से ही उन्हें अभ्युदय सिद्धि दिखायी देती है। अत: रावण के बिना किसी अपराध के ही वे उसके संपूर्ण राक्षस वर्ग को समाप्त कर देने की अकारण ही प्रतिज्ञा कर लेते हैं। सीता सच्चरित्रा नारी है। उसे राम का ऐसी प्रतिज्ञा करना बहुत ही अखरता है। वह उन्हें समझाने का भरपूर प्रयत्न करती है पर राम के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। बड़ा ही मार्मिक प्रसंग है। सीता कहती है—तीन विकट व्यसन होते हैं। मिथ्या वाक्य, परदारा-भिगमन और बिना वैर के हिंसा। हे राम, आपने मिथ्या वचन न कभी बोला है, न कभी बोलेंगे, यह मेरा विश्वास है। परस्त्री की कामना का भी आपके मन मे जन्म ही नहीं हो सकता। परंतु तीसरा व्यसन, अर्थात् बिना किसी वैर के अन्यों का प्राण हरण, तो लगता है आपके सामने ही खड़ा है। आपने इन ऋषियों के कहने से दडकारण्य के राक्षसों को समाप्त कर देने का बीड़ा उठा लिया है। आपके इस घोर निर्णय से मैं अति चिन्तित हूं। इससे आपका कल्याण कैसे हो सकता है! आपने बिना किसी वैर के दण्डक वन मे राक्षसों को मारने का निर्णय कर लिया। जरा सोचिए, इस अपराध को कोई वीरता कैसे मानेगा। पर खेद है कि आप वन में भी शस्त्र लेकर आये हैं। कम से कम यहां तो तपस्या कर लेते। जैसा देश वैसा कर्म, यह तो सोचना चाहिए। शस्त्र सेवन से बुद्धि दूषित होती है। इन हथियारों से तो अयोध्या लौटकर भी हिंसा ही करनी है। वन में तो कम

से कम इनसे पाप न करो। मेरा विश्वास है कि आप वन में तप करेंगे तो मेरे सास-ससुर की आत्मा प्रसन्न होगी—

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत।
मिथ्या वाक्यं तु प्रथमं तस्माद् गुरुतरावुभौ।
परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता।
मिथ्या वाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव।
कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्।
तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम्।
निर्वैरं क्रियते मोहात् तच्च ते समुपस्थितम्।
प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम्।
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम्।
ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्ट्वा मम चिन्ताकुलं मनः।
त्वद् वृत्तं चिन्तयन्त्या वै भवेन्निश्रेयसं हितम्।
बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान् दण्डकाश्रितान्।
अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न मन्स्यते।
क्वच शस्त्रं क्वच वनं क्वच क्षात्रं तपः क्वच।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम्।
कदर्यकलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात्।
पुनर्गत्वात्वयोध्यायां क्षात्रधर्मं चरिष्यसि।
अक्षया तु भवेत् प्रीतिः श्वश्रूश्वसुरयोर्मम।
यदि राज्यं हि संन्यस्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः।

परन्तु अरण्य में दी गयी सीता की यह सम्मति उसका अरण्य रोदन ही रह जाती है। राम अपनी प्रतिज्ञा निभाते हैं और अभ्युदय को प्राप्त होते हैं। राजनीति सफल होती है। चरित्र नीति विफल होती है।

राम ने रावण से युद्ध किया, उसे पराजित किया पर सीता को छुड़वाने के लिए नहीं, केवल अपने राजनीतिक स्वार्थ और गौरव के लिए। उन्होंने सीता से साफ कहा कि "यह मत समझना कि तुम्हारे लिए मैंने रावण को मारा। मैंने तो यह सिद्ध करने के लिए उसे मारा कि रघुवंशियों के भुजदण्डों में आज भी बल विद्यमान है। उनके सामने कोई टिक नहीं सकता। जहां तक तुम्हारा प्रश्न है, मैं तुम्हारा मुंह भी नहीं देखना चाहता। जैसे नेत्र रोगी को प्रकाश पीड़ा देता है वैसे ही तुम्हारा मुंह मेरी आंखों को दे रहा है। हट जाओ मेरी आंखों के आगे से। चली जाओ, जहां तुम्हें कोई रखे। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न जो भी तुम्हें रखे उसके पास रह लो। यदि वे न रखें तो हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवान् में से जो रखे, उसके पास रहो।

ये भी न रखें और राक्षस विभीषण रखे तो उसी के पास रहो। कोई न रखे तो भाड में जाओ। मेरे सामने से हट जाओ। तुम रावण की गोद में बैठी हो। मैं तुम्हें देख नहीं सकता।" और बेचारी सीता के सामने मार्ग बचता है केवल आत्मदाह का। पर उस परमोज्ज्वल-चरित्रा देवी का दहन करने की क्षमता अग्नि देव में नहीं है। वह उच्च स्वर से घोषणा करता है कि सीता परम पवित्र है, परम पवित्र है। मुझ से भी अधिक उज्ज्वल चरित्र वाली है। उस पर लांछन लगाने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। इस पवित्र चरित्रवाली देवी को स्वीकार करना तुम्हारा धर्म है। और तब इसे अपनी राजनीतिक विजय मान कर राम उसे स्वीकार करते हैं।

पर परम सतोगुणी सीता को तो सुख मिलना नहीं। राजनीति की बलि चढ़ना ही उसका भाग्य है। राम उसे किसी प्रजाजन की सुनी-सुनाई बात पर निर्वासित कर देते हैं। इस बात की भी चिन्ता नहीं करते कि वह गर्भिणी है। इस करुण प्रसंग का वर्णन करते हुए कालिदास तो चीख उठता है। अपना धर्मशास्त्रों का संपूर्ण ज्ञान उडेल देता है, सीता के पक्ष समर्थन में—"कह देना उस राजा से कि यदि उसने राजा का धर्म निभाया है तो यह तो बताये कि कौन से धर्मशास्त्र का उसने अनुसरण किया है। वेदमार्गी धर्मशास्त्र तो यही कहते हैं कि प्रत्यक्ष ही सब से बडा प्रमाण है और मैं अग्नि के द्वारा तुम्हारी आखों के सामने सर्वथा शुद्ध घोषित की गयी। रही बात लोकापवाद की, तो धर्म शास्त्र इस विषय में एकमत हैं कि सुनी-सुनाई बात को कोई साक्ष्य न माना जाए। फिर क्या तुमने अपने कुल धर्म का पालन किया या स्वयं ही धर्मशास्त्र बना लिया—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा, वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षं।
मां लोकवादश्रवणादहासी श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य ते।

पर उसी क्षण कालिदास को लगता है कि लोगों के मन में देवी सीता साधारण मानवी के स्तर पर न उतर आये अतः अपने मन का गुब्बार निकाल चुका कालिदास सीता की विचारधारा ही बदलवा देता है। वह उसी क्षण कहती है कि आप तो कल्याण मूर्ति हैं, मनमानी करने की बात भी नहीं सोच सकते। यह तो मेरे ही जन्मान्तर के पातकों का प्रभाव है कि मुझे यह सब सहना पड़ा। मैं तो मर जाती पर मेरे पेट मे आपका बच्चा है। उसकी रक्षा करना मेरा धर्म है। उसके उत्पन्न होने के बाद भगवान सूर्य पर एकाग्र दृष्टि होकर घोर तप करूंगी और यही प्रार्थना करूंगी कि जन्म-जन्मान्तर मे राम ही पति मिलें पर वियोग कष्ट न भोगना पड़े—

कल्याणमूर्तेरथवा तवायं न कामचारो मयि शंकनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः।

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।

कालिदास और वाल्मीकि दोनों ही की दृष्टि में सीता उज्ज्वल चरित्र का निकषोपल है। सीता के चरित्र की पराकाष्ठा तो वहां होती है जहां हनुमान् उससे कहता है कि माता, कहो तो इन राक्षसियों को मार डालूं जिन्होंने आपको सताया। सीता कहती है—पुत्र, इन्होंने तो सताया भी नहीं, पर सताया होता तब भी मैं तो प्रतिशोध की बात मन मे भी नही लाती क्योंकि मैंने ऋक्षवृत्ति धारण कर रखी है। ऋक्ष वृत्ति की मार्मिक कथा में व्याघ्र पीड़ित एक मानव वृक्ष पर चढ़ता है जहां एक रीछ बैठा है। व्याघ्र उसे कहता है कि देखो, यह मनुष्य सब प्राणियों का समान रूप से शत्रु है। इसे गिरा दो। मैं इसे खाकर चला जाऊंगा। पर रीछ कहता है कि शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है। मैं इसके कर्मों पर विचार नही करूंगा। रात को रीछ सो जाता है तो व्याघ्र मनुष्य से कहता है कि तुम मूर्ख हो जो इसका विश्वास करते हो। यह तो मेरे जाते ही तुम्हें मारेगा। इसे गिरा दो तो मैं इसे खाकर चला जाऊंगा। मनुष्य बातो मे आकर गिराने का यत्न करता है पर पेड़ों पर सोने का अभ्यासी रीछ गिरता नही। जब मनुष्य सो जाता है तो व्याघ्र रीछ से कहता है—देख लिया तूने, इस नीच को। अब तो गिरादे इस अधम को, ताकि खाकर चला जाऊं। तब भी रीछ कहता है—इसने जो किया सो यह जाने पर मैं तो इसकी रक्षा ही करूंगा। यह शरणागत है। यही—ऋक्षवृत्ति भगवती सीता की है।

हमें रामायण के अध्येताओं की एक बात बहुत खटकती है। वह है रावण के चरित्र पर लांछन और वह भी वाल्मीकि के नाम पर। और कवि चाहे जैसा चरित्र चित्रण करने को स्वतंत्र हैं पर वाल्मीकि के चित्रण की बात करें तब तो हमें अपने मन के भाव वाल्मीकि पर आरोपित करने का अधिकार नही है। वाल्मीकि ने रावण को प्रतिनायक तो अवश्य बनाया है पर उसका चरित्र प्रतिनायकोचित वरेण्य ही रखा है। उसे खलनायक नहीं बनाया है जैसा कि आज का हर पाठक समझता है। संस्कृत साहित्य मे अन्यत्र उसे कैसा चित्रित किया गया उसकी हम चर्चा नही करेंगे पर यह आग्रह करेंगे कि वाल्मीकि को पढ़ें और अपने मन से यह पूर्वाग्रह निकाल दें कि वाल्मीकि ने रावण को निकृष्ट चरित्र वाला माना था। वाल्मीकि के रावण का चरित्र अत्यन्त उदात्त है, गारिमा का आगार है। परम अनुकरणीय है।

रावण लंका का राजा है। लका भूमध्य रेखा पर स्थित द्वीप है। चारों तरफ समुद्र से घिरा। सदा समुद्र का भय। अतिवृष्टि का महाभय। झंझावातों, वात्याचक्रों का परम भय। सदा मृत्यु का अत्यधिक भय। वहां पहले था कुबेर का राज्य। ऋषिलोग जाते थे और हवन करते थे। कहते थे अमुक हवन से इन्द्र

प्रसन्न होगा, अतिवृष्टि से रक्षा होगी। अमुक से वायु प्रसन्न होगा—वात्याचक्रों-तूफानों से रक्षा होगी। अमुक से वरुण प्रसन्न होगा, समुद्र से रक्षा होगी। अमुक से कुबेर प्रसन्न होगा, तुम्हारी रक्षा करेगा। जनता लुटती थी। रावण को उसकी माता कैकसी ने बताया। नाना माल्यवान् ने बताया। रावण ने शक्ति अर्जित की। ज्ञान अर्जित किया। कुबेर को परास्त किया। राज्य संभाला। अच्छे तटबंध बनाकर लंका को समुद्र के उत्पातों से सुरक्षित किया, यों वरुण को पराजित किया। वैज्ञानिक रीतियों से वायुप्रवाह की गति को बदलना सीखा, यों वायु को जीता। मेघों को जब चाहो लाना और जब चाहो वापस भेजना संभव हुआ, यों इन्द्र परास्त हुआ। अब बारी थी यम की। चिकित्सा का विकास किया पर तभी ध्यान आया कि कोई मरेगा नहीं, बढ़ते ही रहेंगे तो कहां जायेंगे। अतः यम को छोड़ दिया। देश समृद्ध हो गया। लंका सोने की चिड़िया कहलाने लगी। सब की नजर उस पर थी। ऋषियों की रोजी-रोटी बंद हो गयी थी। वे ऐसे वीर की तलाश में थे जो रावण को मारे। उन्हें राम मिले। राम को उनके दिये मानचित्र मिले। सुग्रीव की सेना मिली। दान और भेद की नीति से विभीषण जैसा घर का भेदी मिला। राम को विजय मिली। विभीषण को राज्य मिला। ऋषियों को हवन-यज्ञ की सुविधा मिली। इन्द्र, वरुण और वायु को मौका मिला और एक दिन विभीषण समेत लंका पानी में जा मिली। आज वहां केवल जल है। यह राज-नीति की विजय थी, भेदनीति की जय थी, दान नीति की उपेक्षा की पराजय थी। पर वाल्मीकि को रावण के चरित्र पर लांछन लगाना अभीष्ट न था। यदि आप कहें कि रावण ने वेदवती को पकड़ने का यत्न किया तो उसका अर्थ यह है कि रावण के अनुसार वेदज्ञान कोई नारायण का एकाधिकार नहीं है, राजा भी उसे पाने की इच्छा कर सकता है। यदि आप कहें कि उसने रंभा के साथ व्यभिचार किया तो वह केवल यह बताने के लिए कि स्वर्ग में कोई किसी की पत्नी नहीं होती, उसे जो पहले पकड़े उसी की भोग्या होती है। उसे स्वर्ग की विधि बताई थी।

तो रावण मरा और वाल्मीकि को उसके चरित्र के उदात्ततम रूप के निरूपण का अवसर मिला। उत्कृष्टतम चरित्र वही होता है जिसकी उसके परम शत्रु प्रशंसा करें। वाल्मीकि ने रावण के दो परम शत्रुओं, विभीषण और राम के मुंह से ही उसके चरित्र का उद्‌घाटन करवाया है। रावण के मरते ही उसके परम शत्रु विभीषण के मुंह से सहसा उसकी प्रशंसा के बोल फूटे। आंखों से आंसुओं की अजस्रधारा फूटी। वह बोला—हाय! श्रेष्ठतम न्यायनीति का यह तुला-सेतु चला गया। धर्म का यह मूर्तिमान रूप चला गया। सात्विक वृत्तियों का यह पुंजीभूत रूप चला गया। श्रेष्ठ आचरण का यह आदर्शतम रूप चला गया। यह रावण नहीं मरा है, सूर्य ही पृथ्वी पर आ गिरा है। चंद्र अंधकार में विलीन हो गया है।

अग्निदेव उष्मा खो बैठा है। सत्कर्म निरर्थक हो गये हैं। शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ इस वीर के मर जाने पर सद्वृत्ति रहित इस संसार में रह क्या गया ? धैर्य जिसके पत्ते थे, किसी के सामने न दबना जिसके पुष्प थे, तप जिसका दृढ़ तना था, शूरता जिसका दृढ़ मूल था, उस महान् राक्षसराज रूपी वृक्ष को इस राम रूपी प्रचंडवायु ने उखाड़ फेंका, मसल दिया। गज यूथ के रक्षक इस गजराज की राम रूपी सिंह ने हत्या कर दी। राक्षस-वंश-रूपी-गोवंश के रक्षक इस सांड का राम रूपी व्याघ्र ने वध कर दिया। इस गरिमा की प्रचंड अग्नि को राम रूपी मेघ जल ने बुझा दिया—

गतः सेतुः सुनीतानां गतो धर्मस्य विग्रहः।
गतः सत्वस्य संक्षेपः सुगतानां गतिर्गता।
आदित्यःपतितो भूमौ मग्नस्तमसि चंद्रमाः।
चित्रभानुःप्रशान्तार्चिर्व्यवसायो निरुद्यमः।
अस्मिन् निपतिते वीरे भूमौ शस्त्रभृतां वरे।
किं शेषमिहलोकस्य गतसत्वस्य संप्रति।
धृतिप्रबालः प्रसभाग्र्यपुष्पस्तपोबलः शौर्यनिबद्धमूलः।
रणे महान् राक्षसराजवृक्षः सम्मर्दितो राघवमारुतेन।

राम को चिन्ता हुई। यह कहीं शस्त्र न उठा लें। रावण सेना का अग्रणी न हो जाए। पराजित तो होगा पर दो तीन दिन तो युद्ध और खिंच ही जाएगा। उभय पक्ष की क्षति भी होगी। अतः उसका ध्यान अन्यत्र आकृष्ट करने के उद्देश्य से कहा—भाई, अब रोने-धोने से क्या लाभ है। इसने ऐसा कोई घटिया काम तो किया नहीं जो हमें रोना पड़े। यह तो गरिमा के साथ जिया, गरिमा के साथ मरा। सच्चे वीर की मौत मरा। यह खूब लडा। इसने प्रचड विक्रम का प्रदर्शन किया। महान् उत्साह का यह निदर्शन बना। कट कर गिरते समय भी इसके मुख पर भय का लेश नहीं था। जो इस प्रकार अभ्युदय की कामना करते हुए शौर्य का प्रदर्शन करके रणभूमि में मरते है उनके लिए रोना क्या उचित है ? यह तो वह वीर है जिससे लडते इन्द्र भी डरता था। किसी की सदा विजय ही हो यह तो होता नहीं। पर वीर उसे कहते हैं जो या तो शत्रु को मारता है या स्वयं लडता-लडता मरता है। क्षत्रियोचित गति यही बतायी गयी है। अतः जो क्षत्रिय युद्ध में लडते-लडते मरता है उसके लिए शोक नहीं किया जाता—

नायं विनष्टो निश्चेष्टः समरे चण्डविक्रमः।
अत्युन्नतमहोत्साहः पतितोयमशंकितः।
नैवं विनष्टाः शोचन्ते क्षत्रधर्मव्यवस्थिताः।
वृद्धिमाशंसमाना ये निपतन्ति रणाजिरे।

येन सेन्द्रास्त्रयो लोकास्त्रासिता युधि धीमता।
तस्मिन् कालसमाविष्टे न कालः परिशोचितुम्।
नैकान्तविजयो युद्धे भूतपूर्वः कदाचन।
परैर्वा हन्यते वीरः परान् वा हन्ति संयुगे।
इयंहिपूर्वैः संदिष्टा गतिः क्षत्रियसम्मता।
क्षत्रियो निहतः संख्ये न शोच्य इति निश्चयः।

फिर राम कहते है रोना-धोना छोड़ो। आगे क्या करना है सोचो। तब विभीषण बोला—इसने बहुत दान दिये थे। बहुत भोग भोगे थे। भृत्यों का पोषण किया था। मित्रों में धन बाँटा था। शत्रुओं पर वैर निकाला था। यह बड़ा आहिताग्नि, तपस्वी और वेदों में पारंगत था। यह युद्ध कर्म में अग्रणी था। अब कहो तो इसका प्रेतकृत्य कर दूं।

अनेन दत्तानि वनीपकेषु, भोगाश्च भुक्ता निभृताश्च भृत्या।
धनानि मित्रेषु समर्पितानि वैराण्यमित्रेषु च यापितानि।
एषोहिताग्निश्च महातपाश्च वेदान्तगः कर्मसु चाग्र्यशूरः।
एतस्य यत्प्रेतगतस्य कृत्यं तत्कर्तुमिच्छामि तव प्रसादात्।

राम तो यही चाहते थे। उसे किसी काम में लगा देना चाहते थे। मन में रावण के प्रति श्रद्धा से भी विनत थे। बोले—भाई, इस शव से हमारा क्या वैर। वैर तो इसके मरते ही समाप्त हो गया। वैसे वैर था भी क्या। हम तो अपने प्रयोजन से लड़े थे। मुझे विजयश्री पाने की इच्छा थी, तुम्हें राज्यश्री पाने की, इसीलिए हम लड़े। अब हमारा इस से क्या वैर। यह तुम्हारा बड़ा भाई था अतः मैं भी बड़ा भाई ही मानता हूँ। इसका संस्कार करो—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।

पर एक बाधा आ गयी। रावण की पत्नियों ने शव को घेर लिया। लिपट गयी। कोई आधा घंटा हो गया। पर वे छोड़ें ही नहीं। यह समय विभीषण को सोचने को मिला। सोचकर वह कांप उठा होगा—हाय, मैंने बिना सोचे क्या बक दिया ? राम रुष्ट हो गये तो ? राजगद्दी न दी तो ? क्या सब श्रम व्यर्थ गया। उधर राम चिन्तित। यह विभीषण क्या सोच रहा है ? शस्त्र उठाने की बात सोच रहा है क्या ? अनर्थ हो जाएगा। वे तुरन्त बोले—विभीषण, भाई का संस्कार करो, स्त्रियों को सान्त्वना देकर हटाओ। विभीषण तो इसी मौके की तलाश में था। अपनी निष्ठा व्यक्त करने का अवसर चाहता था। खूब सोच विचार कर, अपने हिताहित को ध्यान में रखकर बोला—यह धर्म हीन था, क्रूर

था, नृशंस था, परस्त्रीकामी था। अतः इस योग्य नही कि मैं इसका संस्कार करूँ। यह तो मेरे भाई के रूप मे मेरा शत्रु था। सभी का अहित करता था। यह बड़ा होने के कारण पूज्य था पर इस के कर्म ऐसे नही कि इसकी पूजा करूँ। चाहे लोग मुझे नृशंस कहें पर मैं इसका सस्कार नही करूंगा। लोगों को जब इसके कर्म बताऊंगा तो वे मान जाएंगे कि यह पूजा योग्य नही था—

तमुवाच ततो धीमान् विभीषण इदं वचः।
विमृश्य बुद्ध्या प्रथितं आत्मार्थसहितं हितम्।
त्यक्तधर्मव्रतं क्रूरं नृशंसमनृतं तथा।
नाहमर्हामि संस्कर्तुं परदाराभिमर्शनम्।
भ्रातृरूपो हि मे शत्रुरेषः सर्वाहिते रतः।
रावणो नार्हते पूजां पूज्योपि गुरुगौरवात्।
नृशंस इति मां राम वक्ष्यंति मनुजा भुवि।
श्रुत्वा तस्यागुणान् सर्वे वक्ष्यन्ति सुकृतं पुनः।

राम आखिर उदात्त मानव थे। मित्र का यह रूप उन्हें नही सुहाया पर रुष्ट भी नही करना चाहते थे। बोले—तुम्हारे मुझ पर बड़े उपकार हैं पर रावण का भी आदर करता हूँ। अतः ऐसा न कहो। तुम कहते हो तो मान लेता हूँ कि उसमें कुछ अधर्मतत्व रहा होगा। पर फिर भी सोचो वह कितना तेजस्वी, पराक्रमी और शूर था। युद्ध में उसे इन्द्र जैसे भी परास्त न कर सके थे। वह महात्मा था, बल सम्पन्न था। उसके मरने से आज ससार रो रहा है। अब उससे हमारा क्या वैर। हमारे प्रयोजन तो सिद्ध हो गये। अब तो इसका संस्कार करो। यह तुम्हारा ही नहीं मेरा भी अग्रज है। तुम्हारे हाथो इसका संस्कार हो, शीघ्र हो, यथाविधि हो, यही उचित है। ऐसा करके निश्चय ही तुम यशस्वी बनोगे—

अधर्मानृतसंयुक्तः काम त्वेष निशाचरः।
तेजस्वी बलवान् शूरः समरेषु च नित्यशः।
शतक्रतुमुखैर्देवैःश्रूयते न पराजितः।
महात्मा बलसम्पन्नो रावणो लोकरावणः।
मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।
त्वत्सकाशान्महाबाहो संस्कारं विधिपूर्वकम्।
क्षिप्रमर्हति धर्मेण त्वं यशोभाग्भविष्यसि।

यह है वाल्मीकि द्वारा राम और विभीषण के मुख से कराया गया रावण का

चरित्र-चित्रण। पता नहीं लोग किस आधार पर मानते हैं कि वाल्मीकि ने रावण को दुष्ट रूप में चित्रित किया। यदि किसी साधारण व्यक्ति ने ऐसी निराधार बात कही होती तो हमें बुरा न लगता। पर बिल्हण जैसे प्रबुद्ध कवि ने विक्रमांक देव चरित में राजाओं को संबोधित करके कहा कि 'किसी कवि को रुष्ट मत करना, अन्यथा रावण जैसी दशा होगी। राम यशस्वी हो गया, रावण अपयश का भागी बना, यह वाल्मीकि की लेखनी का ही चमत्कार था। इसलिए कवियों से डर कर रहो।' हमने जब यह पढ़ा तो रामकथा पर पुनः दृष्टि डाली पर हमें वाल्मीकि के आख्यान में कहीं यह बात नहीं लगी। यहां हमने स्वयं वाल्मीकि को इसलिए उद्धृत किया है कि उसकी लेखनी में जो सामर्थ्य है उसके सामने हमें अपनी असमर्थता पर रोना आता है। अतः जो संस्कृत समझता है वह तो वाल्मीकि की क्षमता और भावना का सही आभास पा सकेगा।

यों वाल्मीकि का प्रधान लक्ष्य है राजनीतिक का निरूपण। पर जहां राजनीति से विरोध नहीं वहां पारिवारिक संबंधों, गुरु शिष्य संबंधों, समाज के सदस्यों के परस्पर संबंधों आदि का बहुत ही आदर्श और अनुकरणीय निरूपण है। निस्संदेह, बहुत ही प्रौढ़ कवि की सुप्रौढ़ लेखनी की अति प्रौढ़ रचना है राम कथा। काव्य गणना में वस्तुतः प्रथम स्थान की अधिकारिणी रचना है। यह रचना आकल्प आदृत रहेगी।

कहते हैं वाल्मीकि के आश्रम में पले कुश और लव ने इसका प्रथम गायन किया था। हमें लगता है कि उन्होंने इसका अभिनय किया था। एक भाई बना होगा नायक, दूसरा बना होगा प्रतिनायक। नाट्यशास्त्र में अभिनेता के लिए 'कुशीलव' शब्द का प्रयोग हुआ है। रामकथा के अभिनय का नाम 'रामलीला' है। हमें लगता है यह शब्द मूलतः रामनिला था—रामन् (सूर्य) और इला (पृथ्वी) की कहानी। पर उत्तर भारत में वह रामलीला हो गया और बाद में लीला का अर्थ ही बदल गया। तिब्बती रामायण में सीता का नाम लीला या लीलावती ही है। भारत के परवर्ती प्रेम कथानकों में नायिका का सर्व प्रिय नाम 'लीलावती' है। पर नायक का नाम रामन् नहीं है। राम को वाल्मीकि ने मर्यादा पुरुषोत्तम बना दिया अतः प्रेमाख्यानों में उस नाम को घसीटना उचित नहीं समझा गया। पर उसका भी शब्दार्थ तो 'रमण करने वाला' नायक ही था। 'रामा' का अर्थ भी रमण योग्या नायिका ही है। फिर भी राम के स्थान पर प्रेम काव्यों में कहीं मदन है, कहीं कंदर्प है, कहीं सातवर्धन (सातवाहन) है। सबका अर्थ एक ही है। सिंघी जैन ग्रंथ माला में प्रकाशित प्राकृत रचना 'लीलावई कहा' की भूमिका में प्राकृत और अपभ्रंश की अनेक लीलावती कथाओं का [illegible] दिया गया है। सर्वत्र नायिका लीलावती है पर नायक कामदेव के वि[illegible] मबो का मूल उस वाल्मीकि से भी पूर्व प्रचलित [illegible] है।

हमारा विश्वास है कि जब तक मही पर सरिता-गिरि रहेंगे तब तक लोक मे रामायण और रामलीला भी रहेंगी।

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले
रामायणं रामलीला तावल्लोकेषु स्थास्यतः।

राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

अर्थात् साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म के संस्थापन के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूं। यह आश्वासन देने वाले श्रीकृष्ण भगवान के विषय में यह भी मान्यता है कि वह परकीया राधिका का प्रेमी है। ब्रज की कुलांगनाओं को वंशी वादन से मोहित करता है और उन्हें कुल की प्रतिष्ठा छोड़ने को विवश करता है। श्रीकृष्ण उन सबके साथ रासक्रीड़ा करता है यही तक नहीं नदी में स्नान कर रही बालाओं के चीर हरण भी करता है। श्रीकृष्ण का यह चरित्र भक्तों के मन में चाहे कोई शंका उत्पन्न न करे पर सामान्य चिन्तक पाठक के मन में तो करेगा ही। अतः उसका परिचय पाना आवश्यक है।

प्रचलित कृष्ण-कथा का सार कुछ इस प्रकार है :—मथुरा के राजा कंस को ज्ञात होता है कि उसकी बहन देवकी और जीजा वसुदेव के घर ऐसा पुत्र उत्पन्न होगा जो कंस का संहार करेगा, उसके पिता उग्रसेन को पुनः राजा बनायेगा और देश में उत्पात मचाते क्रूर राजाओं का विनाश करेगा। कंस अपनी बहन और उसके पति वसुदेव को कारागार में बन्द कर देता है और उसकी छः सन्तानों का वध कर देता है। पर सातवें के जन्म के समय संयोग ऐसा होता है कि कारागृह में सब रक्षी सो जाते हैं, ताले खुल जाते हैं और वसुदेव भयंकर मेघाच्छन्न रात्रि में आधी रात के समय उसे नदी पार कर वृन्दावन के निकट के नंदग्राम ले जाकर नंद यशोदा को दे आता है तथा उनकी पुत्री को ले आता है। कंस को पता चलता है तो वह पुत्री का वध कर देता है। उधर कृष्ण बाल क्रीड़ा में आसक्त हो जाता है। उसका बड़ा भाई रोहिणी पुत्र बलराम भी गोपाल बालकों का नेता है और ये दोनों भाई वृन्दावन में गायें चराते, अनेक क्रीड़ा करते हैं। कृष्ण पूतना और शकटासुर को तो पहले ही मार चुका था। बाद में उसने बकासुर, वत्सासुर, अघासुर, केशी, आदि अनेक दुष्टों का संहार किया और अपनी धाक जमा दी। कालिय

नाग का दमन किया। अक्रूर के साथ मथुरा जाकर कंस का वध किया और उग्रसेन को पुनः राजा बनाया। फिर जरासंध द्वारा मथुरा घेरे जाने पर और कालयवन से पीड़ित होने पर द्वारका पुरी बसाई। वहां शासन चलाया। रुक्मिणी आदि सोलह हजार एक सौ आठ रानियों से विवाह किया। प्रद्युम्न आदि अनेक पुत्र उत्पन्न किये। उनके अनिरुद्ध आदि पुत्र उत्पन्न हुए जिसके लिए उषा का हरण किया गया। पांडवों को सहयोग देकर महाभारत जितवाया और अपनी संपूर्ण संतति नष्ट हो जाने पर स्वयं भी वैकुंठधाम चला गया। कृष्ण का पूरा नाम कृष्णचंद्र है और उसके बड़े भाई बलराम का अन्य नाम हलधर है जो संकर्षण का अवतार भी माना जाता है। अब इस कथा के पीछे छिपे ज्ञान पर विचार करना होगा।

श्रीकृष्ण चंद्र के जन्म की पुष्टि के लिए भक्तजन चंद्र के उदय के दर्शन करके स्नानानि करते हैं। स्पष्ट है कि वस्तुतः कृष्ण पक्ष का चंद्र ही कृष्णचन्द्र है जिसका जन्म मेघाच्छन्न नभोमंडल में होता है। अब विषय को ठीक से समझने के लिए पुस्तक के आदि में दिये गये मानचित्र पर दृष्टिक्षेप करना होगा। इसमें कर्क क्षेत्र का स्वामी चंद्र माना जाता है। इस क्षेत्र का आरंभ पुनर्वसु नक्षत्र के क्षेत्र में होता है। पुनर्वसु ही कृष्ण कथा का वसुदेव है। उसी का घर श्री कृष्णचंद्र का अपना घर है। श्रीकृष्ण के जन्म के समय मेष लग्न होता है। मेष का ही अन्य नाम नंद है। नान्दी वृष से सभी परिचित हैं और वैयाकरण बताते हैं कि नन्द का पुत्र नान्दी होता है। यों नांदी वृष है, तो नन्द मेष हैं। मेष के क्षेत्र का अंतिम भाग कृत्तिका नक्षत्र का है। यह 'कृत्तिका' ही यशोदा है जिसे समझने के लिए संस्कृत के प्राकृतीभवन और उसके पुनः संस्कृतीकरण की परंपरा समझनी होगी। हम अन्यत्र बताएंगे कि 'उदयिनी' शब्द प्राकृतों में 'उजेणी' बन गया था पर उसका पुनः संस्कृतीकरण हुआ तो 'उज्जयिनी' हो गया, वैसे ही जैसे राष्ट्रकूट से व्युत्पन्न 'राठौड़' को भावी कवियों में 'राष्ट्रोड़' बना दिया। 'कृत्तिका' प्राकृत में केवल 'कित्तिआ' रह गया था। उसका पुनः संस्कृतीकरण 'कीर्तिदा' हो गया जिसका पर्याय 'यशोदा' है। यों नंद और यशोदा 'चंद्र' के दूसरे माता-पिता बन गये। चंद्र के स्थान पर मृत्यु को प्राप्त हुई महामाया तो विद्युत है और उसका हन्ता 'कंस' बादल है जो 'क' अर्थात् जल को धारण करता है। वही नहीं चाहता था कि चंद्र का उदय हो। उसीने अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृग और आर्द्रा नामक छः तारों को पहले आच्छादित कर के मारा था। इन सबके पिता वसुदेव थे जिन्हें धनिष्ठा पति चंद्र मानना चाहिए। ज्योतिष के अनुसार सब नक्षत्रों के देवता होते हैं और धनिष्ठा के देवता वसु हैं। धनिष्ठा स्वयं देवकी है जिसकी आकृति मृदंग जैसी है और जिसका पति उसी कारण आनकदुंदुभि कहलाता है—स एवानकदुंदुभिः (अमर कोश)। कृष्णचंद्र का बड़ा

बलराम स्पष्टत: वृषराशि का सूर्य है। वही हलधर भी कहलाता है। यही सकर्षण है जिसकी शक्ति से पृथ्वी सूर्य से नियमित दूरी पर अपने अक्ष पर परिक्रमा करती है।

श्रीकृष्ण वृन्दावन में गोप वृन्द के साथ गोचारण करते हैं। आकाश ही विशाल वृन्दावन है। आकाश में चरने-विचरने वाले तारे ही गायें हैं। शकट-भग तृणावर्त वध, अघासुर वध, बकासुर वध, वत्सासुर वध आदि का अर्थ चंद्र का एक-एक तारे को पार करते हुए आगे बढ़ना है। शकट रोहिणी का प्रतीक है, तृणावर्त तृणभक्षी मृग का, अघासुर आर्द्रा का, बकासुर पुष्य का, वत्सासुर वृष राशि का। धेनुकासुर धनुराशि का प्रतीक है तो कालिय मकर का। अश्व रूप धारी केशी अश्विनी नक्षत्र का प्रतीक है। चंद्र इन सभी नक्षत्रों, राशियों को पार करता हुआ अपनी कक्षा में विचरण करता रहता है। वह समय-समय पर अपने अग्रज बलराम (सूर्य) के साथ भी होता है।

श्रीकृष्ण की अगली चर्या है कंस वध और उग्रसेन को शासन सूत्र सौंप देना। जैसा कि पहले उल्लेख कर चुके हैं, कंस उसी प्रकार बादल है जिस प्रकार निरुक्त के अनुसार वैदिक वाङ्मय में वृत्रासुर है। अंतत: बादलों का घटाटोप समाप्त होता है और आश्विन मास में सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से तपने लगता है। यही उग्रसेन के राज्य की पुन: स्थापना है। यह उग्रसेन वैदिक ऋषियों के मंत्रों में अग्रश्रेणि था। उसी का उल्लेख 'चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणा: सहस्रस्याग्रेश्रेणि नयन्ति' कह कर किया गया है। अग्रवाल वैश्य अपने को अग्रसेन राजा का वंशज बताते हैं, वह वस्तुत: सूर्य ही था। जिस क्षेत्र से ये वैश्य देश में फैले उसमें महेश (माध्यमिका), विहाणी (विहान की नगरी), दिनोद (दिनोदय) जैसे नगर आज भी हैं जो कभी प्रामाणिक सूर्योदय के नगर थे। इन में से किसी का सूर्योदय प्रामाणिक था, किसी का मध्य दिन।

आश्विन की अमा को चंद्र सर्वथा लुप्त हो जाता है। अमा को दो मासों की संधि होती है, अपितु दो वर्षों की भी संधि अमा को ही होती है। उस दिन चंद्र पूर्णत: अदृष्ट होता है। यही तथ्य कृष्णचंद्र के जरा संध से घिरकर पलायन कर जाने के रूप में वर्णित है।

जरासंध कथा में एक और वर्णन ध्यान देने योग्य है। कहा गया है कि जरासन्ध ने तेईस अक्षौहिणी सेनाओं से मथुरा नगरी को घेर लिया तो कृष्ण ने राम (बलराम) सहित वहां से छोड़कर चले जाना ही उचित समझा। यहां तेईस अक्षौहिणी सेना का उल्लेख इस बात का प्रतीक है कि विषुवत् रेखा से उत्तर का तेईस अक्षांशों का प्रदेश जब सैन्य से घिरा होता है तब सूर्य-चंद्र का संगम दक्षिण के तेईस अक्षांशों में ही रहता है। मथुरा कर्क रेखा का द्योतक है तो द्वारका मकर रेखा का।

समाप्त करने का भी उल्लेख है। श्रीकृष्ण एक गिरि गुहा में प्रवेश करते है। वहां लेटे राजा मुचकुंद को अपनी चद्दर उढ़ा देते हैं और स्वयं लुप्त हो जाते है। उस राजा को छेड़कर कालयवन नष्ट हो जाता है। प्रश्न उठता है कि यह काल यवन कौन है ? यह भारत के मध्यकाल अथवा महाकाल से पश्चात् का रोमक पत्तन का काल है जो उज्जयिनी के देशान्तर से 90° पश्चिम मे होने के कारण छः घंटे बाद का काल होता है। कृष्णचद्र का जन्म मध्य रात्रि का है तो उससे छः घंटे बाद सूर्य (मुचकुंद) का उदय हो जाता है और चंद्र पलायन कर जाता है। यही यवन काल अथवा कालयवन के रूपक का अर्थ है। कृष्ण का पर्वत मे छिप जाना अस्ताचलगामी होना है।

उसके पश्चात् कृष्ण रुक्मिणी से विवाह करते हैं। यह संभवतः पूर्ण चंद्र का रोहिणी नक्षत्र पर होना है। उसके लिए उसे शिशुपाल का चक्र से वध करना होता है अर्थात् पूरे शिशुमार चक्र की, आकाश मंडल की, यात्रा करनी होती है। उधर बलराम का विवाह रेवती से होता है जो बलराम से आयुष्य मे बहुत बड़ी है। रेवती नक्षत्र वृष क्षेत्र से काफी पहले पडता है। बीच में पूरा मेष क्षेत्र होता है। यही रेवती के आयु में बडे होने का अर्थ है। कृष्ण का प्रथम पुत्र प्रद्युम्न है जिसका शब्दार्थ है अति प्रकाशमान। वह कामदेव का अवतार माना जाता है। तारों में शुक्र सबसे द्युतिमान दृष्टिगोचर होता है। वही काम का प्रतीक भी माना जाता है। अनिरुद्ध सूर्योदय के आसपास का वृहस्पति है जिसका उषा से विवाह होता है।

अब चंद्रमा (कृष्णचंद्र) को प्रेम कथा पर आते हैं। कृष्णचंद्र को सत्ताईस नक्षत्रों में बांटा जाता है। सत्ताईस रस्सियां लपेटी जाती है। फिर प्रत्येक नक्षत्र को चार-चार चरणो मे विभक्त कर के 108 अंशों मे विभक्त किया जाता है और उस विभजन को व्यक्त करने के लिए 108 नाडियां (नाड़े का स्त्रीलिंग) बांधी जाती है। यों श्रीकृष्ण 108 नारियो (नाड़ियो) से समन्वित हो जाता है। फिर चरणों के भाग-प्रभाग-विभाग-अनुभाग करके सोलह हजार खंडों मे विभक्त किया जाता है। इसी रूप मे वह सोलह हजार पत्नियों का पति बनता है।

पर कृष्णचंद्र की प्रेमिका है राधा अर्थात् विशाखा नक्षत्र। वह वृषभानु और कलावती की पुत्री है। वृषभानु तो स्पष्टतः वृष राशि का सूर्य है पर कलावती है रस्सियां बधी चित्रा नक्षत्र की पृथ्वी। जो भूमि उत्तरायण में वृष की है वही दक्षिणायन में चित्रा नक्षत्र की है। वैशाखी पूर्णिमा को चंद्र प्रायः विशाखा नक्षत्र में होता है और उसी की अभिव्यक्ति करते हुए जयदेव कहता है—विलसति हरिरिह सरसवसन्ते।

श्रीकृष्ण राधा तथा गोपियों के साथ रास क्रीडा करते है। ब्रह्म वैवर्त पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण रात में वृन्दावन जाते है। वहां शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के

पूर्णवत् चंद्र बिंब को देखते हैं फिर गोल घेरे मे राम मंडल की रचना करते हैं। रास मडल को देख कर मधुसूदन हंसते है। राधिका मदनातुर हो जाती है। राधा की सुशीला आदि तेतीस सखियां रासक्रीड़ा में सहयोगी होती हैं। इन प्रमुख गोपियों के पीछे-पीछे अन्य गोपियां भी सम्मिलित होती हैं। वर्णन इस प्रकार है:—

शुभे शुक्लत्रयोदश्यां पूर्णचंद्रोदये मुने।
परितो वर्तुलाकारं तत्रैव रासमंडलम्।
स रासमंडलं दृष्ट्वा जहास मधुसूदनः।
तच्छ्रुत्वा राधिका सद्यो मुमोह मदनातुरा।
त्रयस्त्रिंशद्वयस्याश्च ताः सुशीलादयः स्मृताः।
राधिकायाः प्रियतमा गोपीनां प्रवरा ययुः
तासां पश्चाद् ययुर्गोप्यः.................।

यह रास क्रीड़ा और कुछ नहीं विशाखा नक्षत्र से आरंभ हुई कृष्ण चंद्र की राशि क्रीड़ा है। वर्तुलाकर रासमंडल राशिमंडल अर्थात् राशियों में विभक्त आकाशमंडल ही है। चंद्र का उज्ज्वल प्रकाश ही उसके हास का द्योतक है। राधा की अनुगामिनी तेतीस प्रमुख सखियां तेतीस करोड़ माने जाने वाले प्रमुख तारों (देवों) की ही प्रतिनिधि हैं। उनके पीछे अरबों खरबों तारे हैं। श्रीकृष्ण चंद्र की रासक्रीड़ा का यह वर्णन स्पष्टतः कृष्णचंद्र की राशि क्रीड़ा का ही उल्लेख है।

वैशाखी पूर्णिमा को राधा के साथ राशि क्रीड़ा करने वाला चंद्र सुदीर्घ विरह से पीडित हो जाता है। पूरे एक वर्ष पश्चात् ही उसका मिलन होता है। इस दीर्घ अवधि में विरहिणियों की क्या दशा होती है, उसका वर्णन कर अनेक कवियो ने अपने काव्य कौशल का परिचय दिया है।

राधा के पति रायाण बताये जाते हैं। 'रायाण' का अर्थ है रयणगत। रायाण तारों की गति का बोधक है। रय, रीति आदि एक ही धातु से उत्पन्न शब्द हैं और मार्ग का अर्थ देते हैं। रयण वस्तुतः चंद्र की कक्षा है।

गोपियों के चीर हरण की कथा भी बड़ी रोचक है। गोपियां तारे हैं—यह उल्लेख पहले किया जा चुका है। दिन में सूर्य प्रकाश में वे सब गुप्त होती हैं। सूर्य प्रकाश रूपी वस्त्र से आवृत होती हैं। चंद्रोदय होने पर अर्थात् सूर्य के अस्त होने पर उनका वस्त्र हट जाता है और वे अनावृत हो जाती हैं।

राधा के प्रेमी माधव भी स्पष्टतः चंद्र हैं। चंद्र से प्रतिबिंबित प्रकाश को 'मा' कहते हैं। उसका पति चंद्र ही माधव है। 'मा' का यह अर्थ चंद्र-मा (उज्ज्वल प्रकाश), अ-मा (बिना प्रकाश), पूर्णि-मा (पूर्ण प्रकाश) आदि शब्दों में स्पष्ट है। इस मा का पति माधव षोडश कला निधान है। इस षोडश कला निधान की कला

महर माने जाते हैं, यशोदा महरी। पर कितने लोग इस बात पर ध्यान देते हैं कि शुद्ध शब्द मिहिर और मिहिरी हैं। नंद मिहिर मेष राशि का सूर्य है यह पहले बताया जा चुका है। यशोदा मिहिरी कृत्तिका नक्षत्र है जो सूर्य की पत्नी के रूप में चित्रित है। यहां कृष्ण भक्तों में अग्रगण्य मीरांबाई के नाम पर भी विचार करना अनुचित नहीं होगा क्योंकि अनेक विद्वानों ने उसे फारसी के मीर या हमीर से जोड़ने का यत्न किया है। पारसी मीर अरबी अमीर से बना या मिहिर से, इस विषय में हमें निश्चित जानकारी नहीं है। पर मीराबाई का नाम समझने के लिए हमें 'मिहिरी' की शरण में ही जाना होगा। मारवाड़ी भाषा में ईकारान्त नामों का जब आदरार्थक प्रयोग होता है तो अंतिम 'ई' को 'आं' में बदल दिया जाता है और 'बाई' शब्द भी जोड़ा जाता है। यों मीराबाई का मूल नाम 'मिहिरी' था। वह 'मिहिरांबाई' उसी प्रकार बनी जिस प्रकार सरस्वती 'सुरसतांबाई' बन जाती है, मोहिनी 'मोहनांबाई' बन जाती है, पार्वती 'पारवतांबाई' बन जाती है। शब्द के मध्यवर्ती महाप्राण का महाप्राणत्व लुप्त होना मारवाड़ी की दूसरी प्रवृत्ति है। 'सोहनी' 'सोना बाई' बन जाती है, मोहनसिंह 'मोनसिंह' बन जाते हैं; बाघसिंह 'बागसिंह' रह जाते हैं। इस प्रकार जिसका मूल नाम 'मिहिरी' था वह आदर पूर्वक 'मीराबाई' पुकारी जाने लगी। हिन्दी विद्वानों से एक करबद्ध निवेदन है कि वे भक्त मीरां चाहे कहें पर 'भक्तिन' न कहें। राजस्थान में इस शब्द का प्रयोग वेश्या के अर्थ में होता है जो कभी देवदासियां ही रही होंगी। पर उस इतिहास में कौन जाता है। अतः मीरां को यह गौरव न देना ही उचित है। मारवाड़ी में आदर के लिए महिलाओं के लिए भी पुंलिंग का प्रयोग होता है। 'मीरांबाई आया' शुद्ध प्रयोग है। अतः भक्त कहें तो दोष नहीं है।

अक्षवाट की कृष्ण भक्ति विकृत होते-होते कहां तक पहुंची—इसका भी थोड़ा सा लेखा-जोखा कर लें तो अनुचित नहीं होगा। अक्षवाट का कृष्णोपासक चंद्र के गोलक के पास बैठकर जब उसकी उपासना करता था तो उसकी बारह राशियों की नवधा भक्ति भी करता था; प्रत्येक नक्षत्र की चरणों में चतुर्धा भक्ति भी करता था और उसकी पुन. चार-चार उपचरणों में षोडशधा भक्ति भी करता था। उसे चंद्र का पूरा ज्ञान था। उसने नक्षत्रों के चरण विभाजन और राशियों के नवांश विभाजन को याद रखने के लिए एक सौ आठ मनकों की माला भी बनायी थी। यही नहीं उसने चंद्र के व्यास की सही-सही गणना भी कर ली थी: पूरे दो सौ तिहत्तर योजन। चंद्र की पृथ्वी से दूरी का भी सही-सही आकलन किया था। चांद्र मास का औसत मान साढ़े उनतीस दिन है और प्रत्येक दिन का एक सहस्र योजन मान कर साढ़े उनतीस हजार योजन दूरी मानी गयी थी जो आज की गणना से भी शुद्ध सिद्ध होती है। पर चंद्र के गोले के पास बैठकर (उपासना करके) उसकी भक्ति करने वाले भजनानंदी तो कभी के समाप्त हुए।

कृष्ण भक्ति रह गयी केवल राधा और कृष्ण के विलास वृत्तों का नयी नयी उद्‌भावना के साथ उल्लेख करने मे। भक्त लोग उसे राधा के पांव पलोटते ही ढूढने लगे। आकाश मे इतना साफ दिखाई देने वाला कृष्णचद्र भी उन्हें समग्र ब्रह्माड में कही भी दिखायी देने से रह गया। जिन्हें इतना साफ दिखने वाला चंद्र भी दिखायी न पड़े उन्हें दूरवीक्ष यन्त्रों से दृष्टगोचर होने वाले तारों में रुचि होती ही क्यो ? हमारा तो दृष्टिकोण ही यह हो गया कि जो नौकर रख सकते हैं वे स्वयं कोई काम क्यों करें। हमने ज्ञान का उपार्जन भी नौकरों का काम मान लिया। समृद्ध परिवारों को उसका उपार्जन शोभा नही देता। इसलिए हम तो उस ज्ञान को खरीद लेते हैं जो यूरोप और अमेरिका के बाजारो में बिकता हुआ सेकिंड हैंड के रूप में हमें मिल जाता है। हमे वही बढ़िया लगता है क्योंकि इंपोर्टेड है !

कृष्ण भक्तों के कृष्ण बस राधा के साथ क्रीड़ा मे संलग्न रहते हैं या मदिरो मे बैठे अष्टयाम चर्या करते हैं जिससे उनके पुजारियों की रोजी रोटी की भी व्यवस्था हो जाती हैं। मंदिरों मे बहुत बड़ा समाज राग-भोग की व्यवस्था मे जुटा रहता है। उत्तम से उत्तम व्यजन भगवान् को निवेदित कर भक्त अपना अहोभाग्य मानता है। केसर और चदन की चक्कियां लक्ष्मी पति की समृद्धि का बखान करती रहती हैं। उनके दर्शनाभिलाषी चाहे तो सर्व प्रथम दर्शन का टिकट बड़ी राशि खर्च करके पा सकते हैं। हमें वह दिन दूर दिखाई नही पड़ता जब भगवान श्रीकृष्ण पुजारियों के मस्तक पर आरूढ होकर धनी भक्तों के घरों पर दर्शन देते घूमा करेंगे। यदि भक्त मित्र मडली में सुरापान रत होंगे तो भगवान जी अतिथिशाला में रुक कर दो चार घटे प्रतीक्षा भी कर लेंगे। हम वस्तुत: कृष्ण भक्त हैं अत: हमें बाजारों मे बिकते कृष्ण भगवान् की दशा देखकर वेदना होती है। भगवान तो वे अब रहे भी नही, कोई मूर्तिभंजक या मूर्ति तस्कर ही उन्हें भगवान बना दे तो दूसरी बात है।

कृष्णं वन्दे जगद् गुरुम्।

यतो धर्मस्ततो जयः

महाभारत संस्कृत वाङ्मय का अद्भुत ग्रंथ है; एक लाख श्लोकों की बृहत् संहिता (शतसाहस्री) जिसने हजारों कवियों को काव्य रचना के लिए प्रेरणा दी, हजारों ग्रंथों का प्रणयन करवाया और पता नहीं कितने और कवि-लेखक अभी इससे प्रेरणा पाएंगे। फिर भी देश के बहुत बड़े भाग में यह मान्यता रही है कि महाभारत का ग्रंथ घर में न रखा जाए, न पढ़ा जाए; मंदिर आदि में भी पढ़ा जाए तो एक क्रम में आद्योपान्त नहीं। इस मान्यता के व्यावहारिक कारण रहे होंगे। इतने बड़े पोथे का संग्रह कठिन, फिर उसे आद्योपान्त पढ़ने के लिए प्रभूत समय अपेक्षित। मैं अपने घर में सुना करता था कि महाभारत की प्रतिलिपि तैयार करवाने के लिए लिखारी को एक हजार रुपये दिये गये थे। बत्तीस अक्षर के श्लोक के हिसाब से एक सौ आठ श्लोक लिखवाने का मूल्य एक रुपया होता था। यह बात है उस समय की जब बड़े-बड़े मुनीम वार्षिक वेतन दो सौ रुपये पाते थे, अर्थात् पांच मुनीमों का एक वर्ष का वेतन व्यय करें तब महाभारत की एक प्रति प्राप्त की जाए। पर फिर भी महाभारत का सम्मान था, है और रहेगा क्योंकि वह भारत के विशाल वाङ्मय का उत्स है।

कहते हैं आरंभ में महाभारत छोटा-सा था। उसका नाम जय-काव्य था। फिर उसका बृहत्तर संस्करण भारत या भारतकथा या भारतीकथा हुआ और बृहत्तम संस्करण महाभारत है। इसमें वेदव्यास किसके रचयिता थे, वैशम्पायन किसके और सूत किसके इस चक्कर में हम नहीं पड़ेंगे। हमें आम खाने हैं, पेड़ नहीं गिनने। महाभारत की कथा कितनी है इस विषय में बचपन में सुना था कि एक पंजाबी ने बताया 'कुत्ती दे पंज पुत्त सी; हिकदा ना सी धरमरिप्टर, हिकदा सी प्हिउँ, हिक दा कुफ होरमी, हिक दा कुफ होर ते हिक दा फ्हुलगे।' बस कुंती के पांच पुत्रों की कथा से ही लोग परिचित हैं। इनमें से तीन ही कुंती के थे, दो माद्री के, इस विवरण में जाने की सामान्य अध्येता आज भी आवश्यकता नहीं समझता। वस्तुतः माद्री तो मर भी गयी आदि पर्व में ही, फिर क्यों याद रहती। पांचों के साथ वन-वन तो डोली कुंती ही थी। हम भी माद्री के बारे में नहीं जानते, कुंती

सौ धार्तराष्ट्रों का दक्षिण गोल से। पर उनके पूर्वज कौन हैं? अन्यत्र बताया जा चुका है कि दक्षिण ध्रुव का एक नाम उरु भी है। यह भी बता चुके हैं कि भारत से दक्षिण में दक्षिण ध्रुव तक जल ही जल है। जल का एक पर्याय 'क' है। यह भी 'कस' प्रसंग मे बता चुके हैं। तो इस 'क' और 'उरु' के संयोग से बना है 'कुरु' जिसके ये सब वंशज हैं। दक्षिण गोल मे मीन धनु के क्षेत्र पर दृष्टि डालें तो समझ में आयेगा कि धनुर्धर शंतनु और मीनपाल की कन्या सत्यवती कौन है। अब उससे अगला क्षेत्र देखिए मकर-कुंभ का, जिसमें श्रवण नक्षत्र भी है। श्रवण के तीन तारे सदा ही भारतीय नागरिक का ध्यान आकर्षित करते रहे हैं। रामायण के पाठक श्रवणकुमार की कथा जानते हैं जिसे दशरथ मार डालता है। इस कथा मे बीच का तारा श्रवण कुमार है, दोनों ओर दो तारे बहंगी में बैठे माता-पिता हैं। महाभारत में बीच का तारा भीष्म है और दोनों ओर के दो तारे चित्रांगद और विचित्रवीर्य हैं। यह मान्यता रही होगी कि बीच का तारा आकाश गंगा मे पहले प्रकट हुआ अतः 'गांगेय' कहलाया, शेष दोनों परवर्ती हैं मछुआरे की कन्या के पुत्र। अर्थात् वे तब उत्पन्न हुए जब सूर्य उत्तरायण गत होकर मीन में पहुंचा। महाभारत मे जो 'भीष्म' का क्षेत्र है वही रामायण कथा मे 'विभीषण' का क्षेत्र है—यह आप जान चुके हैं। 'भीष्म' और 'भीषण' के मूल में एक ही धातु है। श्रवण के बाद धनिष्ठा नक्षत्र हैं। यह आधा दक्षिणायन में है, और आधा उत्तरायण में। यही नक्षत्र अंबिका और अंबालिका नामक दो रानियों में विभक्त हो गया है। अंबिका दक्षिणायन पति धृतराष्ट्र को जन्म देती है और अंबालिका उत्तरायण पति पांडु को। पहला 'मकर-कुंभ का राजा बनता है दूसरा 'कर्क'-सिंहासन पर बैठ जाता है। पर वह अश्विनी भूमि माद्री (जो दक्षिणायन मे ज्येष्ठा है) से संबंध होते ही मर जाता है। राज-काज संभालता है धृतराष्ट्र। अर्थात् दक्षिण गोल का पति।

पांच पांडव और सौ धार्तराष्ट्र बड़े होते हैं तो एक दिन धनुर्विद्या का विद्वान् और मत्स्य वेध में निपुण द्रोण वहां पहुंचता है। पितामह भीष्म को धनु और मीनराशि का स्वामी गुरु ग्रह द्रोण अपने पौत्रों के लिए उपयुक्त गुरु प्रतीत होता है। फाल्गुनी अर्जुन धनुर्विद्या में सबसे अधिक सफल होता है क्योंकि वह कर्क (कक पक्ष) से लेकर धनु तक एक सीध में देख सकता है। ध्यान रहे पूर्वा फाल्गुनी और कर्क का क्षेत्र एक ही है। कर्क-सिंह के क्षेत्र से धनु-मीन के क्षेत्र तक पांच क्षेत्र हैं। ये बाण के क्षेत्र होने के कारण 'पंचबाण' नाम से भी जाने जाते हैं। अर्जुन कर्क पक्ष से धनुष तक एक सीध मे देख सकने के कारण मत्स्य वेध मे सफल होता है। धनु-मीन का क्षेत्र मत्स्यवेध की कथा की कुंजी है। ध्यान रहे जो दक्षिणायन में धनु है वही उत्तरायण में मीन है। मीन (मत्स्य) वेध के बाद अर्जुन (सिंह के शासन का अधिकारी सूर्य) द्रुपद की कन्या से विवाह करता है। मिथुन और

कन्या का क्षेत्र एक ही है। यह द्रविड क्षेत्र है जो द्रु और इडा (इला, पृथ्वी) के मेल से वना है। 'द्रुपद' का अर्थ भी द्रुक्षेत्र है। द्रौपदी को लेकर पांडव फिर अपनी कर्क-सिंह भूमि में आते हैं और इन्द्रप्रस्थ का सिंहासन ग्रहण करते हैं। फिर शतभिषा (कौरवों) की माया में फंसते हैं, जुआ खेलते है, राज्य हारते हैं और वनवासी हो जाते हैं। दक्षिणायन आरंभ हो जाता है। यही वनवास है। अव तो बारह वर्ष वन मे रहकर अर्थात् वारह राशियों मे भ्रमण करके ही पुनः सिंहासन पर पहुंच सकते हैं। फिर युद्ध होता है अर्थात् भूमध्य रेखा के तुलाक्षेत्र पर लडने को तुल जाते है। पर उत्तरायण हो चुका है अतः विजय पांडवो की ही होती है। वे सिंहासन पाते हैं। पर टिक नही सकते। पुनः दक्षिणायन आरंभ हो जाता है। हिम के क्षेत्र दक्षिण ध्रुव की दिशा में वे लोग चल पडते है। यों लड़ने को तुले हुए बराबरी के वीर पांडवों और कौरवों के दो गोलो के परस्पर युद्ध की कथा महाभारत कथा का मूल है। इसे कवनकर्म-कुशल वेद व्यास ने कैसे काव्य रूप दिया इस पर आगे विचार करेंगे। पर एक बार पुनः स्पष्ट कर दें कि इस पूरी कथा को समझने के लिए एक दृष्टि मानचित्र पर रखनी होगी। कौन-सा भूक्षेत्र किस राशि, किस नक्षत्र और किस राशिपति ग्रह का है, यह स्पष्ट होने पर ही लड़ने को तुले उत्तर गोलार्द्ध और दक्षिण गोलार्द्ध की कथा समझ मे आयेगी। मानचित्र के बिना पढ़ने से कुछ भी समझ मे आना कठिन है।

रामायण कथा के समान महाभारत भी राजनीति प्रधान काव्य है। व्यास का मुख्य उद्देश्य उत्तरगोल-दक्षिणगोल के द्वंद्व की कथा के माध्यम से राजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति, न्यायनीति आदि अनेक विषयो पर विस्तार से प्रकाश डालना है। फिर भी राजनीति ही प्रधान है। रणनीति और रणकौशल का वर्णन भी इस महाकाव्य में अधिक भव्यता और विस्तार के साथ प्रकट हुआ है। राजनीति का जो घिनौना रूप आज सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, उसे व्यासदेव ने पूरा रस लेकर चित्रित किया है। आज भी अपने हथकंडों से जो पक्ष विजयी हो जाता है वह अपने पक्ष को धर्मपक्ष, न्यायपक्ष, आचारपक्ष सव कुछ बताता है; डिंडिम घोष के साथ बताता है और बेचारे पराजित पक्ष का चित्रण निकृष्ट नराधमों के समूह के रूप मे होता है। आज भी यतो धर्मस्ततो जयः कहा जाता है, जब कि बात इसके ठीक विपरीत होती है। 'यतो जयस्ततो धर्म.' होता है, जो जीत जाता है वही सर्व गुण सम्पन्न मान लिया जाता है। महाभारत का धर्मराज युधिष्ठिर एक बहुत ही मंजा हुआ राजनेता है जो दोषों की खान है पर अपनी चतुराई से जनता में ऐसा प्रचार करवाकर रखता है मानो संपूर्ण उदात्तता और श्रेष्ठता की साक्षात् मूर्ति वही है। वह न विद्वान् है, न योद्धा पर उसी प्रकार सभी कुछ मान लिया जाता है जिस प्रकार आज के राजनेता को सभी प्रकार की सभाओं मे सर्वोपरि

सम्मान मिलता है चाहे वह विज्ञान का एक अक्षर न जानता हो, साहित्य के नाम पर दो पुस्तकें भी न पढ़ी हो, अर्थशास्त्र के नाम पर केवल अनर्थ कुशल हो, इतिहास के नाम पर अपने पितामह का नाम भी न जानता हो पर इन सभी शास्त्रो के पारगत विद्वान् राजनेता के हाथ से अपनी सभा का उद्घाटन करवाकर गौरवान्वित होते है। युधिष्ठिर एक दुर्व्यसनी, स्वार्थ-निपुण, महत्वाकाक्षी राजा है जो तत्कालीन धर्मशास्त्र के अनुसार राज्य पाने का अधिकारी नही है। पर फिर भी वह सबकी आँख मे धूल झोककर राज्य भी पाता है और धर्म का अवतार होने का गौरव भी। वह अपने द्यूत के दुर्व्यसन में इतना लिप्त है कि दांव पर अपनी पत्नी और भाइयों को चढाते हुए भी लज्जा महसूस नही करता। ध्यान रहे वह पत्नी पर भी बडी चतुराई से कब्जा करता है। पत्नी अर्जुन जीत कर लाता है पर वह दूर से ही माता को संदेश देता है कि एक अद्भुत वस्तु लाए हैं। माता सरल भाव से कह देती है कि पाचो भाई बराबर-बराबर बांट लेना तो इस वचन को अक्षरश: पकड़ लेता है और वर्ष के पहले 73 दिन स्वयं द्रौपदी का पति बन जाता है। रामायण का राम तो वानरराज वाली को इसलिये मार डालता है कि उसने छोटे भाई की पत्नी छीन कर अपराध किया पर द्वापर युग का धर्मराज छोटे भाई की पत्नी को अपनी पत्नी बनाते समय माता की आज्ञा की दुहाई देता है। वही युधिष्ठिर जब इच्छा हो शब्दो का अभिधार्थ ग्रहण करता है पर जब असुविधा जनक हो तो लक्षणा या व्यंजना का सहारा लेकर अर्थ बदल देता है। दु:शासन पर क्रुद्ध हुए भीम के मुंह से एक मुहावरा निकल गया था कि 'तेरा खून पी जाऊगा' पर धर्मराज की आज्ञा से उसे वस्तुत: रक्तपान का नृशंस-तम कर्म करना पड़ा था। पर जब स्वयं युधिष्ठिर ने अर्जुन के गांडीव को धिक्कारा था और अर्जुन ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार युधिष्ठिर का वध करने के लिए तलवार खीच ली थी तो युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की इस सम्मति को सर्वथा उचित बताया था कि बड़े भाई के सामने शस्त्र उठा लेना ही उसके वध के तुल्य हो जाता है अतः वध की प्रतिज्ञा की पूर्ति तलवार खीचने मात्र से मान ली जाए। अपने प्राणो की रक्षा का जब प्रश्न आया तो युधिष्ठिर अभिधार्थ का वह आग्रह भूल गया था जो भीम द्वारा रक्तपान और कुती के वचन के अक्षरश: पालन के समय विद्यमान था। विजिगीषु युधिष्ठिर को भीष्म पितामह की मृत्यु का उपाय स्वय उन्ही से पूछने मे और तदनुरूप कार्यान्वित करने मे कोई झिझक नही होती, न स्पष्ट झूठ बोल कर गुरु की हत्या करवाने मे कोई पाप प्रतीत होता है। जिस तथ्य के स्पष्टत: असत्य होने का पूरा ज्ञान हो उसे 'नरो वा कुजरो वा' कहना स्पष्ट झूठ नही है तो क्या है। पर विजय प्राप्त करने के लिए जो भी हथकण्डे अपनाने आवश्यक थे वे सब अपनाये गये, यहा तक कि गदा युद्ध के नियमों को तोड़कर दुर्योधन की जघा हर प्रहार किया गया और विजय प्राप्त कर ली गयी। और विजयी

युधिष्ठिर धर्मराज घोषित हो गया।

विजयी युधिष्ठिर का जो धर्म प्रचार हुआ उसका आज के महाभारत कथा-विज्ञ पर यथावत् प्रभाव है। उसका धर्म युद्ध ही सबको दिखाई पड़ता है। उसी का पक्ष धर्म पक्ष भी दिखायी पड़ता है यद्यपि धर्मशास्त्र इस विषय में स्पष्ट हैं कि बड़े भाई का सिंहासन पर अधिकार होता है और उसके किसी कारण असमर्थ होने पर उसके पुत्र का। अंधे, नपुंसक आदि अधिकारी नहीं होते। औरस के होते हुए क्षेत्रज का अधिकार नहीं होता। पर बड़े धृतराष्ट्र का औरस पुत्र दुर्योधन मृत्यु के मुख मे जाता है और छोटे भाई का क्षेत्रजपुत्र युधिष्ठिर राज्य पाता है। वही सच्चा अधिकारी भी मान लिया जाता है क्योंकि जिसकी लाठी उसकी भैंस। कुछ लोग कहते हैं कि धृतराष्ट्र और पांडु तो दोनों स्वयं क्षेत्रजपुत्र थे अतः क्षेत्रजपुत्र के औरस पुत्र की तुलना में क्षेत्रजपुत्र का क्षेत्रजपुत्र ही अधिक अधिकारी होता है। जो भी तर्क सही हो, धर्मशास्त्र ऐसे प्रसंग मे मौन हैं अतः धनुर्वेद ने निर्णय कर दिया और विजेता धर्मराज मान लिया गया। युद्ध में मृत्यु को प्राप्त होने वाला दुर्योधन खलनायक मान लिया गया—अधर्म का मूर्तिमान रूप! यद्यपि जिन दिनों उसने शासन किया तब शासन कैसा था इसकी एक झलक महाभाराताश्रित 'किरातार्जुनीयम्' में देखिए। युधिष्ठिर का गुप्तचरी करने के लिए भेजा हुआ वनेचर उसे सूचना देता है कि दुर्योधन ने कामक्रोधादिषड्वर्ग पर विजय प्राप्त कर रखी है। वह मनु के उपदिष्ट कठिन मार्ग पर चल रहा है। उसने आलस्य छोड़कर दिन रात के समय को ऐसे विभक्त कर रखा है कि किसी काम की उपेक्षा न हो जाए। इस तरह वह सुनीतिपूर्ण शासन चला रहा है। वह निरहंकार है और अपने सेवकों के साथ भी मित्रों जैसा व्यवहार करता है, मित्रों को भाइयों जैसा मानता है और बन्धुओं को तो राज्याधिकारी मानकर गौरव देता है। वह धर्म-अर्थ-काम का यथोचित विभाग करके, आसक्ति रहित होकर तीनों की समानरूप से आराधना करता है। इसलिए ये तीनों गण परस्पर मित्र बनकर एक दूसरे की पुष्टि करते हैं। वह किसी पर प्रसन्नता प्रकट करता है तो उसे कुछ देकर ही करता है केवल वाचिक नहीं; जिन्हें देता है उनका पूर्ण सत्कार भी करता है। पर सत्कार उसी का करता है जिसे परीक्षा करके सत्कार योग्य पाता है। वह इंद्रियजयी न तो किसी से बेकार रुष्ट होकर उसे दंड देता है न धनादि के लोभ से; वह तो उसी को दंड देता है जो दंड्य कर्म करता है। पर अपराधी को वह दंड दिये बिना छोड़ता नहीं, चाहे अपराधी शत्रु न होकर अपना ही पुत्र क्यों न हो। दंड देता है तो शास्त्र विधि के अनुसार ही। उसने ऐसे योग्य अधिकारी ही उपयुक्त कर्मों पर नियुक्त किये हैं कि धन धान्यादि की सम्पदा स्वतः वर्धमान हो रही है। जो कुरु देश केवल वर्षा के जल के भरोसे रहता था और जहां के किसानों को घोर श्रम करना पड़ता था वहां उसने सिंचाई की ऐसी सुव्यवस्था

कर दी है, और भूमि को ऐसा उपजाऊ बना दिया है कि किसान बिना परिश्रम के
ही अनन्त धान्य भंडार पा जाता है। प्रचुर यशस्वी, दयालु, बाधा निवारक, प्रजा
रक्षक, कुबेरतुल्य धन-धान्यवान् दुर्योधन के गुणों से द्रवित हुई भी पृथ्वी उसके
लिए मानो स्वयं ही धन की व्यवस्था कर देती है। पृथ्वी माता उसे गोमाता की
तरह धनरूपी दूध देती है—

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततंद्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्॥
सखीनिव प्रीतियुजोनुजीविनः समानमानान् सुहृदश्च बंधुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधुबन्धुताम्॥
असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्॥
निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरिदानं विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया॥
वसूनि वांछन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्॥
अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रिया।
फलन्त्युपायाः परिबृंहतायतीरुपेत्य संघर्षमिवार्थसम्पदः॥
सुखेन लभ्यादधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसंपद।
वितन्वति क्षेममदेव मातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति॥
उदारकीर्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोभिरक्षया।
स्वयं प्रदुग्धेस्य गुणैरुपस्तुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी॥

संभवतः इन्ही सब गुणों के कारण दुर्योधन परास्त हुआ और हथकण्डे
अपनाने वाला युधिष्ठिर आज भी लोगों के मन में धर्मराज बना बैठा है।
युधिष्ठिर और दुर्योधन मे समान रूप से उपलब्ध होने वाली एक भावना
हमे बहुत अच्छी लगी—अन्यैः सह विरोधे तु वयं पंचाधिकं शतम् अर्थात्
दूसरो से विरोध हो तो हम धार्तराष्ट्र और पाण्डव एक साथ हैं और पांच और सौ
नही एक सौ पांच हैं। यह वस्तुतः एक वरेण्य एवं अनुकरणीय भाव है। अन्यथा
नीतिशास्त्रकार तो चाचा-ताऊ के भाइयो को सहज शत्रु बताते आये हैं।
पाण्डव पक्ष मे अर्जुन का चरित्र वस्तुतः अनुकरणीय रहा होता यदि उसमे
आत्मविश्वास होता और वह अन्यों के बताये मार्ग पर चलने के लिए विवश न
हुआ होता। उसमें जहां अद्भुत एकाग्रता, अस्त्रकुशलता और विजय क्षमता है,
वहां उसमे मानवोचित दयार्द्रता और स्वार्थ के लिए रक्त प्रवाह के प्रति घृणा
की भावना भी है। उसने वस्तुतः अठारह अक्षौहिणी सेना के अनावश्यक विनाश

को रोक भी दिया होता यदि उसी की चलती। पर उसके रथ-संचालन का दायित्व ले लिया था श्रीकृष्ण ने और उसने ऐसा जादू किया कि अर्जुन विवश हो गया अपने ही परिवार का संपूर्ण विनाश करने के लिए। ऐसा प्रतीत होता है कि युद्धप्रधान महाभारत के रचयिता को भारतीय मानस की पूरी जानकारी थी और उसे पता था कि युद्ध कर्म को भारतीय जन मानस उचित नहीं मानेगा अतः उसने युद्ध के औचित्य को सिद्ध करने के लिए पहले ही अर्जुन के मुख से प्रश्न उठवा दिया कि उस युद्ध का क्या लाभ जिससे अपने ही कुल का क्षय हो। कवि ने उस आशंका का उत्तर दिलवाया अपने उस कृत्रिम पात्र श्रीकृष्ण से जिसके नाम के प्रति भारतीय जनता में अपार श्रद्धा थी और जिसका उल्लेख हमने पिछले अध्याय में किया है। उसे अवतारी पुरुष का उपदेश मानकर भारतीय जनता ने उस युद्धोपदेश को आदर तो बहुत दिया पर माना नहीं। उसके तरह-तरह के अर्थ ग्रहण किये। उसमें कही हुई अप्रासंगिक बातों को ही उसका वास्तविक कथ्य माना और उसे ज्ञान का अपूर्व भंडार स्वीकार किया। पर उसके वास्तविक उपदेश को—युद्धोन्माद को—स्वीकार नहीं किया, यह हर्ष की बात है।

यदि कृष्ण के गीतोपदेश को भारतीय मानस ने अक्षरशः स्वीकार कर लिया होता और उसको जीवन मे उतार लिया होता तो संभवतः यहां के लोग विश्व-विजयी बने होते, अर्थात् उनके हाथो करोड़ो निरपराधों का संहार हुआ होता; उनके प्रचंड प्रहारो से आहत हुई मानवता सिसक-सिसक रोई होती और पराजित जातियां ऊपर से जयजय कार करती हुई भी मन ही मन कोसती-धिक्कारती रही होतीं। पर सौभाग्य की बात है कि उस उपदेश को सही संदर्भ में, सही अर्थ में, हमने ग्रहण ही नहीं किया, बस पुस्तक को अक्षत-चंदन से पूजा भर की।

सही अर्थ तो प्रसंग और फलागम पर आश्रित होता है। इस दृष्टि से देखें तो गीता का लक्ष्य युद्धोपदेश है और उसका फल भी युद्ध ही हुआ—एक भयकर विनाशकारी युद्ध जिसने संपूर्ण देश की जड़ें हिलाकर रख दीं, कलियुग का प्रवर्तन करके धर दिया। धर्म की तीसरी टांग तोड़ कर छोड़ी। धर्म बेचारा एक टांग से लड़खड़ाता-घिसटता रह गया। और यह सब करवाया उस महत्त्वाकांक्षी नारायण ने जिसका एक मात्र लक्ष्य यह था कि देश के सब राज्य इस युद्ध में पूर्णतः नष्ट हो जाएं और रह जाए केवल मेरा वंश, मेरी जय-जयकार। पर वंश तो उसके देखते-देखते आपस में लड़कर क्षय को प्राप्त हो गया, जय-जयकार अवश्य रह गयी। वह वंश कैसे जीवित रहता जिसने जन्म से ही युद्ध का उपदेश सुना हो। जब और कोई सामना करने को न बचा तो आपस में ही लड़ा और एक ही दिन में छप्पन करोड़ जनता काल के गाल में समा गयी। देश भर में रह गयी बिलखती विधवाएं और बिलबिलाते बच्चे। युद्ध वस्तुतः घृणिततम मानव के मन

की घृणिततम भावना का फल होता है। वह कभी किसी काल में मानव के कल्याण का हेतु नहीं बना यद्यपि हर विजेता ने सदा यही घोषणा की कि मानव जाति के हित में वह युद्ध जीता। दिग्विजयी सिकंदर, चंगेज और रघु ने अपनी धाक भले ही जमाई हो पर मानवता का हित नहीं किया। 'यशसे विजिगीषूणां' कोई आदर्श वाक्य नहीं है। केवल यश के लिए, अपने नाम भर के लिए विजिगीषा अर्थात् लाखों-करोड़ों निरपराधों की हत्या कोई गौरव की बात नहीं है। वस्तुतः भारतीय मानस का यह आदर्श भी नहीं रहा है।

गीता के उपदेश का संदर्भ ध्यान देने योग्य है। युद्ध भूमि मे उपस्थित अर्जुन अपने चारों और दृष्टिपात करता है तो उसे दिखायी पड़ता है अपना ही कुल, अपने ही बंधुबांधव, पूज्य गुरुजन। अर्जुन सच्चा नर है, नरोचित भावना से ओत प्रोत। उसके मुंह से बोल फूटे—यह भयंकर रक्त-पात क्यों और किस लिए ? किसका हित होगा इससे। मुझे नहीं चाहिए विजय, नहीं चाहिए राज्य, नहीं चाहिए सुख, यदि इसके लिए मुझे उन सबको ही मारना पड़े जिनके लिए मैं विजय चाहता हूं, राज्य चाहता हूं, सुख चाहता हूं। इनको मैं नहीं मारूंगा, नहीं मारूंगा, ये मुझे मार डालें तब भी नहीं मारूंगा। तीनों लोकों का राज्य मिले तब भी नहीं मारूंगा पृथ्वी तो है ही क्या चीज। इन्हें मारने से क्या सुख मिलेगा ? अपने ही बंधु बांधवों को मारने से कैसे सुख मिल सकता है ? यदि राज्य के लोभ से स्वजनों को मारा जाए तो महान पाप है। अतः मैं इन्हें नहीं मारूंगा। ये शस्त्र उठाए और मुझे मारें तब भी मैं नहीं मारूंगा। ये मुझे वस्तुतः मार डालें तब भी अपना अधिक श्रेय ही मानूंगा—

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्य भोगाः सुखानि च।
त इमेवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतो. किं नु महीकृते॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिस्याज्जनार्दन।
स्वजनं हि कथं हित्वा सुखिनः स्याम माधव।
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥
यदिमामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

यह है वह भावना जो यदि आज संसार-भर में फैल जाए तो संसार वस्तुतः

रहने योग्य हो जाए। फिर हम क्या करेंगे उस स्वर्ग का जहां दिन-भर बेकार बैठे देवता अप्सराओं को घूरते रहते हैं। हमे नही चाहिए दिल्ली जैसा ही वैकुंठ जहां जाकर वापस आना ही संभव नही—सो दिल्ली अस निबहुर देसू। कोई न बहुरा कहे संदेसू। पर मुश्किल तो यह है कि ऐसे नर ससार-भर में हो कैसे जाएं। वे तो होना चाहते हैं पर उन्हें नारायण नहीं होने देंगे। हमारा विश्वास है कि सामान्य नर तो अर्जुन की भावना वाला ही होता है पर उसमे आत्मविश्वास नही होता। उसे सदा एक गुरु की, नारायण की, तलाश होती है। और नारायण तो स्वयं आंख के अंधे और गांठ के पूरे की तलाश मे होते हैं। वे झट कह देते है—भोले नर, क्या शान्ति-शान्ति चिल्लाते हो, नपुंसक हो गये क्या? क्या सोचेंगे लोग तुम्हारे बारे मे। यह सब वीर को शोभा देगा क्या? यह सब तो अस्वर्ग्य है; अकीर्तिकर है। यह तो हृदय का क्षुद्र दौर्बल्य है। छोड इसे। उठ, शस्त्र उठा।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैव्यं मास्मगम: पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

साधारण नर तो इतने से उपदेश से ही, निकल पड़ता है तलवार उठा कर। पर यदि वह अर्जुन की तरह प्रबुद्ध होता है तो अड़ता है—अपने पूज्य लोगों की पूजा करूं या उन्हें मारूं? क्या उन पर शस्त्र उठाना उचित होगा? ऐसे पूज्य जनो को मारकर उनके रक्त से सने भोगों को भोगने से तो अच्छा है कि भीख ही मांगकर खा ली जाए।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभि: प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयोभोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥

पर देखना यह है कि अर्जुन जैसा प्रबुद्ध नर भी कितनी देर अड़ सकेगा। उसे मिलेगा आत्मा की अमरता का उपदेश। उसे मिलेगा यह उपदेश कि तुम भी किनकी चिन्ता ले बैठे। अरे मरना-जीना तो मानव का धर्म है। उसकी क्या चिन्ता। और शरीर का असली तत्त्व तो है आत्मा जो ससुरी कभी मरती नही। आत्मा के मरने-मारने की बात तो सोचना ही अज्ञता है। यह तो न कटती है, न जलती है, न भीगती है, न सूखती है; यह तो जैसी है वैसी ही बनी रहती है, ज्यो की त्यों। और रही बात शरीर की सो उसे तो मरना ही है क्योंकि वह तो उत्पन्न हुआ है। अब जिसे मरना ही है उसके मरने की चिन्ता क्यों? अत: जिसे

होना ही है उसे तुम ही क्यों नहीं कर देते हो। देखो ऐसा अवसर, ऐसा बहाना, बार-बार नहीं मिलता। इसलिए मार डाल लाखों को। समझो कि तुम्हारे भाग्य से ही यह युद्ध का अवसर आया है। ये तो स्वर्ग द्वार के कपाट खुल गये हैं। मत चूक। घुस जा स्वर्ग में। और सोच ले यदि तू इस धर्म संग्राम से मुँह मोड़ेगा तो तेरा धर्म नष्ट होगा, यश विनष्ट होगा, और मिलेगा पाप। लोग थूकेंगे तुम्हारे मुंह पर, देंगे गालियां और देख लेना इज्जतदार के लिए यह सब सहने से तो अच्छा है कि वह स्वयं मर जाए। यदि वीर होकर कोई न लड़े तो क्या प्रमाण है वीरता का? लोग तो यही कहेंगे कि कायर था सो भाग गया पीठ दिखाकर। वीर की क्या प्रतिष्ठा रहेगी उनकी आंखों में? विरोधी कहेंगे हजार बातें। होगी जगत हंसाई। सर्वत्र निन्दा ही निन्दा। सोच जरा उससे अधिक कष्ट क्या हो सकता है। दूसरी तरफ लड़कर जीत गया तो पृथ्वी के भोग भोगेगा, मर गया तो स्वर्ग। इसलिए उठ, लड़।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
अछेद्योऽयमदाह्यो यमक्लेद्योशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्यर्थे नत्वं शोचितुमर्हसि॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
अथचेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
अकीर्ति चापिभूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

कोई भी साधारण नर ऐसा उपदेश सुनने के बाद बिना लड़े तभी रह सकता है जब उसके शरीर में दम ही न हो। पर महाबली अर्जुन तब भी अड़ा रहता है तो सुनता है अकारण वेदों की निन्दा जिसका कोई प्रसग ही न था। पर नारायण को तो सिद्ध करना था कि मैं तो वेदों से भी हजार गुना बढ कर हूं। क्या रखा है वेदों मे ? जो कहता है कि वेद से बढकर कोई ज्ञान नही वह वेदवादी तो बस पुष्पिता वाणो बोलता है। वस्तुतः महामूढ है। वेद तो त्रिगुणात्मक हैं। गरिमा तो उनके जाल से छूटकर 'निस्त्रैगुण्य' बनने मे है। जो ब्राह्मण विज्ञानवेत्ता है उसके लिए तो वेदों का ज्ञान उतना ही तुच्छ है जितना विशाल जलनिधि के सामने लोटा भर पानी —

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

पर अर्जुन तो बाण विद्या निपुण ही नहीं था, वाग् विद्या निपुण भी था। उसने तर्क किया—यदि बुद्धि को कर्म से बढ़कर मानते हो तो मुझे युद्ध के घोर कुकर्म में क्यो झोक रहे हो। तुम्हारी उलटी-सीधी बातें तो मेरी बुद्धि को मोहित कर रही हैं। यदि तुम्हे कुछ कहना ही है तो एक सुस्पष्ट बात कहो जिससे मेरा कल्याण हो। इधर-उधर की मत हांको—

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोहमाप्नुयाम्॥

पर फिर वही कर्म का उपदेश। यह उपदेश कि जो कर्मेन्द्रियों का तो संयमन करता है पर इन्द्रियार्थों का मनसा स्मरण करता है वह विमूढात्मा मिथ्याचारी होता है। पर जो इन्द्रियों का मनसा नियमन करके कर्म मे प्रवृत्त होता है वह विशिष्ट कर्म योगी होता है क्यों कि वह अनासक्त योगी है —

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

सार यह है कि छोटा सा प्रश्न था—अपने ही लोगों को मार कर सुखी कैसे हो सकते हैं—स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ! पर उत्तर मे केवल अप्रासंगिक ज्ञान झाड़ा गया। कर्म, अकर्म, विकर्म, ज्ञान योग, कर्म योग, संन्यास योग, अक्षर योग, ब्रह्म योग, राजविद्या—पता नहीं किस-किस का नाम लेकर समझाया गया कि ये सब भी लड़ने की ही बात कहते हैं, ये सब भी हत्या मे दोष नही मानते, किसी को अपना नही मानते, ये सब भी हतोवा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीं का उपदेश देते हैं। पर वीर अर्जुन तब भी टस से मस नही हो रहा था पर उससे एक भूल हो गयी। उसने चुनौती दे दी कि तुम भगवान् हो तो दिखाओ अपना विराट् रूप; और जादूगर का जादू चल गया। जो दृश्य अर्जुन को देखने को मिला उससे तो वह थर-थर कांप उठा, घुटने टेक दिये उसने। उसने साफ कह दिया—बंधु, जो कहोगे सो करूंगा, लड़ूंगा, मारूंगा, रक्त की नदियां बहा दूंगा। तुम्हारी शक्ति जान गया। तुम सचमुच भगवान हो। और कृष्ण की योजना सफल हुई। देश का देश विनष्ट हो गया।

हमें पता नहीं कथा के इस मोड में कितना सूतों का हाथ है, कितना स्वयं वेद व्यास का। सूत वह जाति थी जिसका वर्णाश्रम व्यवस्था में बहुत निम्न स्थान था। पर राजा तक उनकी पहुंच थी। वे उस समाज-व्यवस्था को कुचल देना चाहते थे जिसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय का ही बोल बाला हो; जिसमे शुद्ध रक्त का ही गौरव हो। अत: उन्होंने उत्तर गोल और दक्षिण गोल की ज्योतिष कथा को ऐसा रूप दिया कि बड़े-बड़े ऋषियों और बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं के शुद्ध रक्त पर प्रश्न चिह्न लगा दिये। वेदों के ज्ञान को सर्वथा निरर्थ बना दिया। ऋषियों के ऋषि, वेदों के उद्धर्ता-संपादक वेदव्यास को कानीन ही नही बताया ऐसी कन्या की सन्तान भी बताया जो हीनतम वर्ग के मछुवारे की पुत्री थी और जिसे किनारे में घूमने आये मन चले ऋषि ने गर्भवती बना दिया और व्यास के उत्पन्न होने पर ऐसी औषधि दे दी कि अक्षतयोनि प्रतीत हो। उसी कन्या पर आसक्त करवा दिया शंतनु को और ऐसी प्रतिज्ञा करवा दी भीष्म से कि कुल का नाम ही न चले। फिर विचित्रवीर्य की मा ने बुलवाया अपने कानीन पुत्र व्यास को और विवश किया अपनी पुत्र वधुओं को कि संतान उत्पन्न करें। फिर हुए धृतराष्ट्र और पांडु—दोनों ही नाकारा। पांडु का क्षेत्रज पुत्र युधिष्ठिर ही बना धर्म संस्थापक।

कोई सदेह नही कि सूतों का समाज व्यवस्था पर बड़ा ही कठोर प्रहार था। बड़े से बड़ा राजवंश, तो वर्ण संकर; बड़े से बड़ा ऋषि तो, वर्ण संकर। और सबसे महापुरुष कौन ? अधिरथ सुत कर्ण और अर्जुन के घोड़े हांकने वाला कृष्ण। अर्थात् वीरता थी तो सूतों मे, ज्ञान था तो सूतों मे और विजय क्षमता थी तो क्षेत्रज पुत्रों मे। औरस पुत्र निरर्थक; रक्त की पवित्रता ढकोसला और वेदों का

ज्ञान सच्चे ज्ञान के सामने वैसा ही जैसा विशाल जलधि के सामने एक हुंडिया भर पानी। इसलिए बुद्धिमान को चाहिए कि गोली मारे वेदो के उस त्रैगुण्य प्रभव ज्ञान को और हो जाए निस्त्रैगुण्य। वेदवादी तो अविपश्चित हैं। पता नही वेद विरोधी की जिह्वा छेदन का उपदेश देने वाले विद्वान कैसे इस वेदनिंदा से भरे उपदेश को भगवद् वाणी मान लेते हैं—सर्वोपनिषदो गावो का दुग्धामृत मान लेते हैं।

हमें बहुत वेदना होती है वेदों की यह निंदा देखकर; उत्तर गोल और दक्षिण गोल की ज्योतिष कथा का यह दुरुपयोग देखकर। पर कवि ने केवल बुराइयों की राशि ही नही भरी है महाभारत में। राजनीति का, धर्म नीति का, शासन नीति का, परिवार नीति का, अनेक शास्त्रों के ज्ञान का सार भी भरा है; इस ग्रंथ में। आवश्यकता इस बात की है कि झाड़ झखाड़ को साफ करके सुंदर स्वास्थ्य-कर जड़ी बूटियों को ढूंढ निकाला जाए। इसीलिए यह कहा गया कि महाभारत एक साथ आद्योपान्त न पढा जाए; उसके मोहक, हृदय ग्राही अंशों को पढ-पढकर उसे अपनी काव्य रचना का आधार बनाया जाए। यही किया भी गया है। गीता के युद्धोपदेश को भी प्रसंगोचित अर्थ से हटा कर ही सदा सबने स्वीकार किया है। उसका फल चाहे महायुद्ध रहा हो पर आज उसके सर्वथा अप्रासंगिक वाग्विलास को समझने का ही यत्न किया जाता है। कर्म का उपदेश, सांख्य का निरूपण, ब्रह्मयोग—पता नहीं क्या-क्या ढूढ निकालते है विद्वान् लोग; जब कि गीता मे उनका कोई प्रसंग नही था। वहां तो अर्जुन को ज्ञान मे अभिभूत करके मरने-मारने के लिए उद्यत करना था और अर्जुन पर वह सब कुछ नहीं चला था। उसे तो विराट् रूप का जादू ही हिंसा के लिए उद्यत कर सका था।

हमें इस बात की अत्यधिक वेदना है कि वेदव्यासकृत माने जाने वाले इस ग्रंथ में श्री कृष्ण का एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया गया जिसे रक्त पिपासु का रूप माना जाना चाहिए। भगवान् के अवतार के रूप में जन-जन मे मान्यता प्राप्त श्री कृष्ण को, राधा वल्लभ, गोपी वल्लभ श्री कृष्ण को ऐसे पाप में घसीटना सर्वथा अनुचित था। पर सूतों ने अपनी कामना पूरी की। वर्णाश्रम को ध्वस्त किया, वेदों को ध्वस्त किया और इस प्रक्रिया मे भारत राष्ट्र की जड़ें हिला दी।

लगता है महाभारत मूलतः जयकाव्य के रूप मे ही लिखा गया था। पर *उसके अनेक कथानक अभिनययोग्य भी थे।* अभिनेताओं ने उन कथानकों के प्रयोग किये। वे कथानक भारत कथा कहलाते थे। 'भारत' का अर्थ है भरत का पुत्र। भरत मुनि ने सर्व प्रथम अभिनय का प्रवर्तन अपने पुत्रों के माध्यम से ही कराया था ऐसा उसके नाट्यशास्त्र मे उल्लेख है। वे भारत ही अभिनेय कथाओ के प्रथम प्रयोक्ता थे। भारत शब्द का आरंभ मे प्रयोग अभिनेता के अर्थ में रहा होगा। महाभारत के जिन अंशों का वे अभिनय करते थे, उनका संग्रह भी भारत

या भारत कथा कहलाता था। जब ऐसे अभिनेय कथानकों मे. परिवर्धन-संशोधन हुआ तो उनका विशाल सग्रह (संहिता) महाभारत कहलाया। महाभारत के कथावाचक सूत का अभिनय के समय अन्य प्रयोग हुआ। वह सूत्रधार कहलाया। सूत का संस्कृतीकरण सूत्र है या सूत्रकार का प्राकृत संक्षेप सूत है यह कह पाना कठिन है पर है पर इन दोनो का ऐक्य अवश्य है। यो रामायण का जैसे अभिनेय रूप रामलीला वना उसी प्रकार जयकाव्य का अभिनेय रूप भारत बना और विशालतर होकर महाभारत बना।

महाभारत का एक और पक्ष विवेच्य है। राजनीति की दृष्टि से वह तीन महत्वाकांक्षियों की क्रीडा है। एक महत्त्वाकांक्षी है द्रुपद जिसकी कामना थी कि उसका पुत्र धृष्टद्युम्न समग्र भारत का सम्राट् बने। उसने अग्निवेश की पाठशाला में अपने शस्त्र-शास्त्र निपुण सहपाठी द्रोण से पूछा था कि तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा क्या है। द्रोण का उत्तर था कि ऐसा शिष्य तैयार करना जो सर्वत्र अजेय हो। इस पर द्रुपद ने उसे लोभ दिया था कि तुम मेरे पुत्र को वाण विद्या सिखाना, मे तुम्हारा यथेष्ट सत्कार करूंगा। स्वाभिमानी द्रोण का उत्तर था कि मैं तो पात्र को विद्या दूंगा, उसे बेचूगा नही। इस पर क्रुद्ध द्रुपद ने कहा था कि लगता है तुम अपनी विद्या किसी नपुसक पर नष्ट करोगे। तभी द्रोण ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि नपुंसक को ही दूगा पर उसे वह शक्ति दे दूगा कि विश्व में कोई उसे जीत न सके। इसीलिए उसने अर्जुन को वह विद्या दे दी जो अपने पुत्र को भी नही दी। अर्जुन बृहन्नला रूप में केवल एक वर्ष नपुंसक नहीं रहा था। वह था ही नपुंसक। पर गुरु के आशीर्वाद ने उसे वह सामर्थ्य देदी थी कि अजेय हो कर ही रहा। इसीलिए गुरु द्रोण ने जब एकलव्य का चमत्कार देखा तो उसका अंगूठा मांग लिया था ताकि अर्जुन के समकक्ष कोई वीर न रहे। उसने अपने पुत्र तक को ब्रह्मास्त्र का प्रक्षेपण ही सिखाया, संहार नही; जब कि अर्जुन को दोनो मे पारगत किया।

बाद मे द्रुपद से अपमानित द्रोण ने अर्जुन को भेजकर द्रुपद को पकडवा कर मंगवाया था, वह यही सिद्ध करने के लिए कि उसने वस्तुतः सत्पात्र को चुना था। निःशस्त्र बैठे द्रोण को मार कर द्रुपद पुत्र ने अपने पिता का प्रतिशोध लिया था और उसे शिविर मे पकड़कर आग मे जलाकर अश्वत्थामा ने अपने को पितृ ऋण से मुक्त माना था।

द्रुपद ने यह जान कर कि अर्जुन विश्वविजेता होगा, अपनी पुत्री उसे देने का संकल्प किया था। इसीलिए मत्स्य वेध की शर्त रखी थी जिस विद्या को या तो अर्जुन ने द्रोण से प्राप्त किया था या कर्ण ने परशुराम से। पर अर्जुन ने द्रौपदी से विवाह करके भी द्रुपद की सहायता नही की यद्यपि द्रौपदी सदा ही युद्ध के लिए उकसाती रही ताकि द्रोण के वध का अवसर मिल सके। द्रोण अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी करके मरा पर द्रुपद असफल रहा।

तीसरा महत्वाकांक्षी था श्रीकृष्ण जिसने संदीपनी की पाठशाला में वैसा ही प्रश्न सुदामा से किया था। सुदामा के यह कहने पर कि उसे तो बस वेदों का ज्ञान चाहिए, श्री कृष्ण ने कहा था कि मैं तो देश की संपूर्ण बागडोर अपने हाथ में रखूंगा। उसने यह करके भी दिखाया। उसके हाथ मे केवल अर्जुन के घोड़ों की बागडोर नहीं रही पूरे भारत की राजनीति की बागडोर रही। पर दृष्टि कोण ध्वंसात्मक रहा, रचनात्मक नही। इसलिए अपने जीवन काल में ही धर्म की तीसरी टांग तोडकर छोड़ी; देश को केवल विधवाओं के करुण क्रंदन और बालकों के रुदन से भरा छोड़ा। फिर भी उसकी महत्वाकाक्षा सफल हुई। पर उसे भी द्रोण शिष्य का सहारा लेना पडा।

व्यक्तिगत रूप से हमारी रुचि महाभारत के राजनीति विषयक सदेश में नही है। हमारी तो राजनीति मे विरुचि है। हम तो महाभारत पर दिव्यदृष्टि से ही विचार करना आवश्यक समझते हैं। स्वयं महाभारत के प्रवक्ता ने महाभारत की तुलना चारों वेदों से की है और दावा किया है कि उसमें निहित ज्ञान का रहस्य चारों वेदों से अधिक प्रबल है। उसकी इस गरिमा की परीक्षा करने के लिए एक बार देवो ने उसकी तुलना चारो वेदो से करनी चाही थी। उन्होंने तुला के एक पलडे मे सरहस्य चारों वेदों को रखा और दूसरे मे व्यास की इस रचना को। परिणाम यह हुआ कि व्यास की यह रचना अधिक भारी निकली। उसका नाम महाभारत (अधिक भारी) इसीलिए पड़ा कि वह महत्त्व और गुरुत्व दोनों में बढकर रही और महत्त्व तथा भारवत्व के कारण ही महाभारत कहलायी—

एकतश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकतः।
पुराकिल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्॥
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्योह्यधिकं महत्।
तदाप्रभृति लोकेस्मिन् महाभारतमुच्यते॥
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोधिकम्।
महत्त्वाद भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते॥

महाभारत के प्रवक्ता के इस दावे के सत्यासत्य के विषय मे कुछ भी कह सकने में हम समर्थ नही हैं क्योंकि वैदिक वाङ्मय अपने अखिल रूप में उपलब्ध नही है और उसके रहस्य को पूरी तरह समझने के आज साधन भी उपलब्ध नही है। महाभारत का भी इतिहास रूप ही अधिक ज्ञात है। उसका रहस्योद्घाटक अर्थ पूरा ज्ञात होने का दावा सभव नही है। इतिहास का अर्थोद्घाटन करना निरुक्त का काम है। इसका विशेष विवरण आगे देंगे। यहा केवल इतना बता देते हैं कि प्रतीक का उद्घाटन निरुक्त का काम है। वह काम हमने गत पृष्ठ में यथा संभव करने का यत्न किया है। हमे महाभारत के प्रवक्ता का यह

कथन सदा ध्यान में रहा है कि जो महाभारत के निरुक्तार्थ को जानता है वह सब पापों से मुक्त हो जाएगा—

निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।

पर महाभारत के प्रवक्ता का यह भी दावा है कि महाभारत के निरुक्तार्थ जितना ही महत्त्व उससे मिलने वाले अन्य अनेक संदेशों का भी है। उसमें पुण्य धर्मशास्त्र भी है, परम अर्थशास्त्र भी है, परम मोक्षशास्त्र भी है—

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामिततेजसा॥

पुराणं दशलक्षणम्

पुराणों मे भारत का अगाध ज्ञान भरा है। पर उसे समझने के लिए दिव्य दृष्टि चाहिए। वेद आज बहुत अपूर्ण रूप मे उपलब्ध हैं। उनके अर्थ में सहयोग देने वाला वेदांग ज्योतिष आज उपलब्ध नहीं है अतः उन्हें समझा जाए तो कैसे ? विद्वानों ने बताया है कि वेदों का ज्ञान आज यदि प्राप्त करना हो तो पंचम वेद से प्राप्त कर सकना संभव है। पांचवा वेद क्या है—इस विषय में कहा जाता है कि इतिहासपुराणाना पचमो वेद उच्यते। अर्थात् इतिहास और पुराण मिलकर पांचवां वेद बनता है। इतिहास हैं रामायण और महाभारत जिनका उल्लेख गत अध्यायों मे किया जा चुका है। अब चर्चा करेंगे पुराणों की जिनकी संख्या अठारह है और जिनकी श्लोक संख्या चार लाख है। इक्यासी हजार का तो अकेला स्कंद पुराण ही है। पुराणो का महत्त्व सदा स्वीकार किया गया है। वे जिस रूप में आज उपलब्ध हैं वह रूप चाहे बहुत प्राचीन न हो, पर पुराण वेदों के निर्माण के समय भी उपलब्ध थे यह स्वयं वेद मंत्रो से सिद्ध होता है। अथर्ववेद मे कहा है—'ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह।' स्पष्ट है कि अथर्ववेद में ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के साथ पुराण स्मरण भी है। अतः तब भी पुराण थे, यह स्पष्ट है यद्यपि उनका रूप क्या था, कह सकना कठिन है।

वेदों का अध्ययन करने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए पुराण-ज्ञान आवश्यक माना जाता रहा है। पुराणों के बिना वेद-ज्ञान अधूरा ही नहीं खतरनाक भी माना जाता था। वेद-ज्ञान की पूर्ति करने के लिए पुराणों के द्वारा उसकी पुष्टि आवश्यक मानी जाती थी। इस विषय मे प्रचलित धारणा देखिए :

यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदान् द्विजः।
न च पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदः मामयं प्रहरिष्यति॥

अर्थात् जो वेदांगों तथा उपनिषदों सहित चारों वेदों को जानता हो पर पुराणों को नहीं जानता वह विचक्षण नहीं हो सकता। वेदों के ज्ञान की वृद्धि इतिहास और पुराणों से की जानी चाहिए। जो इनका ज्ञान नहीं रखता उससे वेद डरता है और कहता है कि यह तो मेरी हत्या कर देगा।

पुराणों के दस लक्षणों का उल्लेख इस प्रकार है :

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

अर्थात् सर्ग, विसर्ग, स्थिति, पोषण, ऊति, मन्वन्तर कथा, ईशकथा (अवतार वर्णन), निरोध, मुक्ति और आश्रय इन दस विषयों का निरूपण पुराणों में होता है। इनमें से अनेक विषय कुछ नीरस और कठिन प्रतीत होते हैं यद्यपि उनका निरूपण सरसता से किया जाता है। पर अवतार कथा बहुत ही सरस है।

पुराणों के रचयिता वही वेद व्यास माने जाते हैं जो महाभारत के रचयिता थे। अतः यह आशा की जानी चाहिए कि इनमें युद्धों का वर्णन होगा। युद्धों का वर्णन तो इनमें भी है, और खूब है, पर इनमें वेद व्यास जी ने दृष्टि बदल दी है। पुराणों में युद्ध मानवों के बीच नहीं हैं। वे देवताओं और दैत्यों के बीच हैं। व्यास जी को संभवतः अपने युद्ध निरूपण का खेद हुआ और उन्होंने पुराणों के माध्यम से यह संदेश दिया कि लड़ना-भिड़ना देवों-दानवों या सुरों-असुरों का काम है, पृथ्वी पर बसने वाले मानवों का नहीं। जैसा कि अब तक उल्लेख हुआ है देव आकाशचारी पिंड हैं और दैत्य या असुर बादल आदि जो उनके प्रकाश को रोकते हैं। अवतार कथाएं सूर्य अथवा चंद्रमा के किरणों के माध्यम से पृथ्वी तक पहुंचने की कथाएं हैं। राम और कृष्ण के अवतारों का उल्लेख गत अध्यायों में हो चुका है। अब अन्य अवतारों के विषय में किंचित् विचार कर लें।

सर्व प्रथम अवतार 'मीन' अथवा मत्स्य माना जाता है। यह मीन क्षेत्र पर सूर्य किरणों के अवतरण का उल्लेख है। उसके पश्चात् उत्तरायण में मेष क्षेत्र है। मेष नाम किसी ऐसे छोटे द्वीप के आधार पर रखा गया था जिसकी आकृति मेष मुख-सी लगती थी। अन्य लोगों को उसी की आकृति कच्छप जैसी लगती थी। इसी पर उतरने वाली किरणों का उल्लेख कच्छपावतार के रूप में हुआ है। 'वृष' की कल्पना सिंहल की आकृति की वृष-मुख से तुलना करके की गयी थी। अन्य विद्वानों को यही आकृति वराह मुख जैसी दिखायी देती थी। यही 'वराह' अवतार की कथा का मूल है। समुद्र में डूबी पृथ्वी का प्रथम उद्धार सिंहल में होता है। यही वराह द्वारा पृथ्वी को रसातल से लाने की कथा का आधार है। उसके पश्चात् 'नृसिंह अवतार' की कथा है। नृसिंह का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। सिंह और कन्या की भूमि ही 'नृसिंह' का रूप है। आधा भाग नृ (कन्या) का और

आधा सिंह का, यही नृसिंह का अर्थ है। अफ्रीका में भी स्फिंक्स की एक मूर्ति मिलती है जो आधी मानवाकृति और आधी सिंहाकृति व्यक्त करती हैं। इन अवतारों में एक और बात द्रष्टव्य है । प्राणि-विकास में जल से स्थल की ओर प्रस्थान तथा विकास वाद का भी इसमें उल्लेख है । जब संपूर्ण पृथ्वी पर जल ही जल व्याप्त था तब मत्स्य की उत्पत्ति हुई—ऐसे प्राणी की जो जल से बाहर रह भी नहीं सकता। उसके बाद कच्छप का क्रम आया जो जलीय प्राणी होते हुए भी स्थल पर आ जाता है । अगला विकास है स्थलीय प्राणी वराह का। फिर विकास होता है अर्ध मानव का जो थोड़ा बहुत सोचने लगता है पर व्यवहार अन्य प्राणियों का सा ही करता है, वैसा ही खूंखार भी है। यह है नृसिंह। इस बीच में एक छोटा अवतार हयग्रीव भी हुआ जिसे अश्विनी नक्षत्र से सबद्ध किया जा सकता है। इसी प्रकार कच्छप के स्थान पर वृष को ही स्वीकार करने वालो ने ऋषभ देव को अवतार बताया।

मानव रूप मे प्रथम अवतार 'वामन' है जो वस्तुतः देव रूप बताया गया है, मानव रूप नही। वामन कथा से स्पष्ट है कि यह मानव की छाया का कथात्मक निरूपण है। बलि के पास पहुचने का समय मध्याह्न रहा होगा जब छाया बहुत छोटी सी होती है। सकल्प करके दान करने के समय तक सांयकाल हो जाता है और छाया बढ़ कर पूरी पृथ्वी को क्षितिज तक ढक लेती है। राम और कृष्ण की कथाओं का पूरे विस्तार से पहले ही विवेचन हो चुका है। बुद्ध कथा भी पृथ्वी पर चंद्र किरणों के अवतार की ही कथा है। वैशाखी पूर्णिमा को चंद्र का जो लुभावना रूप होता है उसने सबका ध्यान खीचा है। जयदेव ने उसे ही देखकर कहा था 'विलसति हरिरिह सरस वसन्ते।' बुद्ध के अनुयायियों ने उसी को 'बुद्ध' अवतार मान लिया। धन्वन्तरिजी का अवतार धनु की भूमि पर किरणो का अवतार है। सार यह कि विष्णु के अवतारों की ये कथाएं सूर्य या चद्र की किरणों के पृथ्वी के भाग विशेष पर अवतरण की कथाएं हैं। सभी चौबीस अवतारो की कथाए इसी प्रकार समझी जा सकती है पर इतने उदाहरण ही विषय की स्पष्टता के लिए पर्याप्त हैं।

अब पालन कर्त्ता हरि की कथा छोडकर संहर्ता हर का भी थोडा ध्यान कर लें। इनकी पूजा शिवलिंग के रूप मे की जाती है। शिवलिंग वस्तुतः पृथ्वी के गोले का ही प्रतीक है। पर इस लिंग पर एक पानी के घड़े को रख कर उसके पेंदे मे छेद किया जाता है ताकि लिंग पर हर समय जल गिरता रहे। वस्तुतः ये शिव समुद्र है। समुद्र का मूर्तिमान रूप अन्यथा संभव नही था। समुद्र पृथ्वी के गोले पर ही है अतः पृथ्वी का गोला; और समुद्र जल रूप है अतः घडे से टपकता पानी। समुद्र का पानी नीला दिखाई देता है। इसीलिए उसे नीलकंठ कहा जाता है। पुराण बताते हैं कि शिव ने लोक कल्याण के लिए विषपान किया था। उसी से

उनके कंठ नीले हो गये। यह सत्य है कि जल में विष तत्त्व भी है और अमृत तत्त्व भी पर विष तत्त्व—हाइड्रोजन—दो भाग है और अमृत तत्त्व—ऑक्सीजन—एक भाग। कोशकार 'जल' का एक पर्याय 'विष' मानते हैं।

भारत के दक्षिण में वृष क्षेत्र से समुद्र आरंभ होता है; यही शिव के 'वृषारोही' होने के रूप में चित्रित हुआ है। उनके दो रूप हैं: रुद्र और शिव। समुद्र एक ओर अपनी भाप से बादल बना कर वर्षा द्वारा लोक कल्याण करता है तो 'शिव' या 'शंकर' बनता है। दूसरी ओर वही उत्ताल तरंगों तथा झझावातों, वात्याचक्रों मे भीम भयंकर रूप प्रदर्शित करता है तो 'रुद्र' कहलाता है। एक ही नीलकंठ के ये दोनो रूप हैं।

नीलकंठ महादेव का विवाह पर्वत पुत्री पार्वती से होता है। यह पर्वतावृत मिथुन-कन्या क्षेत्र की भूमि है। कन्या भूमि होने से वह पार्वती कन्या है और मिथुन क्षेत्र विवाह का द्योतक है। यों कन्या भूमि ही नीलकठ की पत्नी है। वह सिंह-वाहिनी है यह तो स्पष्ट हो ही गया होगा। शिव की एक और पत्नी है गंगा जिसका शब्दार्थ है नदी। नदी समुद्र की पत्नी मानी जाती है क्योंकि वह समुद्र में जाकर मिलती है।

प्रश्न यह उठता है कि गंगा कोई विशेष नदी है या नदी मात्र। हमारी धारणा है कि नदियां तीन प्रकार की हैं. मुख्य, सहायक और वर्षाकालीन। वर्ष भर बहने वाली नदियां प्रथम दो प्रकार की होती हैं। इनमे जो प्रमुख नदी होती है उसके लिए 'गगा' शब्द प्रयुक्त होता है। जो सहायक नदी होती है वह 'यमुना' कहलाती है। जिसे सामान्यतः गंगा कहा जाता है उसका असली नाम भागीरथी गंगा है। ऐसी ही बाणगंगा आदि अन्य अनेक गंगाएं हैं। जिसे हम सामान्यत. यमुना कहते हैं और जिसका संगम भागीरथी गंगा से होता है उसका नाम है कालिन्दी यमुना। सरस्वती वे नदियां होती हैं जो वर्षा काल में तो जल प्लावित होती हैं पर बाद मे उनकी तली जल रहित हो जाती है, बस थोड़े से छोटे तालाव-से बीच-बीच मे रह जाते हैं। उन सरों के कारण ही वे सरस्वती कहलाती हैं। तो गंगा समुद्र मे मिलती हैं। वही शिव के जटाजूट में रमने वाली गंगा है।

अभी तक हमने चाहे अयन कथा कही हो, चाहे गोल कथा; चाहे रामकथा का उद्गिरण किया हो, चाहे कृष्ण कथा का; चाहे शिवकथा का वर्णन किया हो चाहे रुद्र कथा का; पर अभी तक हम सूर्य मडल का भेदन करके उससे पार नही पहुंचे है। अपने ब्रह्माण्ड से पार पहुचने की तो बात ही क्या? पर पुराणकार सूर्य मण्डल तक ही सीमित नही रहे थे। उससे बाहर अन्य तारो की भी भक्ति उन्होने की थी। अब हम एक ऐसे ही तारे की भक्ति करेंगे जो भक्त ध्रुव नाम से पुराणों में विख्यात है, और जो सदा उत्तर में एक ही स्थान पर बना रहने के कारण हठात् लोगों का ध्यान आकर्षित किये बिना नही रह सका। पुराणकार ने ध्रुव का

परिचय प्राप्त किया और उसके वंश परिवार का भी वर्णन किया। पुराणों में वह वर्णन काफी स्पष्ट सा है, इसलिए हमें भी समझ में आयेगा।

पुराण बताते है कि एक थे राजा उत्तानपाद। उनके थी दो रानियां सुरुचि और सुनीति। सुरुचि के पुत्र हुआ उत्तम और सुनीति के हुआ ध्रुव। राजा का सुरुचि के प्रति प्रेम अधिक था, सुनीति जी उपेक्षिता थी। इसीलिए उत्तम का लाड-प्यार अधिक था, ध्रुव बेचारा अपना-सा मुह लेकर रह जाता। सुरुचि पुत्र उत्तम था, जबकि सुनीति पुत्र ध्रुव केवल उत्तर था। उत्तर मे 'तर' प्रत्यय ही था जबकि उत्तम में 'तम' प्रत्यय था। 'तम' के सामने 'तर' की कैसे चलती। पर एक दिन उत्तर ने साहस किया और उत्तानपाद जी की गोद मे बैठ गया। पर उसे उत्तम के लिए स्थान खाली करना पड़ा। दु खी ध्रुव ने माता को अपना कष्ट बताया पर माता तो स्वय दुखी थी। वह क्या करती। उसने भगवद् भक्ति का उपदेश दिया। ध्रुव चल पडा तपस्या करने और उसे मिल गये कट्टुमरम् वाले नारद जी जो सातों लोकों का विचरण करते ही रहते है। उन्होंने दिया भक्ति का उपदेश। बालक भक्त से हरि प्रसन्न हुए और उसके सम्मुख प्रकट होकर अपना संपूर्ण आशीर्वाद उडेल दिया। ध्रुव की महिमा देख कर उत्तानपाद ने भी अपनी भूल स्वीकार कर ली और अपने बाद राज्य का अधिकारी ध्रुव को मान लिया। ध्रुव ने दो देवियों से विवाह किये। एक थी शिशुमारजी की पुत्री 'भ्रमि' और दूसरी थी वायु की पुत्री 'इला'। पहली अर्थात् 'भ्रमि' के दो पुत्र हुए . कल्प और वत्सर और इला के हुआ उत्कल। उत्तम ने विवाह नहीं किया था। वह मृगया के लिए गया और यक्षों ने मार डाला। समाचार सुन कर उत्तर कुपित हुआ और उसने लाखों यक्ष मार डाले। उत्तम की मृत्यु सुन कर सुरुचि भी मर गयी। ध्रुव ने छत्तीस सहस्र वर्ष राज्य किया और तब स्वर्ग चला गया जहा वह आज भी है। ध्रुव के पुत्र उत्कल ने राज्य की इच्छा नही की। वह तो ब्रह्म में लीन हो गया। तब ध्रुव के दूसरे पुत्र वत्सर को शासन मिला जो भ्रमि का पुत्र था। उसकी पत्नी स्वर्वीथी थी। उसने छः पुत्रों को जन्म दिया : पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु और जय। पुष्पार्ण की दो भार्याए थी : प्रभा और दोषा। प्रभा के तीन पुत्र हुए: प्रातः, माध्यंदिन और सायम्। दोषा ने भी तीन पुत्र उत्पन्न किये : प्रदोष, निशिथ और व्युष्ट। व्युष्ट ने पुष्करिणी मे संपूर्ण तेज का आधान किया और चक्षु को उत्पन्न किया। यह है ध्रुव और उसके वंश की कथा। अब इन्हें पहचानिए।

उत्तानपाद जी वे सप्तर्षि हैं जिन्हें देख कर लगता है कि कोई शीर्षासन कर रहा है। उत्तानपाद का यही अर्थ है कि जिसने ऊपर को टांगें तान रखी हों। उसकी भार्या सुनीति जी है देवयानी अथवा देवयान—दृष्टिगोचर आकाश गंगा। उनके पुत्र ध्रुव को तो सभी जानते हैं पर वह पांच ही वर्ष का क्यों? महाप्रलय के बाद की सृष्टि की आयु सौ वर्ष मानें तो ध्रुव जी पांच ही वर्ष के हैं। उत्तानपाद

की दूसरी रानी हैं सुरुचि जिन्हें आज के दूरवीक्ष यंत्रधारी ऑरोरम कहते हैं। वे ऐसी प्रकाशमान उल्काएं है जिन्हें हम नंगी आंख से देख नहीं सकते। इनके पीछे है ध्रुव से भी बड़ा तारा—उत्तम—जिसे दूरी के कारण देख सकना संभव नहीं। श्रीकृष्ण ने गीता मे 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं' कहा, वह ध्रुव मूलक काल गणना का ही उल्लेख था। उस समय ध्रुव मृग नक्षत्र पर था। वही 'उत्तम' भी था जो दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। यही मृगया को गये उत्तम के मारे जाने का अर्थ है।

ध्रुव ने लाखों यक्षो को मार कर बदला लिया अर्थात् वे लाखों तारे भी दिखाई नहीं देते जो उसके प्रकाशपुंज में छिप जाते हैं। ध्रुव ने शिशुमार की पुत्री भ्रमि से विवाह किया अर्थात् आकाश में 'परिक्रमा' गति का प्रचलन किया। भ्रमि ने कल्प और वत्सर नामक दो पुत्र उत्पन्न किये। कल्प वह काल है जिसमें सूर्य अपने अक्ष पर घूमता हुआ भी अपनी कक्षा मे शिशुमार चक्र में अपने ब्रह्माण्ड केंद्र की परिक्रमा पूरी करता है। ध्यान रहे उसकी इस परिक्रमा मे उसका नवग्रह परिवार उसके साथ होता है। तो जैसे ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं वैसे ही सूर्य अपने ब्रह्माण्ड केंद्र की परिक्रमा करता है। भ्रमि का दूसरा पुत्र वत्सर अर्थात् वर्ष है जिसमे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा पूरी कर लेती है। यों ध्रुव काल गणना का पिता है। एक काल गणना कल्प वाली जिसमें सूर्य अपने आराध्य की परिक्रमा पूरी करता है। दूसरी काल गणना वर्ष मूलक जिसमे पृथ्वी अपने आराध्य की परिक्रमा पूरी करती है। ये दोनों ही गणनाएं आकाश को रस्सियों से—कलाओं से—विभक्त करके की जाती है। दूसरी गणना है वायु पुत्री इला के पुत्र उत्कल की। अर्थात् वायु तत्व से उत्पन्न अग्नि पिंडों के निर्माण मे लगने वाले काल की। वह काल इतना दीर्घ है कि उसे कल्पों में भी व्यक्त कर सकना असंभव है। जब आकाश में अग्नि पिंड ही नहीं हैं तो उसको कलाओं मे विभक्त करके स्थान निर्धारण किसका करेंगे। बस अनन्त कोटि वर्षों तक, अपितु कल्पों तक, वायु ही वायु, गैसें ही गैसें क्रिया-प्रतिक्रिया करती रहती हैं जब तक अनन्त कोटि प्रकाश पिंड नहीं बन जाते और अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में विभक्त नहीं हो जाते। जब छत्तीस हजार वर्ष राज्य करके, अर्थात् एक-एक राशि पर तीन-तीन हजार वर्ष रहकर छत्तीस हजार वर्षों में यह ध्रुव अपनी एक परिक्रमा पूरी कर लेता है तो मान लिया जाता है कि उसने अपना राज्यकाल समाप्त कर दिया। यह छत्तीस हजार की काल गणना वत्सर मूलक है।

वत्सर की पत्नी स्वर्वीथी है: आकाश मार्ग अर्थात् अयन-मंडल। वह छः पुत्र उत्पन्न करती है अर्थात् छः ऋतुएं। दिये हुए नाम हैं: पुष्पार्ण (वसंत), तिग्मकेतु (ग्रीष्म), इष (वर्षा) ऊर्ज (शरत्), वसु (हेमंत) और जय (शिशिर)। यों देवी भगवती की जययात्रा समाप्त होती है। अब लीजिए पुष्पार्ण जी का परिवार।

उनकी दो पत्नियां है : प्रभा (अहर्) और दोषा(निशा) । प्रभाजी के तीन पुत्र है : प्रातः, माध्यन्दिन और सायम् । दोषा जी के भी तीन पुत्र हैं प्रदोष, निशिथ और व्युष्ट । व्युष्ट क्षितिज (पुष्करिणी) में चक्षु नामक पुत्र को उत्पन्न करता है जिसका राज्य क्षेत्र प्रकाश है । अब लीजिए इस संपूर्ण कथा की भागवत पुराण की भाषा में पुष्टि—

जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ।।
एकदा सुरुचेः पुत्रमंकमारोप्य लालयन् ।
उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ।।
तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम् ।
सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता ।।
न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति ।
न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मज ।।
सुनीतिः—नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद् ।
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन ।।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया ।
श्रियेतरैरंग विमृग्यमाणया ।।
नारदः—जनन्याभिहितः पन्थाः सर्वं निश्रेयसस्य ते ।
भगवान् वासुदेवस्तं भजतत्प्रवणात्मना ।।
भगवान्—नान्यैरधिष्ठितं भद्र यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति ।
यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम् ।।
मेढ्यां गोचक्रवत्स्यास्नु परस्तात् कल्पवासिनाम् ।
धर्मोग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो वै वनौकसः ।।
चरन्ति दक्षिणी कृत्य भ्रमन्तो यत्सतारका ।
प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः ।।
उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ ।
इलायामपि भार्यायां वायोः पुत्र्यां महाबलः ।।
पुत्रमुत्कलनामानं योषिद्रत्नमजीजनत् ।
उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा ।।
हतः पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता ।
षट्त्रिंशद्वर्ष साहस्रं शशास क्षितिमण्डलम् ।।
ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम् ।
सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः ।।
............कुलवृद्धाः समन्त्रिणः ।

वत्सरं भूपति चक्रुर्यवीयांसं भ्रमेः सुतम् ॥
स्वर्वीथिर्वत्सरस्येष्टा भर्या सूत षडात्मजान् ।
पुष्पार्णं तिग्मकेतुं च इषमूर्जं वसुं जयम् ॥
पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः ।
प्रातर्माध्यंदिनं सायमितिह्यासन् प्रभाः सुताः ॥
प्रदोषो निशिथो व्युष्ट इति दोषासुतास्त्रयः ।
व्युष्टः सुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे ॥
स चक्षुः ·······।

यों आप सुमेरु अर्थात् उत्तर ध्रुव के परिवार से परिचित हुए। अब उत्तर अर्थात् दक्षिण ध्रुव का परिचय सुनिए जिसका दूसरा नाम अगस्त्य है। इस शब्द का भी अर्थ ध्रुव ही है। वह कुंभ का पुत्र 'कुंभज' है। दक्षिणायन में अंतिम क्षेत्र मकर है। उत्तरायण में कुंभ क्षेत्र भी वही है। वही कुंभज का पिता बताया गया है। कुंभज की जठराग्नि प्रबल बतायी गयी है। वस्तुतः उससे निकट के प्रदेशों में जो रहते हैं उन्हें हर क्षण अग्नि साथ रखनी पड़ती है। ऐसे देश को स्पेन वासियों ने 'तेरा देल फ्यूगो' अर्थात् अग्निदेश कहा। कट्टुमरम् वाला नाविक जिस दिशा में चल कर वहां पहुंचा था उस दिशा का ही नाम उसने 'अग्निकोण' रख दिया।

इस अध्याय में पुराणों के केवल वे अंश लिये गये हैं जो अति स्पष्ट हैं। पर चार लाख श्लोकों में अनन्त ज्ञान भरा है। उसे समझने के लिए दिव्यदृष्टि अपेक्षित है। यदि दिव्यदृष्टि से देख कर समझने का यत्न करें तो बहुत बड़ी ज्ञान राशि मिलेगी। सर्ग-प्रतिसर्ग तो विस्तार से वर्णित है ही। पांचभौतिक सृष्टि का भी बहुत ही गहन विवेचन है। पर उसे समझने का यत्न कौन करे? गपोड़ कह कर, बेहूदा बता कर, उन्हें फेंक देना ही सरल है और वेदों को ही सब कुछ मानने वाले विद्वान् तो उस ज्ञान को निन्द्य मान कर छोड़ते भी हैं। पर वे न तो वेदों को सही समझते हैं न पुराणों को। वेदों को भी समझने के लिए दिव्यदृष्टि अपेक्षित है, पुराणों के लिए भी। दोनों ही का ज्ञान उतना ही प्राचीन है। पर लगता है पुराण लोक भाषा में प्रचलित ज्ञान के संस्कृतानुवाद हैं जबकि वेदों की रचना मूलतः उदीच्य भाषा में ही हुई। पर वेदों को समझने का यत्न तभी संभव है जब पहले पुराण समझ में आ जाए। पर 'चतुर्लक्षं तु ज्योतिषम्' समझना जिनका कर्तव्य होना चाहिए वे तो यवनों के उधार लिए अर्धज्ञान को ही अपना मान बैठे हैं और प्राचीन ग्रंथों के आधार पर गणना को दोष पूर्ण पाते हैं तो एरोनॉटिकल एल्मानाक में दी हुई ग्रह स्थिति को अपने पंचांगों में यथावत् उतार लेते हैं। पत्थर की आंखों से देखने वाले और क्या करेंगे। पुराणों का सब कुछ चाहे साधु न हो पर बहुत कुछ तो है ही।

वह विस्मृत महाकाल

गत अध्याय में हमने सूर्यकृत परिक्रमा के आधार पर कल्पकाल पर विचार किया और पृथ्वीकृत परिक्रमा पर आश्रित वत्सर या वर्षकाल पर। अब 'महाकाल' पर विचार करेंगे जो पृथ्वी के अपने अक्ष पर घूर्णन से संबद्ध है। हमारे देश में महाकाल का एक प्रसिद्ध मंदिर है, उज्जैन में। वह मंदिर उज्जैन मे ही क्यों बना ? उस देवता का परिचय क्या है ? 'उज्जैन' नगरी किसकी है ? उसका प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य कौन था ? वह अब भी है या मर गया ? वह हुआ भी या नही ? वह जिस क्षेत्र का राजा था, वह क्षेत्र अवन्ति क्यों कहलाता था ? विक्रम यदि कभी सिंहासन पर बैठा तो कब और कैसे ? क्या वह चक्रवर्ती राजा था ? यदि था तो इतने बड़े राजा का कोई ऐतिहासिक विवरण इतिहासविदों को क्यों नहीं मिलता ? ये और ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्न हो सकते हैं जिन पर विचार करने का यत्न इस अध्याय मे किया जाएगा।

प्रथम अध्याय मे चर्चा हो चुकी है कि भक्ति करने वाले अक्षवाट के उपासक ने उज्जैन के रेखांश को निरक्ष रेखांश माना था और उस रेखांश के विषय मे कहा था कि

यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादि देशान् स्पृशत्।
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः॥

तो भारत में उज्जैन वह स्थान था जो कर्क रेखा पर उस स्थान पर था जिस पर शून्य रेखांश अर्थात् निरक्ष उसे काटे। यहां का सूर्योदय देश भर के लिए प्रामाणिक माना जाता था। यहां के काल के साथ तुलना करके ही अन्य स्थानों के स्थानिक काल निर्धारित किए जाते थे। इसलिए वह नगरी 'उदयिनी' कहलाती थी। 'उदयिनी' का प्राकृत रूप 'उजेणी' बना जो पुनः संस्कृतीकरण मे 'उज्जयिनी' हो गया। यह उत्तरायण गत सूर्य की परा सीमा थी। यहां कर्क की समाप्ति होती थी और सिंह संक्रान्ति का आरंभ। इकत्तीस दिन से अधिक कर्क में रहकर

सूर्य जब सिंह में प्रवेश करता है तो उसे कहा जाता है उसका सिंहासनासीन होना। सूर्य कुछ राशियों में तीस से कम दिन रहता है, कुछ में तीस, कुछ में तीस से अधिक, कुछ में इकत्तीस से भी अधिक अर्थात् बत्तीसवें दिन भी उसी राशि पर रहता है। वृष, मिथुन, और कर्क पर वह इकत्तीस दिन से अधिक रहता है। मों कर्क पर बत्तीसवें दिन भी रह कर वह सिंह में प्रवेश करता है। यही सिंहासन की बत्तीस पुतलियों का रहस्य है। बत्तीस पुतलियों को उत्तर देकर ही वह सिंह के आसन पर बैठता है। अब तक उत्तरायण चल रहा था अतः उस का 'संक्रम' हो रहा था। अब दक्षिणायन होगा अतः 'विक्रम' होगा। अपने स्थान की दिशा में आने की क्रिया 'संक्रम' है, उससे वियुक्त होकर विपरीत दिशा में जाने की क्रिया 'विक्रम' है। यो विक्रमण करने वाला सूर्य ही विक्रमादित्य है। वह उदयिनी का राजा सदा रहा है, सदा रहेगा। पर उसके शिलालेख या दान पत्र नहीं मिलेंगे। वह तो चक्रवर्ती नरेश है। अपने अक्ष पर चक्र में निरत रहता है। अपने ब्रह्माण्ड केंद्र की परिक्रमा भी करता है।

उस विक्रमादित्य के अपनी राजधानी में उदित होने पर आधारित काल ही लंकोदयकाल कहलाता है। वही हमारे देश में 'महाकाल' नाम से पूजित हुआ। हम ज्ञान के सभी विषयों को मूर्तिमान रूप देते हैं। हमने 'महाकाल' की मूर्ति बनाई। उसकी प्रतिष्ठा 'उदयिनी' नगरी में हुई। उस विक्रमादित्य का प्रिय क्षेत्र कर्क और मकर रेखाओं के बीच है। अत. वही उसका राज्य क्षेत्र माना जाता है। यों दक्षिणायन का क्षेत्र विक्रमादित्य का क्षेत्र है। दक्षिण का एक नाम 'अवाची' है। अवाची क्षेत्र का ही अन्य नाम 'अवन्ति' है। अवन्ति की राजधानी उदयिनी है।

'उदयिनी' राजधानी का राजा होने के कारण वही विक्रमादित्य 'उदयन' कहलाता है। वह 'उदयन' जब वृष राशि पर होता है तब वत्सराज कहलाता है। वह प्रचंड ज्वाला वाले मिथुन सूर्य की कन्या से विवाह करता है। इस घटना का वत्सराज द्वारा प्रद्योत की पुत्री के साथ विवाह के रूप में वर्णन किया जाता है— प्रद्योतस्य प्रणयदुहितां वत्सराजोऽत्रजह्रे। यही सूर्य जब अपनी चडता खो देता है और सुहाने लगता है, तब शीलादित्य कहलाता है।

अब ज्ञातव्य है कि जब विक्रम नाम का कोई मनुष्य राजा ही नहीं हुआ तो आज से 2044 वर्ष पूर्व विक्रम सवत्सर का प्रवर्तन किसने किया। पहली बात तो यह है कि इसका प्रवर्त्तन आज से 2044 वर्ष पूर्व नहीं हुआ। इसका तो प्रवर्तन छठी शताब्दी में हुआ और मालव सवत्सर के नाम से हुआ। दूसरी बात यह कि इसका प्रवर्त्तन पश्च गणना के आधार पर हुआ। छठी शताब्दी में मालव क्षेत्र के ज्योतिर्विदों ने ग्रहों की ज्ञात गति के आधार पर गणना करके यह स्थिर किया कि सिंह राशि में अष्टग्रही कब रही होगी। उनकी गणना के अनुसार जिस दिन यह

निहस्य अष्टग्रही हुई उसी दिन से विक्रम संवत् का प्रवर्त्तन माना गया। यह प्रवर्तन आज की तरह चैत्रादि नहीं था, श्रावणादि था। आर्यभट आदि ने फिर मेष में अष्टग्रही की गणना की और उनकी गणना के आधार पर विक्रम से एक सौ पैंतीस वर्ष बाद वह तिथि निर्धारित हुई जब से शक संवत्सर का आरंभ माना गया। यह शक संवत्सर चैत्रादि है क्योंकि सूर्य मेष राशि में चैत्र मे होता है। ये दोनों ही संवत्सर चांद्र मास वाले हैं। पर इन में चांद्र और सौर मासों का परस्पर समन्वय है। चाद्र मासों के नामकरण मूलतः चंद्र की नक्षत्र विशेष मे स्थिति के आधार पर हुए थे। पर जब चांद्र और सौर का समन्वय किया गया तो चांद्र मासों का नामकरण भी सौर मासों के आधार पर किया जाने लगा। जिन दो अमावस्याओं के बीच मेष का संक्रमण हो उनके बीच की अवधि का नाम चैत्र हुआ। चैत्र की अमा की समाप्ति पर वैशाख का आरंभ। पर चांद्र मास का माध्यमान 29.5 दिन का होता है और सौर मास का माध्यमान 30.4 दिन के लगभग होता है। अतः दोनों के बीच समन्वय अभीष्ट होता है। सौर वर्ष 365 दिन से अधिक अवधि का होता है तो चान्द्र वर्ष 354 दिन की अवधि का ही। इस ग्यारह दिन से अधिक के अन्तर का समाधान अधिक मास द्वारा होता है। लगभग तीन वर्ष बाद ही यह स्थित आती है कि एक चांद्र मास ऐसा हो जाता है जिसमें सौर संक्रमण होता ही नही। जब उसमें सक्रमण ही नही हुआ तो उसका नामकरण किस आधार पर हो। अतः उस मास को अधिक मास की संज्ञा दी जाती है। पर उस मास में लोग जनमते-मरते भी है अतः उनके जन्म-दिवस, पुण्यतिथि, श्राद्ध आदि किस प्रकार किए जाएं, यह प्रश्न उपस्थित होता है। अतः उसे आगामी मास की संज्ञा दे दी जाती है। उदाहरणार्थ आगामी वर्ष मे दो ज्येष्ठ मास होंगे। वस्तुतः प्रथम ज्येष्ठ अधिक मास है। यदि एक ही चांद्र मास मे दो सौर संक्रमण हों तो दूसरे मास का क्षय होता है।

ऊपर का यह विवेचन मुख्यमान के आधार पर है जिसमे मास का आरंभ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से होता है और मास का अन्त अमावस्या को। यह पद्धति दक्षिण, महाराष्ट्र और गुजरात मे है। पर उत्तर भारत के बहुत बड़े भाग मे— राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, जम्मू-कश्मीर, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार मे— गौण मान पद्धति प्रचलित है जिसमें मास कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को प्रारभ होता है और पूर्णिमा को समाप्त होता है। इसके माग मे मुख्यमान से भिन्नता यह है कि इसमें कृष्णपक्ष पूर्ववर्ती होता है जब कि मुख्यमान मे शुक्लपक्ष होता है। गौण मान में जो वैशाख कृष्णपक्ष होता है उसी का नाम मुख्यमान मे चैत्र कृष्णपक्ष होता है। यों शुक्लपक्ष तो दोनों ही मानो में समान है पर कृष्ण पक्ष के विषय मे एक मास का अन्तर रहता है। मुख्यमान का वर्ष चैत्र के आरभ से प्रारभ होता है और फाल्गुन की समाप्ति पर समाप्त होता है, जबकि

गौणमान में वह चैत्र के मध्य में आरंभ होकर चैत्र के मध्य में ही समाप्त होता है। यो चैत्र का पूर्वार्ध विगत वर्ष मे होता है, उत्तरार्ध आगत वर्ष में। मासों के नामकरण मुख्य मान के आधार पर करके कृष्णपक्ष मे परिवर्तन कर लिया जाता है। यों गौणमान मूलतः तो मुख्यमान पर ही आधारित है। पर उसमे केवल कृष्णपक्ष के प्रसंग मे अन्तर होता है। उदाहरणार्थ कृष्ण जन्माष्टमी गौणमान के अनुसार होती है भाद्रपद मे जबकि मुख्यमान के अनुसार श्रावण में; दीपावली मुख्यमान के अनुसार आश्विन मे होती है, गौणमान के अनुसार कार्तिक में। श्राद्ध पक्ष मुख्यमान से भाद्रपद का कृष्णपक्ष है, गौणमान से आश्विन का कृष्णपक्ष। मुख्यमान जिन क्षेत्रों मे प्रचलित है वहां अधिकतर शक संवत्सर की मान्यता है। गौणमान वाले क्षेत्रों मे विक्रम संवत्सर प्रचलित है यद्यपि दोनों ही संवत्सर अब चैत्र शुक्ल पक्ष से ही आरंभ होते हैं। श्रावणादि विक्रम संवत्सर का शक संवत्सर से समन्वय अनेक शताब्दी पूर्व हो चुका था पर पता नहीं 'कृष्ण पक्ष' के विषय मे गौणमान वाले आज भी क्यो अड़े हुए है। वर्ष का मास के मध्य मे समाप्त और आरंभ होना तथा एक ही मास का दो वर्षों के बीच विभाजित होना विचित्र लगता है। पर इसकी एक सुदीर्घ परंपरा है और भारत की बहुत बड़ी जन संख्या इसी मान को स्वीकार करती है।

यहा सायन-निरयण पर भी थोड़ा-सा विचार कर लें। हमारी रामायण कथा इस बात का प्रमाण है कि हम सायनवादी थे। पर बीच मे यवनों के ज्योतिष ने अभिभूत किया और वे थे निरयणवादी। वस्तुतः उन दिनो सायन निरयण का अंतान्तर उतना अधिक था भी नही जितना आज है। तीसरी शताब्दी के अंतिम चरण मे तो दोनों ही दृष्टियो से ग्रहस्थिति एक सी थी। पर फिर भी यवन लोग निरयण वर्ष को मानते थे और जब हम उनकी पूछ पकड़कर वैतरणी पार करने चले तो हमने छोड़ा अपनी पापतारिणी रामायण को और अपना वैसे निरयण वर्ष। आज का यवन दृष्टिवाला ज्योतिषी चिपटा हुआ है उसी विदेशी परंपरा से जो उसने कोई सत्रह सौ वर्ष पूर्व अपनायी थी। विडंबना यह कि यवनों को परम गुरु मानने वाला यूरोप-अमेरिका-आस्ट्रेलिया का ज्योतिर्विद तो सायन वर्ष को ही अपनाता है और उनके कलेंडर को अपनाने वाले हम भारतीय भी उसी वर्ष का अनुसरण करते हैं पर फिर भी भारतीय परंपरा के नाम पर यवन ज्योतिष को पकडे रहने वाले अर्ध विदग्ध आज भी अड़े हैं निरयणवाद पर। निरयण वर्षमान सायन की तुलना मे थोड़ा सा बड़ा होता है जिसके परिणाम स्वरूप आज संक्रमण काल मे कोई 24 दिन का अन्तर हो गया है। पर विडंबना यह है कि हम अपनी रामायण को तो छोड़ रहे हैं और यवन गणना को अपनी मान कर पकडे हुए है। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् भारतीय कलेंडर बनाने हेतु डा० मेघनाद साहा की अध्यक्षता मे एक समिति बनी थी। उन्होंने 22 मार्च से आरंभ होने वाला

सायन सौर कलेंडर सुझाया था। बहुत सुविचारित कलेंडर था। पर कुछ वर्ष पूर्व कुछ लोगों ने शोर मचाया कि सायन पद्धति अभारतीय है अत: साहा कलेंडर नही चला। निरयण कलेंडर चलाया जाए जो सर्वथा भारतीयता का प्रतीक होगा। वस, सरकार ने भी इसे स्वीकृति दे दी और एक पंड्या समिति बन गयी है। वह निरयण की रक्षा करेगी, भारतीयता (?) की रक्षा करेगी, रामायण की अन्त्येष्टि करेगी, पता नही क्या-क्या करेगी। पर यह सोचना भारी भ्रम है कि साहा कलेंडर इसलिए मान्य नहीं हुआ कि वह सायन था। वह तो इसलिए मान्य नही हुआ कि जिस सरकार ने उसे बनवाया, उसी ने उसे प्रचलित नहीं किया। केवल कुछ चिट्ठियो मे 'भाद्र' की जगह 'भद्रा' लिख देने से थोड़े ही प्रचलन होता है। जब तक वेतन जनवरी, फरवरी के हिसाब से मिलेगा; जब तक और सब काम उन्ही के अनुसार होंगे; जब तक स्वतंत्रा दिवस 15 अगस्त को मनेगा, गणतंत्र दिवस 26 जनवरी को होगा, राष्ट्रपिता को 2 अक्तूबर को याद किया जाएगा तब तक कैसे आशा की जा सकती है कि साहा कलेंडर या पड्या कलेंडर या कोई और कलेंडर मान्यता पा सकेगा। देश मे शिक्षा प्रचार की वृद्धि का एक परिणाम अवश्य हुआ है कि भारत मे पढ़ा-लिखा वही माना जाता है जो भारतीय मासो के नाम न जाने। उनके नाम या तो केवल अपठित ग्रामीण जानते है या वे जो यवन ज्योतिप की कमाई खाते है। अभी तक भारतीय कलेंडर का यही उपयोग रहा है कि कुछ चिट्ठियों पर अतिरिक्त रूप से '5 भद्रा' जैसे शब्द लिख दिए जाते हैं जिन्हें कोई भी पढता नहीं। इतने से अतिरिक्त प्रयोग के लिए पता नही क्यों समितिया बनाई जाती हैं, क्यों प्रतिवेदन छापे जाते है, क्यों निरर्थक बौद्धिक व्यायाम होते है, क्यों पंचांग छपते है ?

विक्रम संवत्सर और शक संवत्सर की चर्चा करते-करते यह प्रसंग लेना पड़ा क्योंकि भारतीयता के नाम पर बाहरी वस्तुओ का समर्थन हमे बहुत कष्ट देता है। जिस ज्ञान ने हमारे ज्ञान की हत्या की उसी को हम अपना बताते है और उसी की रक्षा को धर्म की रक्षा मान लेते है। इससे बढ कर विडवना क्या हो सकती है !

अब हम पुन. सिहावलोकन करें और विक्रमादित्य के सिंहासन की नगरी मे आ जाए। विक्रम, वत्सराज उदयन, प्रद्योत, चंड महासेन, शीलादित्य, वासवदत्ता, पद्मावती, यौगधरायण सबके सब दिव्यदृष्टि के विषय हैं। इनकी कथाओं के माध्यम से अनेक विषयों का ज्ञान कराने वाला एक अद्भुत ग्रंथ रचा गया था मालवा की ग्रामीण बोली मे। नाम था 'बड्ढ कहा'। रचयिता था गुणाढ्य। अद्भुत ग्रंथ था। देश का बहुत बडा वाङ्मय उस पर आश्रित है पर विडंबना यह कि वह आधार ग्रंथ आज प्राप्य नही है। वस्तुत' बडी करुण कहानी है, उसकी और उसके रचयिता की। वह कहानी मिलती है अन्यत्र। उसके संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर कथा सरित्सागर की रचना की थी : सोमदेव ने। उसका दूसरा संस्कृत रूपान्तर

क्षेमेंद्र रचित बृहत्कथा मंजरी है। पर दोनों ही सरस कथाओं के संग्रह मात्र रह
गये हैं। कितनी ज्ञान राशि रही होगी उस अपूर्व ग्रंथ में जो आज नहीं है।

गुणाढ्य की करुण कथा इस प्रकार है कि वह अश्मक नरेश की राजसभा का
विद्वान् था। राजा अल्पशिक्षित था, रानी विदुषी थी। जलक्रीड़ा करते हुए राजा
ने रानी पर पानी फेंका तो उसने कहा 'मोदकैर्मा ताडय' अर्थात् मुझ पर पानी
से प्रहार मत करो। भोला राजा समझा कि कह रही है मुझ पर लड्डुओं से
प्रहार करो। उसने वैसा ही किया। रानी हंसी। राजा लज्जित हुआ। बात समझ
कर और भी लज्जित हुआ। उसने कहा—क्या कोई मुझे छः मास मे व्याकरण
पढ़ा देगा? उपस्थित वैयाकरण ने कहा कि मैं पढ़ा दूगा। गुणाढ्य बोला—
असम्भव है। यदि कोई इस राजा को पढा दे तो मैं राज सभा छोड़ दूंगा, संस्कृत-
प्राकृत मे रचना करना छोड़ दूंगा। वैयाकरण ने जो कहा था सो कर दिखाया।
गुणाढ्य ने भी वन में जाकर स्थानीय बोली मे रचना आरंभ की। कथा
के अनुसार उसने अपने रक्त को स्याही बना कर पत्तो पर रचना लिखी।
सात लाख श्लोक-प्रमाण रचना लेकर वह राज सभा में गया। दिखाना चाहा कि
कैसी अद्भुत रचना है। पर राजा ने रक्ताक्षरों को देखते ही उसे पढना या सुनना
उचित नही समझा। निराश गुणाढ्य वन मे आ गया। आग जला ली। एक-ए
पन्ना पढ-पढ कर पशु-पक्षियों को सुनाने लगा। जिस पन्ने को पढ लेता उसे आ
मे डाल देता। पशु-पक्षी इतने दत्तचित्त होकर सुन रहे थे कि दाना-पानी छो
कर बैठ गये, हिले ही नही। व्याध आते, उनके सूखे शरीरों को घसीट कर
जाते। सूखे मांस को खाने से राजा को गुल्म रोग हुआ। वैद्यों ने कारण बत
तो व्याधों से पूछा गया। उन्होने बताया कि वन मे कोई पडित बैठा कथा
रहा है। पशु-पक्षी सुन रहे हैं। हिलते ही नही। मांस सूख गया है। जैसा मि
है, लाते हैं। राजा ने वन मे जाकर देखा। थोड़ी कथा सुनी। लिपट गया गुण
से। ले आया उसे राजधानी में। पर छः लाख श्लोक नष्ट हो चुके थे। केवल
लाख बचे थे।

वेदना की बात यह कि वह एक लाख की बड्ढकहा भी तो आज देख
नहीं है। आज उसका जो अंश है वह संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर के रूप
विडंबना यह कि गुणाढ्य ने संस्कृत विरोध के कारण ग्राम्य भाषा मे रच
थी। उसका मत था कि विज्ञान के विकास के लिए किसी अखिल भ
भाषा की आवश्यकता नही। बोलियों में ऐसी रोचक कथाएं बनाकर उनके
से ज्ञान का प्रचार किया जाए तो अधिक सरल होगा। उसने ऐसी भाषा मे
की जिसे ग्रामवृद्ध समझ कर लोगों को समझा सकें। इसीलिए उसका
बड्ढ कहा अर्थात् वृद्ध कथा (बृहत्कथा नही)। संस्कृत के 'ऋ' का प्राकृ
भी होता है, 'इ' भी और 'उ' भी। कृष्ण-कण्ह प्रथम का उदाहरण है, ऋ

द्वितीय का और वृक्ष-रवस्र तृतीय का। 'वड्ढकहा' प्रथम कोटि का शब्द था। वृद्ध कथा को वृद्ध जन कहा करते थे। कालिदास इसकी पुष्टि करता है—प्राप्यावन्तीमुदयनकथा कोविदग्रामवृद्धान्। खेद है कि वह बड्ढ कहा आज दर्शन को भी उपलब्ध नहीं। यह सूचना भी उपलब्ध है तो उसी सस्कृत के माध्यम से, जिसके विरोध में गुणाढ्य ने महाग्रंथ रचा था। काश! उसने अखिल भारतीय भाषा का महत्त्व समझा होता और उसी में रचना की होती। कहते है 'बड्ढ कहा' नेपाल में उपलब्ध है। यदि कोई उसके दर्शन करा सकें तो महोपकार होगा।

वड्ढकहा की रचना मालवा की स्थानीय वोली में हुई थी। मालवा की लाल कंकर की भूमि पिशाश्मक भूमि कहलाती थी और इसी लिए उसकी भाषा का नाम था पिशाश्मकी जिसका प्राकृत रूप 'पिशाच्चि' बना और पुनः संस्कृतीकरण में 'पैशाची' हो गया। उसका पिशाचों से कोई संबंध नही था। आज भी जो लोग सार्वदेशिक भाषा के विरोध में बोलियों को उठाने का आन्दोलन चलाते हैं, उन्हें गुणाढ्य से कुछ शिक्षा लेनी चाहिए।

विक्रम प्रसंग मे गुणाढ्य कथा काफी लंबी बढ़ गयी। पर इस करुण कथा ने मेरे मन को वहुत वार बहुधा आंदोलित किया है अतः अपनी करुणा का विसर्जन आवश्यक था। वोलीवादियों को चेतावनी देना भी आवश्यक था। गुणाढ्य की रचना चाहे आज उपलब्ध नही है पर सस्कृत का एक विशाल वाङ्मय उसका ऋणी है, यह तो मानना ही पडेगा। भास, कालिदास, शूद्रक जैसे महान् नाटककार उस महाकवि के ऋणी है। यदि कोई नेपाल या भूतान से उस भूत भाषा की रचना का उद्धार कर सकेगा तो हम उसके ऋणी होगे। निस्संदेह 'बड्ढ कहा' भारतीय साहित्य का एक महास्तंभ है। संस्कृत साहित्य को उसकी देन महान् है। वोलीवादियों के लिए उसकी शिक्षा महान् है।

वृद्ध कथा की कथाओं मे से कुछ का श्रवण करने का अवसर विदेशी राजदूत मेगस्थने को मिला था। उसका दिया हुआ विवरण इतिहास विदों के लिए पहेली बना हुआ है। वर्णन इस प्रकार है "हरकुलेस सौरसेनोइ लोगों के इष्ट देव हैं। उनके दो नगर है: एक मेथोरा, दूसरा क्लिसबुरा जिसके पास एबोन्नी नदी बहती है। हरकुलेस की पुत्री पाण्ड्या का राज्य दक्षिण में पाण्ड्य प्रदेश मे है। हरकुलेस दायोनीसस से पद्रह पीढी बाद हुआ। सिबि लोग अपने आपको हरकुलेस का वंशज मानते हैं।" श्री नीलकंठ शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'राइज ऑफ नदज एंड मौर्यज' मे इस उद्धरण का अर्थ करने की कोशिश की है। उसने मेथोरा को मथुरा तथा ऐबोन्नी को यमुना माना है। क्लिसबुरा के विषय में 'कृष्णपुर' की कल्पना करके प्रश्न चिह्न लगा दिया है। वे स्वयं संतुष्ट नही है। शेष अंश को शैववाद का प्रभाव मानते है।

शास्त्री जी का अर्थ वस्तुतः ठीक नही है। मेथोरा दक्षिण की मदुरा नगरी

है। वह कन्याओं के पाण्ड्य देश की प्रसिद्ध राजधानी रही है। क्लिसबुरा और एवोन्नी को यवनानी से अनुवाद करने वालों ने उलट दिया है। एवोन्नी 'अवन्ति' का यवन रूप है और क्लिसबुरा 'शिप्रा' या 'क्षिप्रा' का। हरकुलेस 'हरिकुल' का यवन रूप है; दायोनीसस 'दिनेश' का। शिवि लोग सूर्यवंशी थे। अत: शैव मत की कल्पना निरर्थक है। सौरसेन सूर्योपासक लोग हैं। पूरे कथन का अर्थ यह है: हरिकुल सूर्योपासक हैं। उनके दो प्रसिद्ध नगर हैं। एक मदुरा, दूसरा शिप्रा के किनारे अवन्ती। हरिकुल की कन्या पांड्या का राज्य दक्षिण के पाण्ड्य प्रदेश में है। हरिकुलेस दायोनीसस से पन्द्रह पीढ़ी पश्चात् हुआ। शिवि लोग अपने को सूर्यवंशी (हरिकुल का) मानते हैं।

'वड्ढ कहा' के अद्भुत काव्य की खोज हम सबका कर्तव्य है। उस महास्तंभ के बिना तीन खंभों पर ही साहित्य भवन को टिकना होगा। तमिल की 'पेरुकदै' का भी हिन्दी रूपान्तर हो जाए तो महान् उपकार होगा। कदाचित् वह सीधे 'वड्ढ कहा' पर आश्रित हो।

पर 'पेरुकदै' शब्द से तो यही लगता है कि वह बृहत् कथा मंजरी पर आश्रित है क्योंकि 'पेरु' का अर्थ 'बृहत्' है, 'वृद्ध' नहीं। यदि 'वड्ढ कहा' देख कर तमिल रूपान्तर किया गया होता तो नाम 'पेरुकदै' नहीं होता। इस विषय में कोई तमिल विद्वान् ही प्रकाश डाल सकता है।

निस्संदेह बृहत्कथा बनने से पूर्व भी 'बड्ढ कहा' बहुत लोक प्रिय रह चुकी थी। इसीलिए कालिदास से भी पूर्ववर्ती भास जैसे रचयिता ने भी उसकी कथाएं लेकर रचना की। महाभारत पर आश्रित अभिज्ञानशाकुंतलम् और रामायण पर आश्रित उत्तररामचरितम् यदि गौरव ग्रंथ है तो स्वप्नवासवदतम्, चारुदत्तम् और मृच्छकटिकम् भी किसी से पीछे नहीं हैं। एक गवार बोली में लिखा गया ग्रंथ यदि इतना श्रद्धा का भाजन बना है तो निस्संदेह उसमें अपार साहित्यिक गरिमा थी, अपूर्व ज्ञान भंडार था। दुर्भाग्य है कि वह भी आज उसी स्थिति को प्राप्त है जिसको बहुत सारा वैदिक वाङ्मय और वेदांग ज्योतिष। सुबंधु के वासवदत्ता ग्रंथ के श्लोक में इस प्रसंग को समाप्त करते हैं जिसमें विक्रमादित्य के पृथ्वी पर जाने पर हुई दशा का वर्णन है—

सरसवत्ता विहता न वका विलसन्ति चरति न कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

हमें लगता है कि वड्ढकहा भी आज कीर्तिशेष ही रह गयी है। एक अपूर्व वाङ्मय का ऐसा 'अदर्शनं लोपः' वस्तुतः वेदना का विषय है। काश! गुणाढ्य ने मार्वदेशिक भाषा संस्कृत की उपेक्षा न की होती। परन्तु विडम्बना यह है कि गुणाढ्य ने जिस संस्कृत की उपेक्षा की थी उसी ने यदि 'बृहत्कथा' बना कर संक्षेप में सुरक्षित न किया होता तो पता नहीं कीर्ति कथा भी बचती या नहीं।

इतिहास और निरुक्त का निर्वचन

आजकल उत्तर भारत की सभी भाषाओं में 'इतिहास' शब्द अंग्रेजी के 'हिस्ट्री' शब्द का पर्याय हो गया है। दक्षिणी भाषाओं—तेलुगु, तमिल, कन्नड और मलयालम मे इस अर्थ मे 'चरित्र' शब्द का प्रयोग होता है। ये दोनों ही शब्द 'हिस्ट्री' के पर्याय नही है। 'चरित्र' का प्राचीन प्रयोग व्यक्ति विशेष के सर्वांगपूर्ण वर्णन के अर्थ में था, न कि किसी देश, जाति, समाज अथवा विषय के विकास के विवरण के अर्थ मे। पर फिर भी 'चरित्र' शब्द 'हिस्ट्री' के अर्थ के अधिक निकट है, 'इतिहास' नही। 'इतिहास' शब्द का प्रयोग मुख्यत महाभारत के लिए हुआ है। पर वाल्मीकि ने भी अपनी रचना को इतिहास कहा है। रामायण को अनेक स्थलों पर 'कथा' भी कहा गया है। यही स्थिति पुराण कथाओ की भी है। उन्हें भी अनेक स्थलों पर 'इतिहास' कहा गया है। सार यह कि 'इतिहास' शब्द का प्रयोग ज्ञान के विषयों के प्रतीकात्मक निरूपण के लिए होता था। ये प्रतीक मानव, देव, दैत्य, असुर, राक्षस, यक्ष आदि होते थे। गत अध्यायो मे किए गए विवेचन को देखने के पश्चात् इस विषय में शंका तो नहीं रहनी चाहिए कि रामायण, महाभारत, पुराण और बड्ढकहा में कल्पित मानवादि कथाओ के माध्यम से ज्योतिषादि अनेक विषयों का रोचक निरूपण था। फिर भी आज के युग मे किसी भी नये तथ्य की स्थापना के लिए अन्यो के प्रमाण प्रस्तुत करना आवश्यक माना जाने लगा है। वैसे तो ज्योतिष को वेद की दृष्टि मानने की परंपरा है पर गत दो अढाई हजार वर्षों में हम 'नेत्र' या 'दृष्टि' के इस अर्थ के अभ्यासी नही रह गए हैं कि वेदों का अर्थ ज्योतिष दृष्टि से समझा जाना चाहिए, अत. हम इस अध्याय मे 'इतिहास' शब्द के सही अर्थ का निरूपण अन्य आचार्यों की दृष्टि से करेंगे ताकि कोई यह न कहे कि यह केवल हमारी कल्पना है।

हम द्वितीय अध्याय में वेदांगों का संक्षेप में उल्लेख कर चुके हैं। वहां यास्क के निरुक्त का भी उल्लेख कर चुके हैं। यास्क का निरुक्त ही 'निरुक्त' नामक

वेदाग का एक मात्र प्रतिनिधि ग्रथ बच गया है। अन्य ग्रंथ आज उपलब्ध नही है। यास्क को अधिकतर विद्वान् पाणिनि से पूर्ववर्ती मानते हैं क्योंकि उसके निर्वचन पाणिनि शास्त्र के वेत्ता को बहुत ही साधारण कोटि के प्रतीत होते है। अत: प्राय. मान्यता यह है कि पाणिनि की भाषाशास्त्रीय प्रौढिवाली रचना परवर्ती है और यास्क की रचना अविकसित काल की। पर डा० मेहंडले आदि ने बहुत परिश्रम-पूर्वक यह सिद्ध करने का यत्न भी किया है कि पाणिनि यास्क से पूर्ववर्ती हैं। हम इस अनावश्यक विवाद में नही पडेंगे कि यास्क पूर्ववर्ती है या पाणिनि। इतना स्पष्ट है कि यास्क की रचना पतजलि से पूर्ववर्ती है और पंतजलि विक्रम सवत्सर के आरंभ से पूर्ववर्ती है। अत यास्क आज से कम से कम अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व तो अवश्य हो चुके थे।

यास्क ने अपने ग्रंथ मे शब्दों की जैसी व्युत्पत्तियां देने का यत्न किया है वे पाणिनि के अध्येताओ को चाहे निम्न स्तर की प्रतीत हो पर इतना स्पष्ट है कि यास्क ने वेदो मे प्राप्त पुराण कथाओ को प्राकृतिक विषयों का प्रतीकात्मक निरूपण मात्र माना था। वे इस बात से भी सहमत थे कि इतिहास वेत्ता प्रकृति का मानवीकरण करके ज्ञान के विषयो का युद्धादि के रूपक से विवेचन करते थे। यास्क ज्योतिष शास्त्र के वेत्ता नही थे। अतः उन्होने ज्योतिष मूलक अर्थ को स्पष्ट करने का यत्न नही किया। उन्होने केवल शब्दों के विश्लेषण की सहायता से प्राकृतिक विषयों का निरूपण किया। पर वे इस विषय में हम से पूर्णत. सहमत थे कि वेदो मे वर्षा, मेघ, सूर्य, चंद्र जैसे प्राकृतिक तत्त्वो का निरूपण है और उन्ही का रूपकों द्वारा ऐसा निरूपण किया गया है कि ऐतिहासिक विद्वान् उनका मानवीकरण करने में समर्थ हो सके। सार यह कि इतिहास ग्रंथों में प्राकृतिक तत्त्वों का ही मानवीकरण होता था।

यास्क के भाव को उसी के शब्दों में देखना अधिक उचित होगा। यास्क की भावना का भाष्य आचार्य दुर्ग ने किया है। हिन्दी में अब तो अनेक लोगों की व्याख्याएं दृष्टिगोचर होती है पर यहां हम यथावश्यक पंडित सीताराम शास्त्री की व्याख्या से ही उद्धृत करेंगे जो कोई अस्सी वर्ष पूर्व कलकत्ते के गोविन्द प्रेस मे मुद्रित हुई थी। निरुक्त के द्वितीय अध्याय के पंचम पाद के द्वितीय खण्ड मे ऋग्वेद की एक ऋचा का विवेचन है जिसमें शब्दों को देख ते हुए इन्द्रशत्रु 'वृत्र' का इन्द्र द्वारा वध उल्लिखित प्रतीत होता है। ऋचा इस प्रकार है—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रु।

इसका निर्वचन इस प्रकार किया गया है—'अतिष्ठन्तीनाम्, अनिवेशनानां' इति अस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् मेघ.।

'शरीरं' शृणातेः, शम्नातेर्वा। वृत्रस्य 'निण्यं' निर्णामं। 'विचरन्ति' विजानन्ति, 'आपः' इति। 'दीर्घं' द्राघतेः। 'तम' तनोतेः। 'आशयत्' आशेतेः। इन्द्रशत्रुः इन्द्रः अस्य शमयिता वा, शातयिता वा—तस्मादिन्द्रशत्रुः। तत्को वृत्रः। 'मेघः' इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रः असुरः इति ऐतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णाः भवन्ति।

इसमें आरंभ मे जिन शब्दों का निर्वचन किया गया है यथा 'शरीरं। निण्यं, विचरन्ति, दीर्घ आदि—उनसे हमारा प्रयोजन नहीं है। हमारा प्रयोजन केवल अंतिम भाग से है जिसमे प्रश्न उठाया गया है कि 'वृत्र कौन है?' उत्तर में यास्क कहता है। "नैरुक्तो के अनुसार 'वृत्र' का अर्थ है 'मेघ' जब कि ऐतिहासिकों के अनुसार वह त्वष्टा का असुर पुत्र है।" यास्क का कथन है कि "पानी और बिजली के मिश्रीभाव से वर्षा होती है। अतः जो युद्ध का वर्णन है वह केवल उपमा के रूप में है। वस्तुतः वृत्र नाम का कोई असुर नही था। अतः उसके साथ इन्द्र के युद्ध का प्रश्न ही नहीं उठता।"

यास्क के कथन का हिन्दी रूपान्तर विद्या मार्तण्ड सीताराम जी शास्त्री ने इस प्रकार किया है—"सो कौन वृत्र है? 'मेघ'—यह निरुक्त के आचार्य कहते हैं। 'त्वष्टा का पुत्र असुर है' यह इतिहास वाले कहते है। जलो के और ज्योति या बिजली के मेल से वृष्टि होती है। तहां मंत्रों मे उपमा रूप से इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध का वर्णन है।"

इसके पश्चात् पंडित सीताराम जी ने इस बात पर विचार किया है कि मन्त्रो में देवताओं के और असुरों के संग्राम का वर्णन बाहुल्य से आता है, किन्तु इसमें सन्देह होता है कि यह वास्तव है या रूपक?…यदि 'वृत्र' नाम मेघ का है तो, मंत्रों में जो संग्राम का श्रवण होता है उसकी क्या संगति है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—"मेघ के भीतर पानी और उपयुक्त बिजली के मेल से वर्षा होती है। वैद्युत ज्योति वायु से लिपटा हुआ होकर, जो इन्द्र कहाता है, जल को ताडन करता है और उस ताडन के वश जल वरसने लगता है। यहां पर इसी प्रकार के जल और तेज के विरुद्ध भाव को युद्ध के रूप मे वर्णन किया गया है, इसलिए मंत्रो में युद्ध वर्णन रूपक मात्र है, क्योकि न कोई वास्तविक युद्ध है और न कोई इन्द्र का शत्रु ही है। मंत्र भी इस बात को प्रमाणित करता है—

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानियुद्धान्याहु र्नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से॥
(ऋ० 8, 1, 15, 2)

वामदेवस्य बृहदुक्थस्य आर्षम्। त्रिष्टुप्। व्यूढस्य अष्टमे अहनि निष्केवल्ये शस्यते।

वेदांग का एक मात्र प्रतिनिधि ग्रंथ बच गया है। अन्य ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। यास्क को अधिकतर विद्वान् पाणिनि से पूर्ववर्ती मानते हैं क्योंकि उसके निर्वचन पाणिनि शास्त्र के वेत्ता को बहुत ही साधारण कोटि के प्रतीत होते हैं। अतः प्राय. मान्यता यह है कि पाणिनि की भाषाशास्त्रीय प्रौढ़िशाली रचना परवर्ती है और यास्क की रचना अविकसित काल की। पर डा० मेहेंडले आदि ने बहुत परिश्रम-पूर्वक यह सिद्ध करने का यत्न भी किया है कि पाणिनि यास्क से पूर्ववर्ती हैं। हम इस अनावश्यक विवाद में नहीं पड़ेंगे कि यास्क पूर्ववर्ती है या पाणिनि। इतना स्पष्ट है कि यास्क की रचना पतंजलि से पूर्ववर्ती है और पतंजलि विक्रम संवत्सर के आरंभ से पूर्ववर्ती है। अत. यास्क आज से कम से कम अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व तो अवश्य हो चुके थे।

यास्क ने अपने ग्रंथ में शब्दों की जैसी व्युत्पत्तियां देने का यत्न किया है वे पाणिनि के अध्येताओं को चाहे निम्न स्तर की प्रतीत हों पर इतना स्पष्ट है कि यास्क ने वेदों में प्राप्त पुराण कथाओं को प्राकृतिक विषयों का प्रतीकात्मक निरूपण मात्र माना था। वे इस बात से भी सहमत थे कि इतिहास वेत्ता प्रकृति का मानवीकरण करके ज्ञान के विषयों का युद्धादि के रूपक से विवेचन करते थे। यास्क ज्योतिष शास्त्र के वेत्ता नहीं थे। अतः उन्होंने ज्योतिष मूलक अर्थ को स्पष्ट करने का यत्न नहीं किया। उन्होंने केवल शब्दों के विश्लेषण की सहायता से प्राकृतिक विषयों का निरूपण किया। पर वे इस विषय में हम से पूर्णत. सहमत थे कि वेदों में वर्षा, मेघ, सूर्य, चन्द्र जैसे प्राकृतिक तत्त्वों का निरूपण है और उन्हीं का रूपकों द्वारा ऐसा निरूपण किया गया है कि ऐतिहासिक विद्वान् उनका मानवीकरण करने में समर्थ हो सके। सार यह कि इतिहास ग्रंथों में प्राकृतिक तत्त्वों का ही मानवीकरण होता था।

यास्क के भाव को उसी के शब्दों में देखना अधिक उचित होगा। यास्क की भावना का भाष्य आचार्य दुर्ग ने किया है। हिन्दी में अब तो अनेक लोगों की व्याख्याएं दृष्टिगोचर होती हैं पर यहां हम यथावश्यक पंडित सीताराम शास्त्री की व्याख्या में ही उद्धृत करेंगे जो कोई अस्सी वर्ष पूर्व कलकत्ते के गोविन्द प्रेस में मुद्रित हुई थी। निरुक्त के द्वितीय अध्याय के पंचम पाद के द्वितीय खण्ड में ऋग्वेद की एक ऋचा का विवेचन है जिसमें शब्दों को देखते हुए इन्द्रशत्रु 'वृत्र' का इन्द्र द्वारा वध उल्लिखित प्रतीत होता है। ऋचा इस प्रकार है—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः।

इसका निर्वचन इस प्रकार किया गया है—'अतिष्ठन्तीनाम. अनिवेशनानां' इति अस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहित

'जघन्वान्' जघान, तद् द्वारं च 'अपववार' भावेन प्रसस्यन्दिरे इत्यर्थः।

ी-रूपान्तर प० सीतारामजी ने इस प्रकार ी रक्षा करने वाली, मेघ से रक्षित बन्दिनी से हुई अप् (जल) ठहरी हुई थी। जब जलों के उस समय इन्द्र ने वृत्र या मेघ का हनन किया [वृ]ष्टि रूप में गिरे।"

ीतारामजी ने 'अहिः', 'पणिः' आदि शब्दों के है जिसे अप्रासंगिक मानकर हम ऊपर छोड़ चन पर विचार कर लेना उचित होगा। ब्द 'वृत्र' वरणे धातु से अथवा 'वृधु' वृद्धौ जल को महान् होने से आवरण कर लेता है। ण से जाना जाता है। अथवा इन्द्र से हत हुआ े पर जलों को वृष्टि रूप से वर्षाता है यही ा जाना जाता है। अथवा बहुत बढ़ जाता है, से जाना जाता है।

से निर्वचन करते हुए पं० सीतारामजी इस ा कथन ब्राह्मण ग्रंथ सम्मत है, यद्यपि यास्क र विज्ञायते' कहा। सीतारामजी ने यास्क की में देखकर ऐसा लिखा है। इसके पश्चात् है—'इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वृत्र मेघ ना और उसके हनन से वृष्टि होना संभव

अर्थात् हे इन्द्र जो तू शरीरधारी होकर फिर-फिर बढता हुआ मनुष्यों मे अपने वीर्यों को कहता हुआ जैसा नाना प्रकार के कर्म करता है, वैसा है नही। वह सब तेरी माया ही है और ऐतिहासिक जो तेरे युद्धों का वर्णन करते हैं वह भी तेरी माया ही है। न तेरा कोई शत्रु अब है, न पहले ही था। यह मैं ही नही जानता, तू भी जानता है।

इस प्रकार इस मत्र मे युद्ध को माया रूप वर्णन कहा गया है। और भी ब्राह्मण ग्रथ मे भी कहा है—वीर्य्यं वै प्रावीर्य्यमिन्द्र इति ह विज्ञायते अर्थात् जितना ससार मे वीर्य है, वह इन्द्र ही है—फिर कौन उसका शत्रु और किसके साथ उसका युद्ध ? एवम्—'तदाह नैतदस्ति यद् देवासुरमिति' अर्थात् यह सब वैसा नही है जैसा कि देव और असुरो के संग्राम का वर्णन किया है। अतः ठीक ही कहा है कि जल और विद्युत् के मेल से वर्षा होती है, और युद्ध वर्णन उपमा मात्र है।"

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि निरुक्तकार वेदों में प्रकृति का प्रतीकात्मक निरूपण मानते है। उनके अनुसार देवराज इन्द्र का न तो कोई शत्रु है और न हो सकता है अत वृत्र पर इन्द्र की विजय का जो वर्णन मंत्रों मे उपलब्ध है वह वस्तुतः रूपकात्मक है। वृत्र वह मेघ है जिसमे जल भरा है और विद्युत् रूपी इन्द्र वज्र से प्रताडित होकर उसका वर्षा करना उसकी युद्ध मे पराजय माना गया है। इस बात को पं० सीतारामजी किन शब्दो में अभिव्यक्त करते है यह द्रष्टव्य है। वे कहते है—'इस मंत्र मे वर्षाकालीन मेघ का स्वभाव और रूप वर्णन किया है। वर्षाऊ बादल की काली-काली घटाएं नीचे को पृथ्वी की ओर लटक आती हैं और दूर तक फैल जाती हैं। बादल के भीतर का पानी भारीपन से नीचे को आता है और उसी के साथ उसका धूम आदि मय शरीर भी उसके आगे तक फैल जाता है। मानो एक की स्पर्धा से एक आगे बढता है, यही दृश्य इस मत्र के द्वारा देख रहा है। -

निरुक्तकार द्वारा उद्‌घाटित प्रतीक रहस्य को स्पष्ट करने के लिए उसकी की हुई एक और मत्र की व्याख्या पर विचार उचित होगा। मत्र इस प्रकार है :

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आप: पणिनेव गावः।
अपां विलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार॥

इसकी व्याख्या में यास्क ने 'अहिः', 'पणि.', 'विलं', 'वृत्र.' आदि शब्दों का जो निर्वचन किया है वह प्रासंगिक नही है अतः उसे छोड़कर यथाकृत मन्त्रार्थ को लेते हैं। यास्क के अनुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है—'दासपत्नीः' दासाधिपत्न्याः अहिगोपाः अहिना (मेघेन) गुप्ताः 'पणिना' वणिजा 'गावः इव' मेघोदरे 'निरुद्धाः' 'आपः' 'अतिष्ठन्'। 'यदा अपां विलम्' 'अपिहितं' मुद्रितं

'आसीत्' तदा इन्द्रः 'वृत्रं' मेघ 'जघन्वान्' जघान, तद् द्वारं च 'अपववार' अपावृत्तवान् तथा आपश्च वर्षभावेन प्रसस्यन्दिरे इत्यर्थः।

यास्क के इस भाव का हिन्दी-रूपान्तर पं० सीतारामजी ने इस प्रकार किया है—"दामो (कर्मकारों) की रक्षा करने वाली, मेघ से रक्षित वणिये से गौओं के समान मेघ के भीतर रुकी हुई अप् (जल) ठहरी हुई थी। जब जलो के निकलने का द्वार मुंदा हुआ था उस समय इन्द्र ने वृत्र या मेघ का हनन किया और उस द्वार को खोला तथा जल वृष्टि रूप से गिरे।"

इस व्याख्या के पश्चात् पं० सीतारामजी ने 'अहि', 'पणिः' आदि शब्दों के निर्वचन का हिन्दी रूपान्तर किया है जिसे अप्रासंगिक मानकर हम ऊपर छोड़ चुके है। फिर भी 'वृत्र' के निर्वचन पर विचार कर लेना उचित होगा। सीतारामजी के अनुसार—'वृत्र' शब्द 'वृञ्' वरणे धातु से अथवा 'वृधु' वृद्धौ धातु से है जो कि आकाश अथवा जल को महान् होने से आवरण कर लेता है। वही वृत्र का वृत्रपना है—यह ब्राह्मण से जाना जाता है। अथवा इन्द्र से हत हुआ वृत्र या मेघ जलों के बिल खुल जाने पर जलों को वृष्टि रूप से वर्षाता है यही वृत्र का वृत्रपना है—यह ब्राह्मण से जाना जाता है। अथवा बहुत बढ जाता है, यह वृत्र का वृत्रपना है—यह ब्राह्मण से जाना जाता है।

यों 'वृत्र' शब्द का अनेक प्रकार से निर्वचन करते हुए पं० सीतारामजी इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि उनका कथन ब्राह्मण ग्रंथ सम्मत है, यद्यपि यास्क ने ऐसा नहीं कहा। उसने केवल 'इति विज्ञायते' कहा। सीतारामजी ने यास्क की जानकारी का आधार ब्राह्मण ग्रथों मे देखकर ऐसा लिखा है। इसके पश्चात् सीतारामजी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं—'इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वृत्र मेघ है, असुर नहीं। असुर मे जलो का रुकना और उसके हनन से वृष्टि होना संभव नही। यह नैरुक्त पक्ष मे प्रमाण है।

हमने ऊपर यास्क के निरुक्त, दुर्ग के भाष्य और पं० सीताराम शास्त्री के हिन्दी रूपान्तर से जो कुछ उद्धृत किया है उसमें हमारा प्रयोजन यह सिद्ध करना है कि हमारी प्रयोग परंपरा में 'इतिहास' शब्द 'हिस्ट्री' का पर्याय नहीं था। उसमे पृथ्वी पर वस्तुतः जन्म लेने वाले मानवो का इतिवृत्त नही होता था। उसमें प्रकृति अथवा ज्ञान के विषयों का प्रतीकात्मक वर्णन होता था। उसके पात्र कोई शरीरधारी व्यक्ति नही होते थे अपितु प्रकृति के तत्त्व होते थे। पात्रों का पौरुषीकरण विषय को रोचक बनाने के हेतु किया जाता था। वेदों के समान ही न तो महाभारत के पात्र वास्तविक पात्र थे, न रामायण के पात्र और न पुराणों के पात्र ही। वे तो कवि की कल्पना से निर्मित पात्र थे। महर्षि वाल्मीकि, वेदव्यास आदि की कल्पना का ही यह चमत्कार था कि एक साधारण प्राकृतिक घटना को लेकर उन्होंने इतने बड़े-बड़े ग्रंथों की रचना कर डाली और उनके माध्यम से भावी

अर्थात् हे इन्द्र जो तू शरीरधारी होकर फिर-फिर बढता हुआ मनुष्यों मे अपने वीर्यों को कहता हुआ जैसा नाना प्रकार के कर्म करता है, वैसा है नही । वह सब तेरी माया ही है और ऐतिहासिक जो तेरे युद्धों का वर्णन करते हैं वह भी तेरी माया ही है । न तेरा कोई शत्रु अब है, न पहले ही था । यह मैं ही नही जानता, तू भी जानता है ।

इस प्रकार इस मंत्र मे युद्ध को माया रूप वर्णन कहा गया है । और भी ब्राह्मण ग्रंथ मे भी कहा है—वीर्य्यं वै प्रावीर्य्यमिन्द्र इति ह विज्ञायते अर्थात् जितना ससार मे वीर्य है, वह इन्द्र ही है—फिर कौन उसका शत्रु और किसके साथ उसका युद्ध ? एवम्—'तदाह नैतदस्ति यद् देवासुरमिति' अर्थात् यह सब वैसा नही है जैसा कि देव और असुरों के संग्राम का वर्णन किया है । अत ठीक ही कहा है कि जल और विद्युत् के मेल से वर्षा होती है, और युद्ध वर्णन उपमा मात्र है ।"

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि निरुक्तकार वेदों में प्रकृति का प्रतीकात्मक निरूपण मानते हैं । उनके अनुसार देवराज इन्द्र का न तो कोई शत्रु है और न हो सकता है अत वृत्र पर इन्द्र की विजय का जो वर्णन मंत्रों मे उपलब्ध है वह वस्तुतः रूपकात्मक है । वृत्र वह मेघ है जिसमे जल भरा है और विद्युत् रूपी इन्द्र वज्र से प्रताडित होकर उसका वर्षा करना उसकी युद्ध मे पराजय माना गया है । इस बात को प० सीतारामजी किन शब्दो मे अभिव्यक्त करते हैं यह द्रष्टव्य है । वे कहते हैं—'इस मंत्र मे वर्षाकालीन मेघ का स्वभाव और रूप वर्णन किया है । वर्षाऊ बादल की काली-काली घटाएं नीचे को पृथ्वी की ओर लटक आती हैं और दूर तक फैल जाती हैं । बादल के भीतर का पानी भारीपन से नीचे को आता है और उसी के साथ उसका धूम आदि मय शरीर भी उसके आगे तक फैल जाता है । मानो एक की स्पर्धा से एक आगे बढता है, यही दृश्य इस मंत्र के द्वारा देख रहा है ।

निरुक्तकार द्वारा उद्घाटित प्रतीक रहस्य को स्पष्ट करने के लिए उसकी की हुई एक और मंत्र की व्याख्या पर विचार उचित होगा । मंत्र इस प्रकार है :

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां विलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार ।।

इसकी व्याख्या में यास्क ने 'अहिः', 'पणिः', 'विलं', 'वृत्र.' आदि शब्दों का जो निर्वचन किया है वह प्रासंगिक नही है अतः उसे छोड़कर यथाश्रुत मंत्रार्थ को लेते हैं । यास्क के अनुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है—'दासपत्नी.' दासाधिपत्न्याः अहिगोपाः अहिना (मेघेन) गुप्ताः 'पणिना' वणिजा 'गावः इव' मेघोदरे 'निरुद्धाः' 'आपः' 'अतिष्ठन्' । 'यदा अपां विलम्' 'अपिहितं' मुद्रितं

'आसीत्' तदा इन्द्रः 'वृत्रं' मेघ 'जघन्वान्' जघान, तद् द्वारं च 'अपववार' अपावृत्तवान् तथा आपश्च वर्षभावेन प्रसस्यन्दिरे इत्यर्थः।

यास्क के इस भाव का हिन्दी-रूपान्तर प० सीतारामजी ने इस प्रकार किया है—"दासो (कर्मकारों) की रक्षा करने वाली, मेघ से रक्षित वणिये से गोओं के समान मेघ के भीतर रुकी हुई अप् (जल) ठहरी हुई थी। जब जलो के निकलने का द्वार मुंदा हुआ था उस समय इन्द्र ने वृत्र या मेघ का हनन किया और उस द्वार को खोला तथा जल वृष्टि रूप से गिरे।"

इस व्याख्या के पश्चात् पं० सीतारामजी ने 'अहि.', 'पणिः' आदि शब्दों के निर्वचन का हिन्दी रूपान्तर किया है जिसे अप्रासंगिक मानकर हम ऊपर छोड़ चुके हैं। फिर भी 'वृत्र' के निर्वचन पर विचार कर लेना उचित होगा। सीतारामजी के अनुसार—'वृत्र' शब्द 'वृत्र' वरणे धातु से अथवा 'वृधु' वृद्धौ धातु से है जो कि आकाश अथवा जल को महान् होने से आवरण कर लेता है। वही वृत्र का वृत्रपना है—यह ब्राह्मण से जाना जाता है। अथवा इन्द्र से हत हुआ वृत्र या मेघ जलों के बिल खुल जाने पर जलों को वृष्टि रूप से वर्षाता है यही वृत्र का वृत्रपना है—यह ब्राह्मण से जाना जाता है। अथवा बहुत बढ जाता है, यह वृत्र का वृत्रपना है—यह ब्राह्मण से जाना जाता है।

यों 'वृत्र' शब्द का अनेक प्रकार से निर्वचन करते हुए पं० सीतारामजी इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि उनका कथन ब्राह्मण ग्रंथ सम्मत है, यद्यपि यास्क ने ऐसा नही कहा। उसने केवल 'इति विज्ञायते' कहा। सीतारामजी ने यास्क की जानकारी का आधार ब्राह्मण ग्रंथों मे देखकर ऐसा लिखा है। इसके पश्चात् सीतारामजी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं—'इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वृत्र मेघ है, असुर नही। असुर में जलो का रुकना और उसके हनन से वृष्टि होना संभव नहीं। यह नैरुक्त पक्ष में प्रमाण है।

हमने ऊपर यास्क के निरुक्त, दुर्ग के भाष्य और पं० सीताराम शास्त्री के हिन्दी रूपान्तर से जो कुछ उद्धृत किया है उसमें हमारा प्रयोजन यह सिद्ध करना है कि हमारी प्रयोग परंपरा में 'इतिहास' शब्द 'हिस्ट्री' का पर्याय नही था। उसमें पृथ्वी पर वस्तुतः जन्म लेने वाले मानवो का इतिवृत्त नही होता था। उसमे प्रकृति अथवा ज्ञान के विषयो का प्रतीकात्मक वर्णन होता था। उसके पात्र कोई शरीरधारी व्यक्ति नही होते थे अपितु प्रकृति के तत्त्व होते थे। पात्रों का पौरुषीकरण विषय को रोचक बनाने के हेतु किया जाता था। वेदों के समान ही न तो महाभारत के पात्र वास्तविक पात्र थे, न रामायण के पात्र और न पुराणों के पात्र ही। वे तो कवि की कल्पना से निर्मित पात्र थे। महर्षि वाल्मीकि, वेदव्यास आदि की कल्पना का ही यह चमत्कार था कि एक साधारण प्राकृतिक घटना को लेकर उन्होंने इतने बडे-बड़े ग्रंथों की रचना कर डाली और उनके माध्यम से भावी

राजाओं के लिए अद्भुत राजनीति का ज्ञान संगृहीत कर दिया। जिस प्रकार वैदिक ऋचाओं अथवा मंत्रों के युद्धादि वर्णन कवि कल्पनाप्रसूत प्रतीक-निरूपण हैं उसी प्रकार महाभारत, रामायण और पुराणों में उल्लिखित कथानक भी प्रतीक माध्यम से शास्त्रीय विषयों के निरूपण हैं। न कभी रामायण का युद्ध हुआ, न महाभारत का और न देवासुर संग्राम ही हुए। ये सब वैसी ही कवि कल्पनाएं हैं जैसी ऋग्वेद में इंद्रवृत्र युद्ध की कल्पना है। हम निरुक्त के इस वचन से पूर्णतः सहमत हैं कि 'तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णाः भवन्ति' अर्थात् युद्ध के वर्णन उपमान मात्र के लिए हैं।

महाभारत सच्ची घटनाओं का इतिवृत्त कथन नहीं है, केवल कवि कल्पना का विस्तार है। इस बात की पुष्टि एक अन्य ऋचा से करना भी उचित होगा जिसे निरुक्त में उद्धृत किया गया है। जो लोग कृष्ण और अर्जुन को आज से पांच हजार वर्ष पहले भरतखण्ड में उत्पन्न मानव मानते हैं वे यास्क द्वारा उद्धृत इस वेद ऋचा को ध्यान से देखें—

अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजा वातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥

निरुक्तकार ने इस ऋचा की व्याख्या इस प्रकार की है—

'अहश्च कृष्णं' रात्रिः, 'शुक्लं च अहः' अर्जुनं विवर्तेते रजसी 'वेद्याभिः' वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः 'वैश्वानरो जायमानः' इव उद्यन् आदित्यः सर्वेषां ज्योतिषां 'राजा' अवाहन् 'अग्निः ज्योतिषां तमांसि'।

इसका शास्त्रीजी कृत हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है—

'काला दिन (रात्रि) सुफेद दिन (दिन) दोनों ही बदलते रहते हैं—रात्रि बीती दिन आया, दिन बीता रात आई। दोनों प्राणियों की अनन्त प्रवृत्तियों से (अथवा ज्योति से दिन और अंधेरे से रात्रि) 'रजसी' रंजक या प्रीति के देने वाले हैं। 'वैश्वानर' अग्नि 'जायमान' उदय होते हुए ज्योतियों के राजा सूर्य के समान अपने 'ज्योतिष' प्रकाश से 'तमांसि' अंधेरों को 'अवाहन्' अवातिरत् अर्थात् दूर करता है।'

इसकी और अधिक व्याख्या करते हुए शास्त्रीजी ने पुनः लिखा है—'इस ऋचा में एक ही 'अहन्' शब्द 'कृष्ण' विशेषण लगने से 'रात्रि' का और 'अर्जुन' (शुक्ल) विशेषण लगने से दिन का वाचक होता है। इसी रीति से सन्देह के स्थान में विशेषण आदि के संबंध से शब्द का विशेष अर्थ निर्णीत करना चाहिए।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि कृष्ण और अर्जुन का जोड़ा ऋग्वेद के रचयिता को भी ज्ञात था। अतः यह जोड़ा द्वापर युग के अन्त में उत्पन्न हुआ

मानना उचित नहीं। यास्क के अनुसार 'कृष्ण' का अर्थ 'काला' और 'अर्जुन' का अर्थ 'श्वेत' है। ऋचा में कृष्ण और अर्जुन का विशेषण रूप में इसलिए प्रयोग हुआ है कि रात और दिन दोनों का द्योतक 'अहन्' शब्द अस्पष्ट न रहे। 'अर्जुन अहन्' का अर्थ 'दिन' और 'कृष्ण अहन्' का अर्थ 'रात्रि' समझा जाए—यही स्पष्ट करने के लिए विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

हमने विगत पृष्ठों मे निरुक्तकार को उद्धृत किया है। पर इसका अर्थ यह न समझा जाए कि हम निरुक्तकार कृत वेद मंत्रो के अर्थ से सहमत हैं अथवा उनके प्रतीक उद्घाटन से सहमत हैं। हम तो केवल यह सिद्ध करना चाहते थे कि यास्क को 'इतिहास' शब्द का सही अर्थ ज्ञात था। 'इतिहास' का अर्थ वस्तुतः हुई घटनाओं का वर्णन नही है, अपितु प्राकृतिक विषयों का रूपकात्मक विवेचन है। देवासुर-संग्राम, मानव-राक्षस संग्राम, मानव-मानव संग्राम आदि का जो वर्णन इतिहास-पुराण के ग्रंथों में मिलता है, वह वास्तविक घटनाओं का वर्णन नहीं है अपितु उपमार्थ वर्णन है। वृत्र और इन्द्र का युद्ध एक बार नही हुआ, वह तो होता ही रहता है। द्रव रूप जल उष्ण होकर गैस रूप मेघ बनता ही रहता है और पुनः द्रवित होकर बरसता ही रहता है। राम का अयन अर्थात् सूर्य का उत्तरायण और दक्षिणायन प्रति वर्ष होता है और तब तक होता ही रहेगा जब तक पृथ्वी रहेगी, उस पर नदी-पर्वत रहेंगे—यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले तावद्रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति। महाभारत कथा भी तब तक होती ही रहेगी जब तक पृथ्वी रहेगी और सूर्य का उत्तर गोलार्ध में तथा दक्षिण गोलार्ध में संक्रमण होता रहेगा। विक्रम कथा भी तब तक होती रहेगी जब तक सूर्य का संक्रमण—विक्रमण होता रहेगा। सीता का प्रति वर्ष हरण होता रहेगा, वह प्रति वर्ष लंका में निरुद्ध होगी, रावण की मृत्यु का कारण बनेगी और विजयी राम के सिंहासनासीन होते ही उसके निर्वासन की प्रक्रिया भी प्रति वर्ष होती ही रहेगी। यह व्यक्तियों की कथा के रूप मे चाहे सच्ची घटना नहीं है पर सच्ची प्राकृतिक घटना तो है ही जो प्रति वर्ष होगी ही।

अब प्रश्न यह उपस्थित होगा कि जब हम युद्धादि के यास्क कृत उपमार्थ से सहमत हैं तो उसके द्वारा निर्दिष्ट ऋचाओं के अर्थ से सहमत क्यों नहीं हैं। बात यह है कि यास्क के समय तक लोगों को 'इतिहास' शब्द का सही अर्थ तो ज्ञात था पर वेद मंत्रों के प्रतीकोद्घाटन के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता थी वह उसके पास न था। उसे यह तो ज्ञात था कि प्राकृतिक घटनाओं को रूपक बद्ध किया गया है पर यह ज्ञात नहीं था कि किस रूपक को किस प्रकार समझा जाए। उसने अर्थ समझने का जो यत्न किया है वह केवल धात्वर्थ के आधार पर किया है और उसे इस बात की सही जानकारी नही है कि कौन शब्द किस धातु से व्युत्पन्न है और उसका सही-सही अर्थ क्या है। उदाहरणार्थ उसको 'आदित्य' शब्द के लिए

कल्पनाएं देखिए—'आदित्यः कस्मात् ? आदत्ते रसान् । आदत्ते भासं ज्योतिषाम् । आदीप्तो भासा इति वा । अदितेः पुत्रः इतिवा । अल्पप्रयोगं तु अस्य एतत् आर्चाभ्याम्नाये ।' अर्थात् 'आदित्य क्यों ? इसलिए कि वह रसों का आदान करता है । अथवा इसलिए कि ज्योतियों या नक्षत्रों की दीप्ति ले लेता है । अथवा भास या प्रकाश से आवृत है । अथवा अदिति का पुत्र है यद्यपि इस अर्थ में 'आदित्य' शब्द ऋग्वेद में बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। यों यास्क ने 'आदित्य' शब्द का विश्लेषण अनेक प्रकार से करने का यत्न किया है पर वह किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा। हमारे विचार से उसका *लक्ष्यार्थ 'सूर्य'* है और वाच्यार्थ है—जो आदि में था (आदि+त्य) । यह उसी प्रकार व्युत्पन्न है जिस प्रकार अमात्य, अत्रत्य, तत्रत्य, कुत्रत्य आदि ।

जब यास्क स्वयं ही किसी व्युत्पत्ति के विषय में निश्चय तक नहीं पहुंचता तो उसके किये अर्थों को कैसे प्रमाण माना जाए । उसने जो अर्थ किये वे शब्द विश्लेषण मात्र करके किये, ज्योतिष की दृष्टि से नहीं किये जो वेदार्थ को समझने के लिए आवश्यक थी ।

निरुक्त में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है । वह यह है कि वेद मंत्र अर्थहीन हैं या सार्थक । यह प्रश्न इसलिए उठाया गया कि कौत्स नामक आचार्य ने वेदमंत्रों को अर्थहीन बताकर मंत्र-गत शब्दों के निर्वचन को सर्वथा निरर्थक माना था । निरुक्तकार को अपनी रचना की सार्थकता सिद्ध करने के लिए वेदमंत्रों और उनके शब्दों की सार्थकता प्रमाणित करनी आवश्यक थी । कौत्स ने वेद मंत्रों की अर्थ हीनता के प्रमाण स्वरूप सात तर्क प्रस्तुत किये थे । उनका खंडन करके ही यास्क ने अपनी रचना को आगे बढ़ाया था ।

आचार्य कौत्स के सात तर्कों तथा यास्क कृत उनके खंडन का सार इस प्रकार है । कौत्स के अनुसार वेद के मंत्रों के शब्दों के न तो क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है और न उनके स्थान पर उनके पर्यायों का प्रयोग किया जा सकता है जबकि किसी भी सार्थक वाक्य में ये दोनों परिवर्तन किये जा सकते हैं । उदाहरणार्थ—'गामानय' (*गाय लाओ*) के स्थान पर धेनुमानय (धेनु लाओ) अथवा आनय गाम् (लाओ गाय) कहा जा सकता है । दोनों परिवर्तनों के पश्चात् भी अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं आता । किन्तु वैदिक मंत्र 'अग्न आयाहि' (हे अग्नि आओ) में कोई परिवर्तन संभव नहीं है । "आयाह्यग्ने" (आओ अग्नि) अथवा 'विभावसो आयाहि' (अग्नि आओ) कहने पर भी शब्दार्थ वही रहता पर वैदिक मंत्रों में इस प्रकार के परिवर्तन संभव नहीं है अतः वेद मंत्र अर्थ हीन हैं । यास्क ने इसके उत्तर में ठीक ही कहा है कि 'गामानय' अथवा 'अग्न आयाहि' जैसे शब्द प्रयोगों का लोक अथवा वेद दोनों ही में एक ही अर्थ बना

रहता है अत यह कहना उचित नहीं
मे निरर्थक ।

कौत्स का दूसरा तर्क यह है कि
निर्धारण ब्राह्मण ग्रंथ करते है ।
विनियोग निरूपण की आवश्यकता
जानता हो उसे शिक्षक की आवश्यक
प्रेरक की आवश्यकता होती है । यो
इसीलिए उनका विनियोग कहा वि
आवश्यकता होती है । ब्राह्मण विनि
होने के कारण अर्थहीन । इसके उत्त
दिया है कि जिसे कौत्स स्वय सार्थ
यथा—"एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रू
वदति" इति । कौत्स के इस प्रश्न
आवश्यकता ही क्या होती ?—उत्त
होकर भी ब्राह्मण से विहित होना
ब्राह्मण की अर्थवत्ता के लिए उसे अ
ब्राह्मण स्वय भी तो वेद के भाग है
और अभी अर्थहीन ।

आचार्य कौत्स का तीसरा तर्क
सगत नही होते । उसने उदाहरण दि
की रक्षा कर) और स्वधिते मैन
न करना ।) इन मत्रांशो की असगति
पूर्वाश का अर्थ लें तो प्रश्न होगा कि
वह दूसरे की रक्षा क्या करेगी । इसी
कहना कि तू मत काटना, उन्मत्त का
उन्मत्त लोगो के जैसे अर्थहीन ही म
कहना है कि इस मत्र के द्वारा ओष
उसीसे यजमान और वृक्ष आदि की
ने वे निर्विघ्न पीडा रहित होकर यज
मे कोई असगति नहीं है । इसी प्रक
से निर्धारित होता है अत आगम म
सकती ।

आचार्य कौत्स का चौथा तर्क
होते है अत वह वेद मे निरर्थक है ।

कि वे ही शब्द लोक मे तो सार्थक है पर वेद

किस मंत्र का विनियोग कहां होगा इसका
दि मंत्र सार्थक होते तो ब्राह्मण ग्रंथों द्वारा
ी नही हुई होती । जो अपने कर्तव्य को स्वयं
ता नही होती । हां, मूढ के लिए दूसरे विद्वान्
मंत्र अर्थ शून्य होने से मूढ के समान है और
या जाए यह बताने के लिए ब्राह्मण ग्रंथों की
जक होने से अर्थवान् हैं और मंत्र विनियोज्य
र मे यास्क ने ब्राह्मण ग्रंथों को ही उद्धृत
मानता है वही वेदों को सार्थक मानता है ।
समृद्धं यत्कर्मक्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभि-
का कि यदि मंत्र सार्थक होते तो ब्राह्मण की
र देते हुए यास्क कहता है कि मंत्र अर्थवान्
, इससे वह अर्थहीन नहीं हो जाता प्रत्युत
र्थवान् होने की बड़ी आवश्यकता है । दूसरे
अतः यह कैसे संभव है कि अंश सार्थक हो

यह है कि वेद मंत्रों के अर्थ किसी युक्ति से
है—ओषधे त्रायस्व (हे ओषधि, यजमान
हि सी: (हे क्षुर इस यजमान की हिंसा
सिद्ध करने के लिए कौत्स कहता है कि यदि
ो ओषधी अपनी ही रक्षा नहीं कर सकती
प्रकार जिस क्षुर का काम ही काटना है उससे
प्रलाप है । जितने ऐसे वाक्य होते हैं वे सब
ि जाते हैं । इस तर्क के उत्तर में यास्क का
ा के अधिदेवता की स्तुति की जाती है और
ाणं रक्षा की प्रार्थना है ताकि देवता की कृपा
र्म में विनियुक्त हों । इसलिए मंत्र के अर्थ
र क्या हिंसा है और क्या अहिंसा यह आगम
जिस क्रिया का विधान है वह हिंसा नहीं हो

ह है कि मंत्रों मे परस्पर विरोधी अर्थ प्रतीत
यथा—एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीय:

(एक ही रुद्र था, कोई दूसरा न था) और असंख्याता: सहस्राणि ये रुद्रा अधि-भूम्याम् (पृथ्वी पर असंख्य रुद्र हैं)। अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे (इन्द्र शत्रुहीन था) और शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः (इन्द्र ने एक साथ ही शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को जीता)। कौत्स का मत है कि लोक में ऐसे परस्पर विरोधी वाक्य उन्मत्त ही बोल सकते हैं। इसके उत्तर में यास्क का कहना है कि परस्पर विरुद्ध अर्थ के उदाहरणों से मंत्र अर्थहीन नहीं हो जाते क्योंकि आगे दैवत काण्ड में स्पष्ट होगा कि देवता एक होते हुए भी अनेक और अनेक होते हुए भी एक हो सकते हैं। इसी प्रकार किसी को शत्रुहीन अथवा शत्रुमर्दन एक साथ बताने में कोई अनौचित्य नहीं है। लोक में ऐसे प्रयोग बहुत होते हैं।

आचार्य कौत्स का पांचवां तर्क यह है कि जब विद्वान् होता इस बात से अभिज्ञ है कि उसे किस समय क्या करना है तो अध्वर्यु का उसे यह कहना निरर्थक है कि अग्नये समिध्यमानयानुब्रूहि (जलती अग्नि के लिए तू अनुवचन कर)। जब यह मंत्रांश निरर्थक है तो अन्य मंत्र भी अर्थहीन हैं। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि मुझे क्या करना है यह जानने वालों को भी व्यवस्थापक बताता ही है कि उन्हें क्या-क्या और कैसे-कैसे करना है।

अर्थहीनता के पक्ष में छठा तर्क यह है; कि कई ऐसे मन्त्र हैं जो एक ही वस्तु को कभी कुछ और कभी कुछ बताते हैं यहां तक कि उन्हें परस्पर विरोधी रूपों में वर्णित करते हैं। यथा—अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् (अर्थात् अदिति आकाश भी है, अन्तरिक्ष भी, माता भी, पिता भी, पुत्र भी)। कौत्स के अनुसार ऐसे परस्पर विरोधी कथनों वाले मंत्रों को अर्थवान् मानना उचित नहीं। उत्तर यह है कि ऐसे कथन लोक में भी खूब चलते हैं—त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव आदि पर वे कभी उन्मत्त प्रलाप नहीं माने जाते।

आचार्य कौत्स का सातवां तर्क यह है कि मंत्रों में अनेक ऐसे शब्द होते हैं जिनका कोई अर्थ ही नहीं होता। यथा—अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका आदि। अतः वेद मंत्र अर्थहीन हैं। परन्तु यदि हम अज्ञता वश मंत्रों में प्रयुक्त कुछ शब्दों का अर्थ नहीं जानें तो इसमें मंत्रों का क्या दोष है। यह तो हमारी ही अज्ञता है।

हम न तो आचार्य कौत्स की इस धारणा से सहमत हैं कि वेद मंत्र अर्थहीन हैं और न आचार्य यास्क के उत्तरों को संतोषजनक पाते हैं। हमने ऊपर के परस्पर विरोधी मतों को उद्धृत यह बताने के लिए किया है कि आज से अढ़ाई-तीन हजार वर्ष पूर्व भी वेदों के अर्थ अज्ञात हो गये थे। आज के काव्यों में अनेक स्थलों पर ऐसे चमत्कार होते हैं कि वे साधारण पाठक को ऊलजलूल लगते हैं पर जब

उनमे निहित चमत्कार स्पष्ट कर दिया जाए तो पाठक विभोर हो जाता है। आचार्य कौत्स तो वेद विरोधी प्रतीत होते है अत उनका दृष्टिकोण तो अतिवादी है ही पर यास्क भी लीपापोती मात्र कर पाये हैं क्योंकि वे भी वेद मंत्रो के सही अर्थों से अनभिज्ञ है। वास्तव मे जहां प्रतीको का प्रयोग किया जाए अथवा रूपकों-उपमाओ से निरूपण किया जाए वहां अर्थ का आनंद तभी उपलब्ध होता है जब मूल प्रतीकों अथवा रूपकों की सम्यक् प्रतीति हो।

हमने यह अध्याय यह स्पष्ट करने के लिए लिखा है कि वेद मत्रों के अर्थ आज से अढ़ाई-तीन हजार वर्ष पूर्व भी ज्ञात नही थे अतः आज तो उनके अर्थ को जानने की आशा करना ही व्यर्थ है। दूसरे न तो वेदों का संपूर्ण वाङ्मय आज उपलब्ध है, न वेदांग ज्योतिष ही जिसका ज्ञान कदाचित् प्रतीकों को समझने में कुछ सहायक होता। न कौत्स आदि को ज्योतिष का ज्ञान था और न यास्क आदि नैरुक्तों को ही। अत. उनसे सही निर्वचन की आशा करना अनुचित है। हमारे विचार से वेद मंत्र आज केवल आस्था की वस्तु हैं, उनकी अर्थ विचिकित्सा व्यर्थ है। उनमे आज की समस्याओं के समाधान ढूढना तो सर्वथा अनुचित है। वैदिक युग मे समाज की जो व्यवस्था थी वह यदि अर्थ द्वारा स्पष्ट हो जाए तब भी वह व्यवस्था न तो युगानुरूप होगी, न आदर्श ही। इसी प्रकार वेदों मे सती प्रथा उल्लिखित थी या नही, विधवा विवाह विहित था या नही, पुत्र-पुत्री का प्रतिष्ठा भेद था या नही; राजतंत्र था या प्रजातत्र, छूआछूत थी या नही, मूर्तिपूजा थी या नही जैसे प्रश्नों के उत्तर ढूंढने का तो प्रयत्न सर्वथा निरर्थक है ही।

हमारा विश्वास है कि वेद मंत्र मूलत. सार्थक थे। हां, उनके सही-सही अर्थों को समझने के लिए बहुत ही अपूर्ण रूप में उपलब्ध सामग्री से काम नही चलेगा। पर्याप्त मात्रा मे वैदिक मंत्रों का संकलन करना होगा। उसके पश्चात् वेदांग ज्योतिष के दस-बीस परिपूर्ण ग्रंथों की खोज करनी होगी। उनका सही अर्थ समझने के लिए यवनों से प्राप्त पत्थरी आंखों से काम नही चलेगा। मूल दिव्यदृष्टि का उद्घाटन करना होगा। इसके उद्घाटन के लिए पुराणो का सुचारु रूप से अध्ययन करना होगा। उनमें वर्णित घटनाओं का ज्योतिष की दृष्टि से प्रतीकोद्घाटन करना होगा। अवतारवाद का सही भाव समझना होगा। यदि हम पुराणों की घटनाओं को 'इतिहास' के आधुनिक अर्थ में ग्रहण करें तो निस्सदेह उस ईश्वर के प्रति आस्था कम ही होगी जिसे हम अनंत शक्ति सम्पन्न मानते हुए भी पुराणों मे छोटे-छोटे राक्षसों या दुर्जनों के साथ गली-गली मे लड़ता-झगड़ता पाते हैं। ये कहानियां ऋचा की इस भावना के भी विरुद्ध हैं कि 'हे इन्द्र! न कोई तेरा शत्रु अब है, न पहले ही था। यह मैं ही नही जानता तू भी जानता है। ब्राह्मण ग्रंथों का यह कथन भी इंद्र की अपूर्व शक्तिमत्ता का पोषक है कि 'जितना संसार मे वीर्य है, वह इन्द्र ही है, फिर कौन उसका शत्रु और किसके साथ उसका युद्ध।' हमे

विश्वास है कि ऋचाओं, ब्राह्मण वचनों और पुराणों में परस्पर विरोध नहीं है। अतः ब्राह्मणों का यह वचन मानना ही उचित है कि 'तदाहु नैतदस्ति यदेद्वासुरमिति' अर्थात् देवासुर संग्राम जैसी कोई घटनाएं हुई नहीं। वे केवल प्रतीक कथाएं हैं और आवश्यकता इस बात की है कि प्रतीकों को ठीक से समझा जाए क्योंकि तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णाः भवन्ति—युद्ध के वर्णन तो उपमा मात्र हैं।

जब तक वेदार्थ का सही ज्ञान संभव नहीं तब तक भी उनका सस्वर पाठ किये जाने में कोई दोष नहीं है। आवश्यकता है सच्ची आस्था की। आस्था पूर्वक पाठ करेंगे तो अवश्य सुख प्राप्त होगा। पर उनके अधकचरे ज्ञान के बल पर भाषाशास्त्रीय उड़ानें सर्वथा निरर्थक हैं, धर्मशास्त्रीय उड़ानें तो हैं ही। बस आस्था पूर्वक पाठ किया जाए, सही स्वर के साथ पाठ किया जाए। अन्यथा हानि संभव है—स्वरतोपराधात्।

हां, वेद मंत्रों का अर्थ समझने के लिए दिव्यदृष्टि अपेक्षित होगी। जो आकाशस्थ ज्योतिपिंडों को नहीं जानते वे ऋचाओं को नहीं समझ सकते—ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।

भारतीय कथाओं की दिग्विजय

भारत की कथाएं दक्षिण पूर्व एशिया मे पहुंची या अरब मे पहुंची, इसमें कोई आश्चर्य नही। व्यापारियों का आवागमन रहता था। अध्येता भी आते-जाते रहते थे। देशों के बीच परस्पर रुचि भी थी। वाल्मीकि विरचित रामकथा तिब्बत में पहुंची इसमें तो आश्चर्य की बात ही क्या? तिब्बत तो था ही भारत का भाग। हमारी सिद्धभूमि तो वही था। पर वहां की रामायण से जो विशिष्ट सूचना मिली वह महत्त्व की है। उसमें सीता के स्थान पर नायिका 'लीला' है जो 'रामलीला' के अर्थ को स्पष्ट करती है। भारतीय साहित्य की महानायिका लीलावती के विकास पर भी प्रकाश डालती है।

'हिकायत सेरीराम' नाम से रामायण का अनुवाद हिन्देशिया में गया, सुदूर पूर्व के अन्य देशों में गया। महाभारत कथा भी गयी। कहते हैं सुकर्ण महाभारत के मंचन में भाग लेते थे, घटोत्कच बनते थे।

राम कथा मिस्र देश में गयी। वहां वह किस रूप में मिलती है, कामिल बुल्के के शोधप्रबंध में देखें। वे लिखते हैं: मिस्र देश की प्राचीनतम शैक्षणिक कथाओं के अनुसार नू (आकाश) तथा गेव (पृथ्वी) के संयोग से 'रा' अथवा 'रे' उत्पन्न हुआ। 'रम सेस' का अर्थ है रा ने उसे जन्माया। (मस घातु का अर्थ है जन्म लेना)। बुल्के महोदय की इस सूचना को देखकर हमे तो लगता है कि मिस्र की रमसेस कथा वस्तुतः हमारे राम और शेष (लक्ष्मण शेषावतार माने जाते हैं) की कथा है। शेष वैसे सूर्य का वाचक भी है। अन्य ग्रहों का सूर्य मे प्रलय हो जाने पर वही शेष रहता है। सहस्रफणा शेष नाग सहस्र किरणमाली सूर्य का ही रूप है।

राम और इला की प्रेमकथा यूरोप में भी गयी थी। वह रोमियो और यूली की प्रेमकथा बन गयी थी चाहे उसका कथानक बिलकुल ही बदल गया हो। वस्तुतः रामकथा का तो भारत मे भी दो प्रकार का विकास हो गया था। एक राम सीता के आदर्श जीवन की कथा बनी थी; दूसरी मदन, कंदर्प या शातवर्धन नायक तथा

लीला या लीलावती नायिका के उद्दाम प्रेम की कथा। दोनों का दो कथाओं में चाहे विकास हुआ हो पर मूल एक ही था।

मदन और लीला के उत्कट प्रेम की कथा अरब में गयी तो मदन और लीला दोनों ही अरबी रूप में ढल गये। उच्चारण में बहुत ही थोड़ा परिवर्तन हुआ। अर्थ में भी बहुत अधिक अंतर नहीं हुआ। 'मदन' अरब में जाकर 'मदनू' बना जो फारसी में आकर मजनू बन गया। अर्थ हो गया पागल। 'मदन' का अर्थ है पागल बनाने वाला। इसे चाहे विपरीत लक्षणा कहें चाहे दृष्टि भेद। प्रेमी को लोग पागल समझते हैं वह लोगों को पागल समझता है। 'लैला' का शब्दार्थ है काली। लीला भूमि भी शस्य श्यामला होती है।

पुराणों की कृष्ण कथा और महाभारत की कर्ण कथा आपस में घुलमिल गयीं। प्राकृतों में 'कृष्ण' बन जाता है 'कण्ह'; तो कर्ण बन जाता है 'कण्ण'। 'कण्ह' और 'कण्ण' का लेखन में वर्तनी भेद जितना स्पष्ट है उतना उच्चारण में नहीं है। कृष्ण के परिचय में बता चुके हैं कि वे कृत्तिका के पुत्र हैं। कृत्तिका प्राकृत में 'कित्तिआ' बनकर संस्कृत में वापस कैसे 'कीर्तिदा' बनी और उसका पर्याय 'यशोदा' कैसे बना यह वहां बताया जा चुका है। यशोदा नन्दन कृष्ण विदेशों में जाकर क्या बन गये, यह बाद में बतायेंगे। पहले यह बता दें कि कुमारी कृत्तिका (कुंती) के दूसरे पुत्र कण्ण की कथा भी उससे घुल-मिल गयी। यशोदा का विशेषण मिहिरी भी उसके साथ-साथ विदेशों में गया। 'मिहिरी यशोदा' का पुत्र कृष्ण मेरी पुत्र यशस् क्रिष्ण या येशस् क्रिष्ट हो गया। वही कुमारी कुंती (कृत्तिका) का पुत्र कण्ण हो गया। यों बनी कुमारी मेरी के ईशपुत्र येशस् क्रुष्ट की कथा।

यह हमारी कल्पना नहीं है। इस कथा के ज्योतिष मूलक अर्थ को व्रज भाषा के कवि भी जानते थे, यद्यपि वे ईसामसीह के जन्म की कथा के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे। यहां हम 1920 के लगभग काशी से मुद्रित अर्जुनदास केडिया की अलंकार विषयक पुस्तक भारती भूषण में दिये गये 'दृष्टि कूट' अलंकार का एक उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। यह ऐसे कवि की कृति है जिसे ईसामसीह की जन्म कथा के विषय में कोई जानकारी नहीं थी। व्रजभाषा कवियों में प्रचलित ज्योतिष कथाओं की जानकारी अवश्य थी। दोहा इस प्रकार है—

क्वारी कन्या सुत जन्यौ पोस कियो बलवान।
जिहि कीन्हो दिन ह्रास तिहि ताहि ग्रस्यो वृसभान॥

यह शीत का वर्णन है जो क्रिसमस के समय प्रबलतम होता है। इसका अर्थ बताया गया है कि क्वारी कन्या (अविवाहित लड़की=क्वार मास की कन्या संक्रान्ति) ने शीत रूपी सुत (कन्यायां जायते शीतः) को जन्म दिया। पोस (पोषण करके, पौष मास) ने उसे बलवान बनाया (हेमन्ते च विवर्धते)। उसने दिन को छोटा कर दिया (23-24 दिसंबर को दिन सबसे छोटा होता है)। उसे

वृषभानु (वृष राशि के सूर्य) ने मृत्यु दण्ड दे दिया ।

कवि को ज्योतिष के इस तथ्य की जानकारी है कि क्वारी कन्या जिस सुत को जन्म देती है उसकी अन्ततः हत्या क्यों की जाती है ।

'कृत्तिका' कीतिजा भी बनती है । वहां उसका अर्थ हो जाता है 'राधा' । 'राधा' विशाखा का पर्याय है यह पहले बता चुके हैं । विशाखा और कृतिका की भूमि एक ही है, यह मानचित्र में देख सकते है । तो उसी कवि के उदाहरणों मे उपलब्ध कीत्तिजा राधा और कर्ण का वार्तालाप सुनिए—

कर्न को कहत कीतिजा सती । भानुसूनु वृसभानुजा प्रती ॥
को चितौन मुचकुंद तें मरो । कौन होत रितुराज में हरो ॥

इस चौपाई में भानुसूनु कर्ण और वृषभानुजा कीतिजा राधा के प्रश्नोतर इस बात के प्रमाण हैं कि उस कवि को भी इन कथाओं को समझने की दिव्य दृष्टि प्राप्त थी । ऐसी ही एक अन्य चौपाई भी है—

कर्न को कहत कीतिजा सती । भानुसूनु वृसभानुजा प्रती ॥
कौन मातु कुल कान्ह की कहो । का तुम्हें कहति रेवती अहो ॥

दोनों ही चौपाइया बहिर्लापिका के उदाहरण के रूप मे दी गयी है । पर इन से यह अवश्य प्रतीत होता है कि कवि दिव्य दृष्टि वाला है और उसे कृष्ण कथा तथा कर्ण कथा मे संकेतित ज्योतिष मूलकता की जानकारी है ।

यह खेद की बात है कि आज कल महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयो में पढने वाले छात्रों को दिव्य दृष्टि दे सकने वाले आचार्य हैं ही नहीं । अतः बहुत सारा साहित्य दुर्बोध हो रहा है । संपादक लोग सरलता से उसे प्रक्षिप्त बताकर छोड़ देते हैं । यहा तक कि चौदहवी शती तक के साहित्य मे मिले फारसी शब्द तो प्रक्षिप्त माने ही जाते है । कैसे समझाया जाए कि फारस और अफगानिस्तान तो परंपरा मे हमारे देश के ही अंग थे । उनसे सदा सतत संबंध था । बाप्पा रावल का ससुराल ईरान मे था । चिरंतन संबंध के हीकारण जब अरबों से पारसीक पीडित हुए तो गुजरात मे आ बसे । पर अग्रेजो ने आते ही इतिहास-भूगोल का ऐसा चक्कर चलाया कि हमारे लिए आधा भारत विदेश हो गया ।

यशस् कृष्ण और येशस् क्रिष्ट का साम्य हमारी निजी कल्पना नही है । इस कल्पना के जन्मदाता जारज ग्रियर्सन है । उन्होने बताया था कि ईसाई संत पहली दूसरी शती मे ही क्रिष्ट कथा और क्रिष्टोपदेश लेकर भारत पधारे थे । उन्ही की कृपा से हमने भक्ति का विकास किया । उन्ही की कथाएं सुनकर हमने श्रीकृष्ण भगवान् की रचना कर ली । उन्ही के उपदेश गीता में समाविष्ट कर लिये गये ।

ग्रियर्सन के इस दावे पर भारतीय विद्वान् तिलमिला गये थे । लोकमान्य तिलक आदि ने इस दावे का खडन भी किया था । यह बताया था कि गीता का ज्ञान कैसे उपनिषदों में भी था । कृष्ण का उल्लेख कैसे वेदो मे भी मिलता है । पर उनका

लीला या लीलावती नायिका के उद्दाम प्रेम की कथा। दोनों का दो कथाओं में चाहे विकास हुआ हो पर मूल एक ही था।

मदन और लीला के उत्कट प्रेम की कथा अरब में गयी तो मदन और लीला दोनों ही अरबी रूप में ढल गये। उच्चारण मे बहुत ही थोड़ा परिवर्तन हुआ। अर्थ में भी बहुत अधिक अंतर नहीं हुआ। 'मदन' अरब में जाकर 'मदनूं' बना जो फारसी मे आकर मजनूं बन गया। अर्थ हो गया पागल। 'मदन' का अर्थ है पागल बनाने वाला। इसे चाहे विपरीत लक्षणा कहें चाहे दृष्टि भेद। प्रेमी को लोग पागल समझते हैं वह लोगों को पागल समझता है। 'लैला' का शब्दार्थ है काली। लीला भूमि भी शस्य श्यामला होती है।

पुराणो की कृष्ण कथा और महाभारत की कर्ण कथा आपस मे घुलमिल गयी। प्राकृतो में 'कृष्ण' बन जाता है 'कण्ह'; तो कर्ण बन जाता है 'कण्ण'। 'कण्ह' और 'कण्ण' का लेखन मे वर्त्तनी भेद जितना स्पष्ट है उतना उच्चारण में नही है। कृष्ण के परिचय में बता चुके हैं कि वे कृत्तिका के पुत्र हैं। कृत्तिका प्राकृत में 'कित्तिआ' बनकर संस्कृत मे वापस कैसे 'कीर्तिदा' बनी और उसका पर्याय 'यशोदा' कैसे बना यह वहां बताया जा चुका है। यशोदा नन्दन कृष्ण विदेशो मे जाकर क्या बन गये, यह बाद मे बतायेंगे। पहले यह बता दें कि कुमारी कृत्तिका (कुंती) के दूसरे पुत्र कण्ण की कथा भी उससे घुल-मिल गयी। यशोदा का विशेषण मिहिरी भी उसके साथ-साथ विदेशों में गया। 'मिहिरी यशोदा' का पुत्र कृष्ण मेरी पुत्र यशस् क्रिष्ण या येशस् क्रिष्ट हो गया। वही कुमारी कुंती (कृत्तिका) का पुत्र कण्ण हो गया। यों बनी कुमारी मेरी के ईशपुत्र येशस् कृष्ट की कथा।

यह हमारी कल्पना नही है। इस कथा के ज्योतिष मूलक अर्थ को व्रज भाषा के कवि भी जानते थे, यद्यपि वे ईसामसीह के जन्म की कथा के विषय में कुछ भी नही जानते थे। यहां हम 1920 के लगभग काशी से मुद्रित अर्जुनदास केडिया की अलंकार विषयक पुस्तक भारती भूषण में दिये गये 'दृष्टि कूट' अलंकार का एक उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। यह ऐसे कवि की कृति है जिसे ईसामसीह की जन्म कथा के विषय में कोई जानकारी नही थी। व्रजभाषा कवियो में प्रचलित ज्योतिष कथाओं की जानकारी अवश्य थी। दोहा इस प्रकार है—

क्वारी कन्या सुत जन्यौ पोस कियौ बलवान।
जिहिं कीन्हौ दिन ह्रास तिहिं साहि ग्रस्यौ पूसमान।।

यह शीत का वर्णन है जो त्रिगमन के समय प्रबलतम होता है। इसका अर्थ बताया गया है कि क्वारी कन्या (अविवाहित लड़की=क्वार मास की कन्या राशि) ने शीत रूपी सुत (कन्यायां जायते शीतः) को जन्म दिया। पौष (पोषण करके, पौष मास) ने उसे बलवान बनाया (हेमन्ते च विवर्धते)। उसने दिन को छोटा कर दिया (23-24 दिसंबर को दिन सबसे छोटा होता है)। उसे

वृषभानु (वृष राशि के सूर्य) ने मृत्यु दण्ड दे दिया।

कवि को ज्योतिष के इस तथ्य की जानकारी है कि क्वारी कन्या जिस सुत को जन्म देती है उसकी अन्ततः हत्या क्यों की जाती है।

'कृत्तिका' कीतिजा भी बनती है। वहां उसका अर्थ हो जाता है 'राधा'। 'राधा' विशाखा का पर्याय है यह पहले बता चुके हैं। विशाखा और कृतिका की भूमि एक ही है, यह मानचित्र में देख सकते है। तो उसी कवि के उदाहरणों में उपलब्ध कीत्तिजा राधा और कर्ण का वार्तालाप सुनिए—

कर्न को कहत कीतिजा सती। भानुसूनु वृसभानुजा प्रती।।
को चितौन मुचकुंद तें मरौ। कौन होत रितुराज मे हरो।।

इस चौपाई मे भानुसूनु कर्ण और वृषभानुजा कीतिजा राधा के प्रश्नोत्तर इस बात के प्रमाण हैं कि उस कवि को भी इन कथाओं को समझने की दिव्य दृष्टि प्राप्त थी। ऐसी ही एक अन्य चौपाई भी है—

कर्न को कहत कीतिजा सती। भानुसूनु वृसभानुजा प्रती।।
कौन मातु कुल कान्ह की कहो। का तुम्हें कहति रेवती अहो।।

दोनों ही चौपाइयां बहिर्लापिका के उदाहरण के रूप मे दी गयी है। पर इन से यह अवश्य प्रतीत होता है कि कवि दिव्य दृष्टि वाला है और उसे कृष्ण कथा तथा कर्ण कथा मे संकेतित ज्योतिष मूलकता की जानकारी है।

यह खेद की बात है कि आज कल महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों मे पढ़ने वाले छात्रों को दिव्य दृष्टि दे सकने वाले आचार्य है ही नही। अत. बहुत सारा साहित्य दुर्बोध हो रहा है। संपादक लोग सरलता से उसे प्रक्षिप्त बताकर छोड़ देते हैं। यहां तक कि चौदहवी शती तक के साहित्य मे मिले फारसी शब्द तो प्रक्षिप्त माने ही जाते हैं। कैसे समझाया जाए कि फारस और अफगानिस्तान तो परंपरा मे हमारे देश के ही अग थे। उनसे सदा सतत संबंध था। बाप्पा रावल का ससुराल ईरान मे था। चिरंतन संबंध के हीकारण जब अरबों से पारसीक पीड़ित हुए तो गुजरात में आ बसे। पर अग्रेजों ने आते ही इतिहास-भूगोल का ऐसा चक्कर चलाया कि हमारे लिए आधा भारत विदेश हो गया।

यशस् कृष्ण और येशस् क्रिष्ट का साम्य हमारी निजी कल्पना नही है। इस कल्पना के जन्मदाता जारज ग्रियर्सन है। उन्होने बताया था कि ईसाई संत पहली दूसरी शती मे ही क्रिष्ट कथा और क्रिष्टोपदेश लेकर भारत पधारे थे। उन्ही की कृपा से हमने भक्ति का विकास किया। उन्हीं की कथाएं सुनकर हमने श्रीकृष्ण भगवान् की रचना कर ली। उन्हीं के उपदेश गीता मे समाविष्ट कर लिये गये।

ग्रियर्सन के इस दावे पर भारतीय विद्वान् तिलमिला गये थे। लोकमान्य तिलक आदि ने इस दावे का खंडन भी किया था। यह बताया था कि गीता का ज्ञान कैसे उपनिषदों मे भी था। कृष्ण का उल्लेख कैसे वेदों मे भी मिलता है। पर उनका

यह प्रतिवाद रक्षात्मक ही था। यह दावा करने का साहस वे नहीं कर सके कि भारत के मिहरी पुत्र कृष्ण और कुमारी कुंती पुत्र कर्ण ही विदेशों में जाकर वर्जिन मेरी के पुत्र यशस् क्रृष्ट बन गये। विदेशी विद्वानों की यह विशेषता थी कि वे यहां के पुरुषों की कथाओं को तो तत्काल माइथोलोजी बता देते थे पर अपनी माइथोलोजी को भी, जो अन्यों से उधार ली गयी थी; सच्ची घटनाएं मानने का आग्रह रखते थे। हमारे विद्वानों की प्रवृत्ति यह रही कि विदेशी विद्वान् जो कुछ कहे उसे तो सच मानते हैं पर यहां के विद्वान् जो कुछ कहें उसे कल्पना मात्र मानकर या पुराण पंथ मानकर त्याज्य समझते हैं।

हमारी महाभारत कथा भी पश्चिम के देशों में अनेक रूपों में गयी थी। महाभारत का सिंधी रूपान्तर सर्व प्रथम अरब गया। वहां से और पश्चिम में भी गया। भारतीय गणित की शून्य मूलक अंक प्रणाली भी पहले अरब गयी और वहां स्वीकृत होने पर 'हिन्दसा' कहलायी। अरबों ने अपनी दाहिने से बाएं लिखी जाने वाली लिपि में भी उसे उसी क्रम से अपनाया जिस क्रम मे भारत मे प्रचलन था। अरब से अंक प्रणाली यूरोप गयी तो वहा भी अपना ली गयी और उसने रोमन अंकों का स्थान ले लिया। पर क्योंकि यूरोप मे उसे अरब से ले गये थे अत: वहां की भाषाओं मे उसे अरबी अंक प्रणाली बताया गया।

भारत की एक और कथा विदेशों मे जाकर सृष्टि की कथा को विचित्र रूप दे बैठी। आदि में सूर्य मंडल मे केवल सूर्य था। इसलिए वह आदित्य अथवा आदिम था। उसे अकेलापन महसूस हुआ। 'एकोऽहं बहुस्याम्'—अकेला हू, अनेक बनूं—की उसे इच्छा हुई। उसने परिवार बनाने के लिए अपने अग्नि पिंड में से अनेक छोटे पिंड निकाले। ये छोटे पिंड प्रायः सेब की आकृति के थे। सूर्य उन्हें कभी निकालता कभी वापस निगलता। अततः उसने उन्हें निकाल तो दिया पर अपनी संकर्षण शक्ति से बांधे रखा। अब वे उसकी परिक्रमा करने लगे। वे एक नियत दूरी पर रहकर परिक्रमा करने लगे। परिक्रमा मार्ग अंडाकार बने अर्थात् पूर्णत वृत्ताकार नही बने।

सूर्य से निकले अनेक पिंडो मे से एक पिंड हमारी पृथ्वी है। कुछ कथाओं मे उसे सूर्य की पत्नी बताया गया। यह कहा गया कि सृष्टि कर्त्ता इस जोड़े से रुष्ट हो गया तो उसने उन दोनों को अरबो वर्षों के लिए—प्रलयकाल तक के लिए—अलग कर दिया। तब तक आदित्य या आदिम उसे पा नही सकेगा। पर तब तक ये इस वृन्दावन मे इसी प्रकार क्रीड़ा करते रहेगे।

सामी पुराणों मे इस कथा ने एक नया रूप ले लिया। आदित्य या आदिम बन गया बाबा आदम, और पृथ्वी या इला बन गयी इवा। इवा की सेब जैसी आकृति ने एक नयी कहानी बना दी, बाबा आदम द्वारा सेब के खाये जाने की और फिर रुष्ट हुए सृष्टि कर्त्ता द्वारा उनके वृन्दावन मे निष्कासन की। सृष्टि

कर्त्ता ने कह दिया कि मेरे विशाल वृन्दावन, के किसी एक कोने मे अपना परिवार अलग बना लो और वहीं रहो। यों बन गया सोग परिवार। अस्तु, जो भी हो यह कहानी भी रोचक बन गयी और सृष्टि के विकास की बहुमान्य कथा बन गयी। सामी मूल के सभी संप्रदाय इस कहानी को मानते है और आदम तथा ईव को आदि नर-नारी मानते हैं।

भारत का 'महाकाल' भारत में चाहे उज्जैन मे ही रहा हो पर वह मध्य एशिया में अवश्य पहुंचा। वहां वह महागाला बन गया। बौद्ध धर्म जहां-जहां फैला वहां भारत का—महाकाल के देश का—ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान भी पहुंचा।

भारत की पंचतंत्र की कथाएं भी विदेशों मे खूब फैली। वह विस्तार भी संभवतः अरब के माध्यम से ही हुआ। अरब में वह कथा कालिस-दिमनिम की कथा बन कर रह गयी। वे ही कथाएं यूरोप मे पहुँची तो ईसप की कथाएं बन गयी। इनमें राजनीति का उपदेश है पर पशु-पक्षियों की कहानियों के माध्यम से।

कुछ लोग कहते हैं कि मैक्सिको में भी भारतीय सस्कृति के अवशेष उपलब्ध हैं। हमें कोई आश्चर्य नही। हमारा कट्टुमरम् वाला नीलकंठ या नारद यदि दक्षिण अमेरिका के दक्षिण में नेरा देल फ्यूगो पहुँचकर उसीके आधार पर दक्षिण पूर्व के बीच की दिशा को अग्निकोण नाम दे सकता था तो वह मैक्सिको तक क्यों नही जा सकता था। जातक कथाएं तो विदेश यात्राओं की कथाओं से भरी पड़ी हैं।

पर भारत के आदर्श नागरिक की एक विशेषता थी कि वह विदेशों मे ज्ञान *का आलोक लेकर जाता था, खून की प्यासी लपलपाती तलवारें लेकर नही।* वह ज्ञान के अभिलेखों—महाग्रंथों—को भस्मसात् करता नही जाता था। प्रेम और भ्रातृत्व का सन्देश लेकर ही जाता था। विदेशी पर्यटक यहां निर्भीक होकर आते थे; ज्ञान का उपार्जन करते थे और यहां से साथ लिए हुए ज्ञान के प्रकाश का आलोक अपने देश में फैला पाते थे। नर-संहारकारी दिग्विजयों में भारत की रुचि कभी नहीं रही। ज्ञान का दिग्दर्शन ही उसका तो लक्ष्य रहा। हमारी वह परंपरा अविच्छिन्न बनी रही होती तो हर्ष की बात होती। पर अब तो हम देते नही, लेते हैं। दान पात्र ही रह गये हैं। अब हमारा विश्वास है कि ज्ञान का उदय हमारे देश में नहीं हो सकता। वह तो यूरोप या अमेरिका मे ही होता है। वह जब वहां पुराना पड़ जाता है तो हम ले लेते हैं।

हां, हम इस विषय में अवश्य सतर्क हैं कि हमारा जो कुछ पुराना ज्ञान है उसे शीघ्र भुला दें ताकि लज्जित न होना पड़े। हमारे देश में शिक्षा प्रसार के साथ यह प्रक्रिया प्रगति पर है। उदाहरण के लिए यदि हम भारतीय मास नामों को लें तो पायेंगे कि वे नाम केवल उन लोगों को ज्ञात है जिन्हें विद्यालयों की शिक्षा

नहीं मिली। निश्चय मानिए कि जिस दिन सारा देश शिक्षित हो जाएगा उस दिन चैत्रादि मासों के नाम केवल यूरोप या अमेरिका में छपी कुछ पुस्तकों में ढूंढने पड़ा करेंगे और हमारे छात्र उनके लिए शोध करने विदेश जाया करेंगे। हमारी तो इसीलिए पूरे देश को शिक्षित देखने की इच्छा नहीं है। भगवान्! इस देश में भी थोड़ा प्रकाश बनाये रख—तमसो मा ज्योतिर्गमय।

अलंकारशास्त्र का दिव्य उद्भव

प्रथम अध्याय में बताया गया है कि अक्षवाटों मे आचार्य ब्रह्मा के मार्गदर्शन में जिस दिव्य ज्ञान का अनुसंधान-अध्ययन होता था उसकी प्रायः परीक्षा के आयोजन भी होते थे। उन आयोजनों में गोलकों पर चित्र बनाये जाते थे। कमल के विविध अंगों से मूर्तियां बनायी जाती थी। फिर उन गोलकों का मानवीकरण करके कहानियां बनायी जाती थी, कवन कर्म होता था, शास्त्रार्थ होते थे और पुरस्कार वितरण होते थे। वे कवन-कर्म वृद्धिगत होते गये। उनके अभिनय भी होने लगे। आकाश में रस्सियां तान कर उन रस्सियों से, उन कलाओं से कला भाजन (कलाबाजी) होने लगा। रस्सियों पर चलकर कइरु नट (कइरु = रस्सी, नट = चलना) अपनी कला-भाजन क्षमता दिखाने लगें। ये 'कइरु नट' उदीच्य भाषा में कारु नट हो गये। इनके द्वारा अभिनय कला का विकास हुआ तो नाट्य शास्त्र बना। इस नाट्य शास्त्र के निर्माण में ब्रह्मा का भी मार्ग दर्शन था, कट्टुमरं में बैठकर नीलांबुधि की यात्रा करने वाले नीलकंठोपासक का भी था। यह नीलकंठोपासक स्वयं उसी प्रकार नीलकंठ या शिव कहलाता था जिस प्रकार ब्रह्मोपासक आचार्य ब्रह्मा कहलाता था। भरत ने ब्रह्मा और शिव दोनों के मार्गदर्शन का आभार प्रकट किया है, अपने ग्रंथ के प्रथम श्लोक मे ही :

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणायदुदाहृतम्।

नाट्यशास्त्र के वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने भरत से नाट्य शास्त्र का प्रवर्तन करने के लिए आग्रह उन लोगों के लिए किया था जो नीचे गाँवो मे, बस्तियों मे रहते थे; पहाड़ पर चढकर अक्षवाटो में पहुँचकर देवताओं का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते थे। इसका लाभ यह था कि इन लोगो का मनोरंजन भी होगा और इन्हें ज्ञान भी प्राप्त होगा। इस काम के लिए स्वयं भरत ने अपने सौ पुत्रों को तैयार किया। उन्हें ब्रह्मा की आज्ञा के अनुसार प्रशिक्षण दिया और उनसे नाट्यवेद का प्रवर्तन करवाया। इसलिए महाभारत-पुराणों के समान यह भी पंचम वेद कहलाया।

यों नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति अक्षवाटों में हुई। कथन कर्म यहां आरंभ हुआ था अतः काव्य रचना का मार्गदर्शन भी वहीं आरंभ हुआ। प्रथम अध्याय में बता चुके हैं कि भूमि रूपी नायिका के विविध अंगों के स्वरूप निर्माण की विधियां निर्धारित हो गयी थीं। उनके उपासकों के आठों याम किये जाने वाले कर्म निर्धारित हो गये थे। भूमि नायिका थी, सूर्य नायक थे तो उनके अष्टयाम के चरित भी निर्धारित हो गये। उन सबका वर्णन काव्य पाठ में प्रत्येक छात्र और उपाध्याय अपनी-अपनी सामर्थ्य और कल्पना शक्ति के अनुसार करने लगे। यों काव्य के विषय निर्धारित से होने लगे। विविध तारों की जीवन गाथाएं; उनके अष्टयामकृत्य; उनके नखशिख वर्णन; उनके परस्पर संघर्ष के वर्णन; उनके छः ऋतुओं, बारह मासों में होने वाले परिवर्तनों के वर्णन, नख-शिख के अंगों के उपमानों का निर्धारण, यह बहुत कुछ क्रमबद्ध-सा हो गया। सबकी परंपरा निश्चित-सी हो गयी। परस्पर ज्ञान के संप्रदान, आदान-प्रदान, के लिए जो आचार्य रसियों या गुणों का, मार्ग या रीतियों का, अलंकारों-आभूषणों का, उक्तिचमत्कार-वैदग्ध्यभंगीभणिति का, घंटा-तूर्य आदि की ध्वनि का गौरव वर्णन करते थे उनके संप्रदाय बन गये। यों अलंकार शास्त्र के विषय को लेकर परवर्ती काल में, आज से कोई डेढ़ हजार वर्ष पहले जो संप्रदाय बनने आरंभ हुए उनका मूल उन्हीं अक्षवाटों में ज्ञान-संप्रदान के लिए किये गये शास्त्रार्थों में निहित था। वहीं वर्ण्य विषयों का जन्म हुआ। वहीं सादृश्य-भेद मूलक अलंकारों का जन्म हुआ। वहीं गुण, रीति, शब्द चमत्कृति, ध्वनि आदि का विकास हुआ। पर उनका स्वरूप आज से काफी भिन्न रहा होगा। फिर भी जो उपमान निर्धारित हुए, जो वर्ण्य विषय निश्चित हुए, जिन कथाओं की विरचना हुई, वे बहुत कुछ बनी रहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि अक्षवाटों का यह ज्ञान ईसा से चार-पांच हजार वर्ष पूर्व विकसित हुआ था। वह ईसा से अढ़ाई-तीन हजार वर्ष पूर्व मलयमंदिरों से होता हुआ ऊरों तक पहुंच गया था। तमिल के जिस लुप्त 'संघम्' वाङ्मय की तमिल साहित्य में चर्चा है, वह आज उपलब्ध हो जाए तो कदाचित् कुछ प्रकाश पड़े। अभी तक तो तोलकाप्पियम् के पोरुळ् अधिकारम् में ही उस परंपरा के क्षीण से दर्शन हो सकते हैं। पर उनकी जो व्याख्याएं आज उपलब्ध हैं वे संस्कृतज्ञ विद्वानों की कृतियां हैं। नाच्चिनारकिनियार, सेनावरियार, तेयवच्चिलैयार, यहां तक कि आधुनिक युग के अंग्रेजी टीकाकार पी सुब्रह्मण्य शास्त्री तक नाट्यशास्त्र और तत्परवर्ती काव्य शास्त्र के विद्वान् ही रहे हैं। उन सबने उन्हीं संस्कृत ग्रंथों से प्राप्त ज्ञान के बल पर अपनी टीकाएं की है जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है। जो वाङ्मय उपलब्ध है, उसमें कश्मीर भूमि की देन ही अधिक है और अक्षवाटों का ज्ञान कश्मीर भूमि तक तो ईसा से दो-तीन हजार वर्ष

पूर्व ही पहुचा और तब वेदों के रूप मे उसका निरूपण हुआ। काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र में वहां रुचि बहुत बाद मे उत्पन्न हुई।

नाट्यशास्त्र से तो यही प्रतीत होता है कि उसको जिन रूपकों, उपरूपकों, राग-रागिनियों, नृत्त-नृत्यों, भाषा-विभाषाओं का उल्लेख है उसमे प्राच्य भूमि के तत्व ही अधिक है। पर नाट्य शास्त्र की जो व्याख्याए उपलब्ध हैं वे सब कश्मीर भूमि की हैं। वे लोग उस परंपरा को कहां तक समझ सकते थे जो द्रविड भूमि से हजार-पन्द्रह सौ वर्षों तक मार्ग मे घूमते-घूमते पहुंची। अभिनय कर्म है भी व्यवहार प्रधान। व्यवहार को न जानने वाले, ग्रंथ मात्र पढ़कर समझने का यत्न करने वाले टीकाकार कितना समझे है, यह सदेहास्पद है। उन लोगो ने अपनी समझ के अनुसार व्याख्याएं नही की, पाठ को भी तोडा-मरोडा, जोड़ा-घटाया। जैसा आजकल के पाठ-संपादक करते हैं, बहुत से दुर्बोध पाठ को प्रक्षिप्त बताकर छोड़ देते हैं वैसा ही उन टीकाकारों ने भी किया लगता है। अत. उनमे से कोई नाट्यशास्त्र में मूलतः छः हजार पाठ बताता है, कोई बारह हजार। कोई सूत्र, कारिका, गद्य आदि के विविध रूपों की गुत्थी सुलझाने मे असमर्थ रहा है, कोई मंच के स्वरूप से ही अनभिज्ञ लगता है।

निःसंदेह टीकाकार विषय से अनभिज्ञता के कारण, परंपरा से अनभिज्ञता के कारण, बहुत जूझे हैं। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगद् रस-निष्पत्तिः' जैसे छोटे से, सरल से, सूत्र की व्याख्या मे आचार्य लोग ऐसे जूझे हैं कि आश्चर्य होता है। सभी को रसास्वादन में अनुकार्य-अनुकारी सब बाधक हुए हैं। जब 'रस-निष्पत्ति' शब्द का ही अर्थ अस्पष्ट हो तो आगे समझ में आयेगा भी क्या? सीता और राम के श्रृंगार का वर्णन पढ़कर या अभिनेताकृत अभिनय को देखकर वही आनंद प्रेक्षक-पाठक को कैसे आयेगा जो राम और सीता को आया था। यही समस्या सुलझाने में लगे रहे एक के बाद एक आचार्य। प्रेक्षक-पाठक को किसी और को प्राप्त हुआ आनंद भोगना है, यह प्रश्न ही नही उठता। उसे तो आनंद पुस्तक पढकर या अभिनय देखकर आता है। उसका स्वाद सर्वथा भिन्न होता है। भरत का कहना सिर्फ यह था कि यदि अमुक-अमुक प्रकार के विभावानुभाव-व्यभिचारी भाव से समन्वित वर्णन पढेंगे या दृश्य देखेंगे तो पाठक-प्रेक्षक को जिस रसमयता या तन्मयता का बोध होगा उसे अमुक रस माना जाएगा। विशेष प्रकार का आचरण करते हुए अनुकार्य के मन में जो भाव थे, उन भावों के साथ न हमारा साधारणीकरण होता है, न तादात्म्य। हमारा साधारणीकरण या तादात्म्य तो उस लेखक के साथ होता है जिसने पात्र विशेष की रचना की। वाल्मीकि राम, लक्ष्मण, सीता, रावण, सुग्रीव आदि के जो चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करना चाहता है उन्ही को यदि हम ग्रहण कर रहे हैं तो उनकी सफलता है। हमारा तादात्म्य वाल्मीकि के साथ स्थापित होता है, राम या रावण के साथ

नहीं, न गीता या मंदोदरी के गाप। पर लगता है कि जिन टीकाकारों ने व्याख्या का बीड़ा उठाया वे विविध दर्शनों के विद्वान् थे काव्य या काव्यशास्त्र के नहीं, नाट्य या नाट्यशास्त्र के नहीं। कोई मीमांसा का विद्वान् था, कोई न्याय का, कोई सांख्य का था तो कोई वेदान्त का। पर उनकी यह विद्वत्ता इस व्याख्या में उपयोगी नहीं थी।

भरत के नाट्यशास्त्र के तथाकथित सर्वोत्कृष्ट टीकाकार अभिनव गुप्त ने भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्ट नायक प्रभृति का नामोल्लेख किया है। उनके क्या विचार थे यह भी बताया है। पर मूलतः उन लेखकों ने क्या निरूपण किया था इसका स्वतन्त्र साक्ष्य तो कुछ भी है नहीं और खण्डनकर्ता अपने मत की स्थापना में उपादेय सामग्री का ही संकलन करता है, सरलता से खंडन योग्य सामग्री का ही खण्डन करता है तथा उसीको करके अपने मत की स्थापना में सफलता पाता है। अतः उसी के द्वारा यथा उल्लिखित पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को किस रूप में ग्रहण किया जाए यह निर्णय करना कठिन है। फिर भी यह अवश्य प्रतीत होता है कि वे सब दिग्भ्रान्त थे; स्वयं अभिनव गुप्त भी था।

अभिनव गुप्त ने इस बात का उल्लेख किया है कि अनेक लोग यह शंका करते हैं कि पूरा नाट्यशास्त्र भरत ने नहीं लिखा, कम से कम आरंभ की छः कारिकाएं तो किसी और की हैं ही। अभिनव गुप्त ऐसी शंका उत्पन्न करने वालों को नास्तिकधुर्योपाध्याय बताता है और स्वयं मानता है कि पूरे ग्रंथ का एक ही कर्ता था। उसने कहा कि पूर्व पक्ष आदि के रूप में अन्यों का उल्लेख करने की श्रुति, स्मृति, व्याकरण, तर्क आदि शास्त्रों में परंपरा है और उसी प्रकार भरत ने भी ब्रह्मा का उल्लेख किया होगा। अभिनव गुप्त ने शंकालुओं का पक्ष और अपना पक्ष जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसे यहां उद्धृत करते हैं : एवं भरतमुनिः परवदात्मानं प्रकल्प्येयन्तं ग्रन्थं अभिहितवान्। अन्येत्वियन्तं ग्रन्थं कश्चिच्छिष्यो व्यरोरचत्। तत्र ब्रह्मणेति भरतमुनिः प्रथमश्लोके निर्दिष्टः 'कथं ब्रह्मन्नुत्पन्न' (४) इत्येतदेवमेकवाक्येन निर्वहति, तदनन्तरं तु भवद्भिः शुचिभिः (७) इत्यादिभिर्भरतमुनिरचितो ग्रन्थो, मध्येत्र षट्त्रिंशदध्याय्यां यानि प्रश्न-प्रतिवचन-प्रयोजन-वचनानि तच्छिष्य-वचनान्येवेत्याहुः। तच्चासत्। ऐतेन सदाशिव-ब्रह्म-भरतमतत्रय विवेचनेन ब्रह्ममतसारता-प्रतिपादनाय मतत्रयसारासार-विवेचनं तद् ग्रंथ खण्डप्रक्षेपेण विहितमिदंशास्त्रं, न तु मुनिविरचितमिति यदाहुर्नास्तिक-धुर्योपाध्यायास्तत्प्रयुक्तं, सर्वानिपह्नवनीयावाधितशब्दलोकप्रसिद्धि-विरोधाच्च।

यों भरत के नाट्यशास्त्र के आरंभ में दी हुई इस कथा के विषय में शंका उठी है कि यदि नाट्यशास्त्र को जन्म ब्रह्मा ने दिया था तो 'कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः'

वाली बात कैसे होगी। बात जरा सी थी। चौथे श्लोक में 'ब्रह्मन्' शब्द ब्रह्मा को संबोधन नहीं है, स्वयं भरत को संबोधन है, और भरत को प्रश्न करने वाले आत्रेयादि हैं। पर जिन लोगों ने इस 'ब्रह्मन्' को भी ब्रह्मा मान लिया उनके लिए शंका खड़ी हो गई कि क्या यह वही कथा परंपरा है जिसमे कई वक्ता, कई श्रोताओं को एक ही कथा कहते हैं और अंतिम वक्ता बीच-बीच में औरों के संबोधन भी देता जाता है। हमें तो स्पष्ट लगता है कि यहां ऐसा कुछ नहीं है। आत्रेयादि भरत से ही निवेदन कर रहे हैं कि हे ब्रह्मन्! हमें यह सब बताओ कि ब्रह्माजी ने कैसे नाट्यशास्त्र बनाया, उसका क्या रूप है आदि। सभी टीकाकारों की सभी शंकाएं निर्मूल है। पर जो विषय को जानते नहीं वे टीका करने में प्रवृत्त हो जाएं तो ऐसी कठिनाई उत्पन्न कर ही लेते हैं।

अस्तु यह स्पष्ट है कि भरत ने ब्रह्मा और शिव के किन्हीं विरोधी मतों का पूर्वपक्ष के रूप में न तो प्रयोग ही किया है और न ब्रह्मा के मत को पुष्ट किया है। उसने तो स्पष्टतः ब्रह्मा और शिव दोनों को प्रणाम किया है और उनके आशीर्वाद से नाट्यशास्त्र का प्रचार करने की इच्छा की है। उसके अनुसार नाट्यशास्त्र का जन्मदाता अक्षवाट का ब्रह्मोपासक ब्रह्मा है और उसका सहयोगी कट्टुमरं लेकर नीलकंठ की उपासना करने वाला नीलकंठ है। भरत ने यह ज्ञान दिया आत्रेयादि ऋषियों को और अपने सौ पुत्रों को।

प्रश्न उठता है तो केवल यह कि यदि भरत ने ही नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया तो उसके ग्रंथ में भरत के लिए अन्य पुरुष का प्रयोग कैसे? पर यह समस्या तो रामायण, महाभारत आदि में सर्वत्र है। वाल्मीकि भी अपने लिए अन्य पुरुष का प्रयोग करते हैं, व्यास भी। इस विषय मे हमारा तो समाधान यही है कि इनकी आदिकथा अक्षवाटों के निकटस्थ प्रदेश की स्थानिक भाषा मे कही गई थी और संघम् काल का जो बहुत सा वाङ्मय नष्ट हुआ उसमे वे भी नष्ट हो गयी। जो रूप हमारे सामने आज है वह तो उसका संस्कृत रूपान्तर है जो उदीच्यों के उपकार के लिए किया गया। और उसमे रूपान्तरकार ने मूल लेखकों की रचना प्रक्रिया, हेतु आदि भी बता दिये, ठीक वैसेही जैसे क्षेमेन्द्र अथवा सोमदेव ने गुणाढ्य द्वारा 'वड्ढ कहा' की रचना का उल्लेख किया। बृहत्कथा मंजरी और कथासरित्-सागर जैसे 'बड्ढ कहा' के संस्कृत रूपान्तर है उसी प्रकार रामायण, महाभारत, पुराण और नाट्यशास्त्र जैसे पांचवें वेद भी मूल रचनाओं के संस्कृत रूपान्तरमात्र हैं। वे संक्षिप्त हैं, या बृहत्तर, कह सकना कठिन है। वैसे नाट्य शास्त्र के बारह सहस्र पाठ का भी उल्लेख मिलता है। शारदातनय ने भाव प्रकाश में लिखा है:

नाट्यवेदाच्च भरतः सारमुद्धृत्य सर्वतः
संग्रहं संप्रयोगार्हं मनुना प्रार्थितं व्यधुः।

एकं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संभवः।

श्रीकवि ने बताया है कि षट्साहस्री का रचयिता भरत था और द्वादशसाहस्री का आदि भरत। हमारा तो विश्वास है कि आदि भरत की आदि रचना संस्कृत में नहीं थी, आदि द्रविड भाषा में थी जिसका समृद्ध साहित्य आज विलुप्त हो चुका है।

अभिनव गुप्त समेत सभी भ्रान्त टीकाकारों की विवेचना अनेक आधुनिक भ्रान्त आचार्यों ने प्रचुर मात्रा में की है। उसमें व्यर्थ वाग्विलोडन अधिक है, सार्थक निरूपण अत्यल्प। हम उस कर्म में यहां प्रवृत्त नहीं होंगे। अगले अध्याय में किंचित् विचार करेंगे। वैसे हमने कभी अभिनय किया नहीं है अतः हम जानते नहीं कि रामादि अनुकार्यों का अनुकरण करने वाले अभिनेताओं को उस समय क्या भान होता है पर हम प्रेक्षक-पाठक रहे हैं और यह अच्छी तरह जानते हैं कि यदि रूपक अथवा काव्य के रचयिता में कौशल होता है तो वह हमें अपनी धारा में अवश्य बहा लेता है। वह जिस पात्र के प्रति करुणा उत्पन्न करवाना चाहता है, उसके प्रति करुणा उत्पन्न करवा देता है, आंसुओं के ऐसी धारा प्रवाहित करवा देता है जैसी आत्मीय की मृत्यु पर भी नहीं होती। जिसके प्रति क्रोध उत्पन्न करवाना चाहता है, उसके अभिनय को देखकर भी होंठ फड़कने लगते है। यदि 'साधारणीकरण' शब्द का ही प्रयोग करना हो तो इसे रचयिता और श्रोता-पाठक-दर्शक का साधारणीकरण कह सकते है, वेदान्ती की भाषा का प्रयोग करें तो तादात्म्य स्थापन कह सकते हैं।

अब 'काव्येषु नाटकं रम्यं' के प्रसंग को छोड़कर न्यून रम्य काव्यों के विषय में चर्चा करेंगे। अक्षवाटों में हुई काव्य रचना, उस समय रूढ हुए उपमान, उस समय प्रचलित हुए कविकर्म, विषय आदि के संबंध में पहले विवेचन हो चुका है। अब यह चर्चा करनी है कि इनसे काव्य-शास्त्र के सम्प्रदायों का विकास किस प्रकार हुआ? पहले अनेक लोगों द्वारा निर्णीत काव्य की परिभाषाओं पर दृष्टि-क्षेप कर लें :

भामह—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। भामह ने निर्दोषता और सालंकारता को भी महत्त्व दिया है पर शब्द और अर्थ को ही काव्य माना है।

रुद्रट—भामह की तरह 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' कहता है।

वामन—अलंकारवादी होते हुए भी रीति संप्रदाय का जन्म देता है। 'रीतिरात्माकाव्यस्य' कहकर रीति को, पद रचना को, ही काव्य की आत्मा मानता है।

दंडी—दंडी ने अलंकारों को शरीर मानने वालों का खंडन किया है और 'इष्टार्थव्यच्छिन्ना पदावली' को काव्य बताया है इसीलिए उसने भामह, रुद्रट, वामन आदि की तरह अपने ग्रंथ का नाम काव्यालंकार नहीं रखा, काव्यादर्श रखा है। जो लोग दंडी को भामह से भी पूर्ववर्ती मानने का आग्रह करते है वे उसी के वचनों से देख लें कि वह भामह आदि से पश्चवर्ती है या नहीं। वह तो अपनी स्थापना में मम्मट से भी आगे निकल गया है। मम्मट तो भामह आदि के समान काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों में ही मानता है पर दंडी ने परवर्ती विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि के मत की काव्यादर्श में ही स्थापना कर दी है। वह आलंकारिकों का खंडन करते हुए कहता है.

तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।

यों उसकी दृष्टि मे काव्य पदावली है। 'इष्टार्थव्यवछिन्ना' तो उसका विशेषण है। शरीर पदावली है, आत्मा इष्टार्थ है। साहित्य दर्पण में भी तो यही बात कही गई है। बस शब्दों का प्रयोग भिन्न है। वहां 'पदावली' का स्थान 'वाक्य' ने ले लिया है, 'इष्टार्थ' का 'रस' ने। जगन्नाथ भी यही बात कहते हैं पर पदावली के स्थान पर 'शब्द' और 'इष्टार्थ' के स्थान पर 'रमणीयार्थ' शब्द का प्रयोग करते है। यो 'विश्वनाथ' और 'जगन्नाथ' शब्दों के अर्थ में जितना अन्तर है उतना ही अंतर दोनों की परिभाषा और दंडी की परिभाषा में है। दंडी ने अलंकार को शरीर मानने वालों का खंडन किया है। उन्हें 'तैः' कह कर पूर्वपक्ष माना है।

कुन्तक—वक्रोक्तिजीवितकार ने भी वक्रोक्ति को अर्थात् पदावली को ही काव्य का जीवित माना। उसने उसे वैदग्ध्यभंगीभणिति भी कहा। पर शब्द तथा अर्थ दोनों का उल्लेख किया। अर्थ के बिना तो शब्द होता ही नहीं। हो, तो हमारे लिए निरर्थक है। पर उसी अर्थ को अभिव्यक्त तो चमत्कार-रहिता अभिधा वाणी से भी किया जा सकता है। पर वह काव्य नहीं कहलायेगा। उसमें काव्यत्व तो चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति से ही आएगा इसलिए कुंतक ने कहा—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद् विदाह्लादकारिणि।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।

यों काव्य वक्र कविव्यापार युक्त व्यवस्थित बध है। वही आह्लाद कारी वक्रोक्ति है, वही वैदग्ध्यभंगीभणिति है।

चंडीदास—काव्यप्रकाशदीपिका कार भी इन लोगों से बहुत दूर नही गया है। वह कहता है—आस्वादजीवातु पदसंदर्भः काव्यम्। 'पद संदर्भ' वही है

जो 'वाक्यम्' है और 'आस्वादजीवातुः' वही है जो 'रसात्मक' है। शब्दों का भेद मात्र है।

अग्निपुराण में भी इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्-कहा है। शौद्धोदनि ने अलंकारशेखर में भी 'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेष-कृत्' । कहकर विश्वनाथ वाली ही बात कही है, नया कुछ भी प्रतिपादित नहीं किया।

आनंदवर्धन—ध्वन्यालोककार ने 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग कर एक नयी धारा प्रवाहित की। उसने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहा पर इसका श्रेय स्वयं नहीं लिया। 'बुधैर्यः समाम्नातपूर्वम्' कहा। अर्थात् पूर्ववर्ती विद्वानों को उसका श्रेय दिया जिनमें एक कदाचित् धनिक है। अन्य भी अनेक होंगे।

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक अलकार शास्त्र के आचार्य हुए हैं जिन्होंने शास्त्र के जिज्ञासु छात्रों के लिए उपयोगी प्रतीत होने वाले ग्रंथ रचे हैं पर उन्होंने काव्य की परिभाषा में तात्त्विकता का ध्यान नहीं रखा। उन अनेक विषयों का परिगणन मात्र कर दिया जिनका विवेचन काव्य शास्त्र के ग्रंथों में होता है। जैसे : शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार, दोष, रस, ध्वनि, उक्ति आदि। इनके कुछ उदाहरण लीजिए :

मम्मट—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। अर्थात् मम्मट भामह के स्तर पर ही हैं, 'शब्दार्थौ' को काव्य मानते हैं। बस इतना जोड़ते हैं कि उसमें दोष न हों, गुण हों और अलंकार भी हों तो अच्छा है; पर क्वचित् न हों तब भी चलेगा। यह विवेचन काव्य प्रकाश में है।

भोज (सरस्वतीकंठाभरण) :

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविःकुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

इन्होंने 'शब्दार्थौ' छोड़ दिया। रखें या न रखें, ऐसा निश्चय नहीं कर पाये होंगे। अतः निर्दोषता, गुणवत्ता, अलंकृतता, रसान्वितता चार तत्त्व आवश्यक बता दिये। अलंकारों के विषय में वह छूट नहीं दी जो मम्मट ने दी थी। नायिका हो तो सजी-धजी भी होनी चाहिए ताकि माता के दाग छिप जाएं।

अग्नि पुराण—इसमें मम्मट की तरह तो नहीं; पर दंडी के शब्दों को अपनाते हुए भी उसमें भी अलंकार गुण और निर्दोषत्व आदि का विधान किया गया :

……………इष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली।
काव्यं स्फुटदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥

कहकर वे ही सब विषय गिना दिये जो मम्मट या भोज ने गिनाये थे। मम्मट से भेद यह कि अर्थ को बराबर महत्त्व नहीं दिया।

वाग्भट-(काव्यानुशासन)—शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्। वही मम्मट वाली बात है। कहने का अंतर है। अलंकारों के विषय में मम्मट जहां कहीं-कहीं अलंकार हीनता को क्षमा करता है, वहां वाग्भट प्रायः अलंकार का आग्रह करता है।

हेमचंद्र (काव्यानुशासन)—बस वाग्भट के 'प्रायः' का लोप कर देता है या मम्मट की छूट का संहार कर लेता है—अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।

इन विविध आचार्यों के वाग्विलोडन की चर्चा यहीं समाप्त कर संक्षेप में उन छः सम्प्रदायों का उल्लेख करेंगे जिनका विकास विगत डेढ़ हजार वर्षों मे हुआ। ध्यान रहे उनका मूल आज से छः सात हजार वर्ष पहले सुदूर दक्षिण के अक्षवाटों में हुए शास्त्रार्थों में था और इन सम्प्रदायों का अधिकांश स्थापन-विस्थापन कश्मीर भूमि में हुआ जहां यह ज्ञान बहुत ही विलंब से, आधे-अधूरे रूप मे पहुंचा था। इसीलिए शब्दों के अर्थ बिलकुल बदल गये यद्यपि वर्ण्य विषय बिलकुल नहीं बदले। वही रामायण-महाभारत-पुराणों की कथा, वही ऋतु-मास आदि के ज्योतिष मूलक वर्णन, वही प्रहतारों की अष्टयाम पूजा, वही भूमि नायिका के नखशिख वर्णन, वही उपमान, वही भावना, वही भक्ति-निष्ठा यथावत् रहे पर संप्रदायो के वाचक शब्दों के अर्थ बिलकुल बदल गये।

अलंकार संप्रदाय—नायिका और नायकों को, भूमि और सूर्य-चंद्र को विविध रूपो में अलंकृत किया जाता था। इन्ही को महत्त्व देने वाला अलकार सम्प्रदाय था। 'अलंकरोतीति अलंकारः' जैसी व्याख्या तो सब कर देते है पर 'अलं' का अर्थ सौन्दर्य है कहां, उसका तो अर्थ है 'बस' जिसका प्रयोग नापसंद करने वाला करता है। इसकी व्युत्पत्ति समझने के लिए तमिल का 'अलकु' (अलहु) शब्द समझना होगा जिसका अर्थ है 'सौन्दर्य'। उसी में 'कार' शब्द जोड़कर अलक्कार या अलंकार शब्द वैसे ही बनते हैं, जैसे ब्रज में 'लंक' तो पजाबी मे 'लक्क'। तो अब स्पष्ट हुआ होगा 'सौन्दर्यमलंकारः'। नाट्यशास्त्र मे अलंकार चार ही गिनाये थे : उपमा रूपकं चैव, दीपकं यमकं तथा। जो अब 110 के लगभग हो गये उनका आरंभ यही है। अर्थालंकार और शब्दालकार का भेद करें तो केवल यमक ही शब्दालंकार है। भामह के समय 'अनुप्रास' पांचवां जुड़ा जो शब्दालकार है। पर भामह ने इसका श्रेय स्वयं नहीं लिया स्पष्ट कहा :

अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलंकाराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः॥

ये अन्य कौन हैं पता नहीं। भामह का ग्रंथ काव्यालकार है, फिर रुद्रट ने भी इसी नाम से रचना की, वामन ने भी की। अतः राजानक रुय्यक ने निष्कर्ष निकाला

कि काव्य में अलंकार ही प्रधान हैं, ऐसा प्राचीनों का मत है—अलंकारा एव काव्ये प्रधानमितिप्राच्यानां मतम्। जयदेव आदि ने भी इसकी पुष्टि की और यहां तक कहा कि जो अलंकार रहित काव्य को काव्य मानने को तैयार है वह अग्नि को शीतल क्यों नहीं मान लेता—'असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।' पर संस्कृत के काव्य शास्त्र में यह आग्रह बहुत नहीं चला। रसवादी ही छाये रहे। हिन्दी में केशवदास अलंकारवादी थे—'भूषन बिनन बिराजई कविता बनिता मित्त' कहते थे। पर हिन्दी में भी परवर्ती कवियों ने उसे आदर्श नहीं माना, आचार्यों ने भी नहीं माना।

वामन का रीति संप्रदाय—सामान्यतः अलंकारवादी माना गया वामन इस बात के लिए प्रसिद्ध है कि उसने रीति को काव्य की आत्मा माना और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहा। वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी तीन रीतियां प्रमुख मानी गयी हैं और उन्हें प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणों से संबद्ध किया गया है। नाट्यशास्त्र में दस गुण बताये गये थे :

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥

पर भामह ने मुख्यतः माधुर्य और प्रसाद को और क्वचित् ओज को भी ग्राह्य बताया :

माधुर्यमभिवांछन्तः प्रसादे च सुमेधसः।
समासवन्तिभूयांसि न पदानि प्रयुंजते॥
केचिदोजोभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।

यों वामन ने तीन गुणों पर आश्रित तीन रीतियों को महत्त्व दिया। ये रीतियां नाम से तो देश विशेष से सम्बद्ध लगती हैं पर वस्तुतः हैं नहीं। पद संघटना से ही इनका संबंध है। रीतियों का प्रसंगोचित प्रयोग काव्य में सौन्दर्य तो लाता है पर वही काव्य की आत्मा है, ऐसा मानना अतिवादी दृष्टिकोण है, अतः चला भी नहीं।

वक्रोक्ति संप्रदाय—कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में इस सम्प्रदाय की स्थापना की थी। यह सम्प्रदाय चाहे बहुत लोक प्रिय न रहा हो पर उसकी स्थापना बहुत ही सुदृढ भित्ति पर है। वैदग्ध्यभंगीभणिति, चमत्कार पूर्ण उक्ति, वक्र कथन ही वस्तुतः काव्य है। साधारण अभिधा में कही गयी बात और वक्रवाणी में कही गयी बात में ही साधारण वाक्य और सहृदयसंवेद्य वाक्य का अंतर होता है। जिस वाणी को सुनकर श्रोता शिरोघूर्णन को विवश हो जाए वही काव्य होता है। किसी ने ठीक ही कहा है :

किं काव्येन कवेस्तेन किं काण्डेन च धन्विनः।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः॥

कवि के काव्य और धन्वी के काण्ड की कसौटी यही है कि वह जिसके हृदय में लगता है, उसका सिर चकरा जाता है। निस्सदेह कुन्तक ने काव्य के सही तत्त्व को पकडा है।

औचित्य संप्रदाय—क्षेमेन्द्र का यह संप्रदाय इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक तत्त्व की यथोचित उपस्थिति होनी चाहिए। अति सर्वत्र वर्जयेत् का सिद्धान्त उचित है। काली कलूटी को अलंकारो से लाद दो तो अलकारों का मूल्य भी घट जाएगा और आकृति सुन्दर हो तो कोई भी अलकार फबेगा ही—किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्। जिस स्थान पर जिस शब्द का प्रयोग उचित है, उस पर उसी का प्रयोग हो तो चल सकेगा, उसके पर्याय का नही। कर, हस्त, हाथ और हथ पर्याय तो हैं पर क्या निम्नलिखित प्रयोगों मे पर्याय परिवर्तन उचित होगा: कर-कमल, हस्तकौशल, हाथघड़ी, हथकड़ी। आचार्यों ने कालिदास के कुमार संभव के एक प्रयोग की विवेचना की है: 'कपालिना भग्नमनोरथा सती' पाठ ठीक है या 'पिनाकिना भग्नमनोरथा सती' ठीक है, इसका विवेचन किया गया है। कुछ कहते हैं कि पिनाकी के पास ही शक्ति होती है किसी का कुछ बिगाड सकने की। कपाली भिखमंगा किसी का क्या बिगाडेगा। अतः 'पिनाकिना' पाठ ही ठीक है। दूसरा पक्ष कहता है और सही कहता है कि वेदना की उस तीव्रता की कल्पना कीजिए जब कपाली जैसा अकिंचन आपके सब मनोरथ मटियामेट करके धर दे। इस औचित्य सिद्धान्त के औचित्य को भी बहुत कम लोग समझ पाये। अनुयायी तो हुए ही नही। हम तो औचित्य को महत्त्व देते हैं।

ध्वनि संप्रदाय—आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर चिन्तन की धारा ही मोड़ दी। फिर भी स्वय श्रेय भी नही लिया—'बुधैर्यः समाम्नातपूर्वम्' कहा। निस्सदेह अक्षवाटों की घंटा ध्वनियो या तूर्य ध्वनियो से बहुत आगे चला गया है आचार्य आनन्दवर्धन। कहां वह स्थूल भौतिक ध्वनि और कहा यह अलौकिक ध्वनि। इस ध्वनि के मूल मे है शब्द की व्यंजना शक्ति, पर खेद है कि पीछे उद्धृत काव्य परिभाषाओं मे से किसी ने भी व्यंजना शक्ति का उल्लेख नहीं किया। वस्तुत काव्य का काव्यत्व इसी मे है कि उसमें व्यंग्यार्थ प्रधान होता है, वाच्यार्थ बहुत ही गौण होता है। काव्य के उत्तम, मध्यम आदि भेद करते हुए तो अनेक आचार्यों ने इस बात का उल्लेख किया है पर काव्य की परिभाषा में किसी ने इसे समाविष्ट नही किया। हम तो यही कहेंगे कि व्यग्यार्थ प्रधान पदावली ही काव्य है। उसी मे उक्ति वैचित्र्य होता है, उसी मे वक्रोक्ति होती है, उसी में वैदग्ध्यभंगीभणिति होती है। व्यंग्यार्थ को ही ध्वनि नाम दिया गया है। ध्वनियाँ

के अनेक भेद करके रस ध्वनि को सर्वोत्तम बताया गया है जिसकी चर्चा बाद में करेंगे। ध्वनि संप्रदाय बहुत परिपुष्ट संप्रदाय प्रमाणित हुआ। अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने उसका समर्थन किया। कुछ ने समझकर किया, कुछ ने बिना समझे ही अभिभूत होकर किया।

रस सम्प्रदाय—ध्वनि सम्प्रदाय से किसी प्रकार विरोध न रखते हुए भी यह सम्प्रदाय सबसे अधिक आचार्यों और कवियों को प्रिय हो सका यही इसकी विशेषता है। जैसे अक्षवाटों की ध्वनियों से ध्वनि सम्प्रदाय बहुत दूर चला गया था उसी प्रकार वहां के रस्से-रस्सियों से रस संप्रदाय बहुत दूर चला गया। एकदम सूक्ष्म भावों के प्रदेश में पहुंच गया। इसीलिए उसके सही स्वरूप को समझने के लिए आचार्य लोग बहुत सीमा तक असफल रहे। जैसे महिम भट्ट ने ध्वनि के अंतरंग तत्त्व को समझे बिना अपने तार्किक वाक्कौशल से ध्वस्त करने का निरर्थक प्रयास किया था वैसे ही इसके समर्थक आचार्यों ने ही इसको अस्त-व्यस्त कर डाला। रस तो वह आनंद है, वह तन्मयता है जो पाठक प्रेक्षक के मन को आंदोलित करती है। उसके शृंगारादि भेद-प्रभेदों का कोई महत्त्व नहीं है। वह वर्गीकरण तो केवल वर्ण्य विषय का वर्गीकरण है। पाठक-प्रेक्षक के आस्वाद का वर्गीकरण नहीं हो सकता। वह तो एक ही है जिसमें पाठक-प्रेक्षक तल्लीन हो जाता है और यह जानने के लिए आतुर हो जाता है कि इस काव्य की चरम अवस्था क्या है। जिन नायक-नायिकाओं को मैं अपने सामने सजीव मानव मान बैठा हूं उनकी भावी परिणति मेरी कामना के अनुरूप होती है या नहीं। इस तन्मयता के आठ या नौ या दस या बारह भेद करना निरर्थक बात है। वे भेद तो उस वर्णित प्रसंग के हैं जिसके प्रति तन्मयता उत्पन्न हो गयी है। अतः हम रसों के वर्गीकरण को कोई महत्त्व नहीं देते; साधारणीकरण का विवेचन अनावश्यक मानते हैं और रस-विरोध को भी बहुत महत्त्व नहीं देते। राजस्थान का भाट चारण कवि पति की चिता पर भस्म होने के लिए जाने वाली सती के नखशिख का वर्णन उसी शब्दावली से करता है जिससे कोई शृंगारी कवि करता है। इससे बढ़कर रस-विरोध का क्या प्रसंग होगा। एक तरफ धू-धू करती चिता और दूसरी तरफ छूम-छनन करती चंद्रवदनी नायिका। चारणी काव्य भरे हैं ऐसे रस विरोधों से। दूसरे ही क्षण आ जाता है अद्भुत रस। देवलोक की अप्सराएं खड़ी हैं; स्वागत में थाल लिए—उन वीरों और उन सतियों की पूजा के लिए और लग जाता है विष्णु का दरबार उनके स्वागत के लिए। तीसरे क्षण वही कवि राम का स्मरण कर कथा को समाप्त करता है तो शान्त रस की धारा बहा देता है। शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत और शान्त सब एक ही पृष्ठ में समा जाते हैं। नहीं होते हैं तो भयानक, वीभत्स, हास्य और रौद्र। अत: हमें रस विरोध की चर्चा रस भंग करती लगती है।

रसाभास भी एक ऐसा ही प्रसंग है। तिर्यंचादि के रत्यादि भाव रसाभास

जनक बताये गये हैं। क्रौंच वध से आदि काव्य की उत्पत्ति मानने वाले आचार्य रसाभास की बात कैसे कर बैठे ! हमें तो नैषध के हंस की वाणी ·

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेषजनस्तमर्दयन्नहो विधेत्वां करुणा रुणद्धि न ।।

में जो शक्ति दिखाई दी वह अन्यत्र बहुत कम मिलती है। पर अक्षवाट के आचार्यों को प्रणाम करके इस प्रसंग को यही समाप्त करते हैं। उनकी रचनाएं मिलें तो अनेक समस्याओं का समाधान हो जाए।

काव्येषु नाटकं रम्यम्

विगत अध्याय में भारतीय काव्य शास्त्र के विकास पर प्रकाश डाला गया था। नाटक या रूपक भी काव्य के दो भेदों—दृश्य और श्रव्य—में से प्रथम के अंतर्गत आता है। अतः रूपक और उसके प्रधान तत्व रस पर विचार हो चुका है। वहां यह भी बताया गया कि रस की चर्चा सर्व प्रथम नाट्यशास्त्र में हो हुई थी। परवर्ती आचार्य भी भारतीय नाट्य शास्त्र को सर्वोपरि प्रमाण मानते रहे। यह बात अलग है कि उसे ठीक से समझे बिना सभी टीकाकर अपनी-अपनी कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाते रहे। सरल भाषा में लिखे नाट्य शास्त्र को अपनी दुर्बोध व्याख्याओं से दुर्बोधतर बनाते गये। उन्हें प्रायः अभिनय या नाट्य का अनुभव नही होता था। केवल विविध दर्शनों और व्याकरण का ज्ञान होता था। अपने उसी पाण्डित्य के बल पर लम्बे-लम्बे भाष्य लिखते थे। वाग्विस्तार होता जाता और विषय दुर्बोधतर बनता जाता। यह बात हम केवल अपने मन से नही कह रहे हैं। यह तथ्य है। इसी को सिद्ध करने के लिए हम नाट्यशास्त्र पर पुनः विचार करेंगे।

भारत में नाटकादि का विकास कैसे हुआ, इस विषय मे विदेशी भारती विदों ने बहुत कुछ लिखा है। पर उन्हें तथ्य ढूंढने में रुचि कम होती थी; अपनी पहले से निर्धारित नीति को पुष्ट करने में अधिक होती थी। अतः अपनी निर्धारित प्रणाली के अनुसार आरंभ तो वेदों से करते थे पर फिर यास्क, पाणिनि, रामायण-महाभारत की बात करते-करते भारत के समग्र कला विकास का श्रेय यवनों को दे देते थे। नाटक की रंगशाला के प्रसंग में तो उन्हें एक शब्द 'यवनिका' भी मिल गया। अतः उनका काम सरल भी हो गया। इतना सरल तो महाभारत-रामायण की कथा निर्मिति को होमर की अनुकृति बताना भी नही था। इसलिए उनके लिए यह सरल था कि पहले वेदों में उपलब्ध कुछ संवादों से आरंभ करें; कठपुतली-यात्रा आदि की लोक परंपरा का उल्लेख करें और सार स्वरूप सारा श्रेय यवनों की यवनिका को दे दें। कीथ नामक संस्कृतज्ञ भारतीविद् ने तो संस्कृत नाटकों के विषय में एक पृथक् ग्रंथ ही रच दिया। इसलिए उसी की चर्चा

से हम भी आरंभ करना चाहते हैं। अब तक विदेशियों के निष्कर्षों की व्यापक चर्चा करके ही छोड़ते रहे हैं। सूक्ष्मता से किसी विद्वान के विचारों पर मनन नहीं किया। अतः विदेशी रसज्ञ और भाषाविद् रुष्ट हुए होंगे। अब वे संतुष्ट हो लें।

कीथ ने ऋग्वेद से आरंभ किया। हमें क्या आपत्ति है। भरत ने भी तो यही कहा कि ब्रह्मा ने चार वेदों से चार तत्व लिए और पांचवां वेद नाट्य वेद बना लिया जिसका आनंद शूद्र भी ले सकें। कीथ ने लिखा कि ऋग्वेद के दशम मंडल में यम-यमी का भावाविष्ट संवाद है। कीथ के अनुसार यमी ने अपने भाई यम को संभोग में प्रवृत्त करने के लिए पूरा यत्न किया पर वह यम का मन इस निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त होने के लिए न डिगा सकी। कीथ को शायद इस बात का खेद है कि मंत्र का अर्थ ऐसा ही लगता है। उस के बाद कीथ को उसी मंडल में पुरुरवा और उर्वशी का संवाद मिलता है। पुरुरवा चाहता है कि उर्वशी उसकी आंखों से ओझल ही न हो पर वह उसका आग्रह क्यों माने। वह ठहरी अप्सरा। एक के पास ही क्यों टिके। कीथ को एक संवाद अष्टम मंडल में भी मिलता है: नेम भार्गव और इन्द्र का। उसमें भार्गव एक प्रार्थना करता है और इन्द्र स्वीकृति देता है। कीथ को प्रथम मंडल में एक प्रहेलिकातुल्य दुर्बोध संवाद भी मिलता है जो तीन पात्रों के बीच है—ऋषि अगस्त्य, उसकी पत्नी लोपामुद्रा और उनका पुत्र। दशम मंडल में ही इन्द्र और वसुकर का अस्पष्ट आलाप है जिस में वसुकर की पत्नी भी आ धमकती है। चतुर्थ मंडल का इंद्र, अदिति और कामदेव का संवाद तो कीथ को बहुत ही भ्रान्तिपूर्ण लगता है। वह कहता है कि इसीलिए एक के बाद एक भाष्यकार उलझता चला गया यद्यपि अपने से पूर्ववर्ती भाष्यकार की भूल बताता गया है। हम तो बहुत पहले बता चुके हैं कि दिव्यदृष्टि के बिना भाष्यकार अंधेरे में ही लाठियां चलाते रह जाते हैं और विदेशी चोरों की तरह घुस कर अपनी बात मनवाने के लिए कल्पित प्रमाण उठा लाते हैं।

कीथ ने ऋग्वेद में ही पाया कि प्रायः संवाद में अनेक पात्र भी एक साथ हो जाते थे। वह दशम मंडल से ही उदाहरण देता है कि इन्द्र की भेजी हुई सरमा पणियों के पास इन्द्र का संदेश लेकर जाती है और उनसे गायें वापस देने का आग्रह करती है। कीथ के अनुसार सरमा-पणि वार्तालाप बड़ा सजीव है। दशम मंडल में ही उसे एक और प्रसंग मिलता है। उसमें देव गण अग्नि देव को मनाते हैं कि हव्य वाहन का कार्य मत त्यागो, हमारे लिए करते रहो। कीथ को यह प्रसंग अद्भुत लगा है। क्योंकि उसमें कहीं-कहीं तो एक ही मंत्र का पूर्वार्ध एक देव का वचन है तो उत्तरार्ध दूसरे का। फिर कीथ को दो ऐसे संवाद मिले हैं जिन में ऐतिहासिक संकेत भी हैं। एक है तृतीय मंडल में विश्वामित्र और नदियों का संवाद। दूसरा है सप्तम मंडल में वसिष्ठ का अपने पुत्रों से संवाद। प्रथम मंडल में इन्द्र का मरुतों के साथ संवाद भी मिला है जिसमें वृत्र के संग्राम में मरुद्गणों

के पलायन की इन्द्र भर्त्सना करता है पर मरुद्गण किसी प्रकार उसे संतुष्ट कर ही लेते हैं। एक पूर्व वर्ती मंत्र मे अगस्त्य बीच में कूदे लगते हैं जो संग्राम विजय का विवरण देते है और देवों का आमंत्रण करते है। इसी प्रकार विश्वामित्र नदी संवाद की भी समाप्ति इस बात से होती है कि नदियां भरतों को मार्ग दे देती है। चतुर्थ मंडल में एक ऐसा प्रसंग भी मिल गया है जहां इन्द्र और वरुण में अग्रताधिकार का विवाद होता है। कीथ को लगा है कि मंत्र द्रष्टा अपना मन्तव्य थोप रहा है यद्यपि उसका हस्तक्षेप अवांछनीय है।

यों कीथ को अनेक प्रसंग मिले है जहां उसे लगता है कि अभिनय का एक अंग संवाद उपस्थित है। वस्तु, नायक और रस तीन ही नाट्य तत्त्व मानने वाले भारतीय आचार्यों ने तो संवाद को उतना उल्लेखनीय माना नहीं पर कीथ यूरोप की समृद्ध नाट्य परंपरा और उसमें संवाद के गौरव को जानता है अतः उसी दृष्टि से व्यवस्था देता है। फिर कीथ को लगता है कि ब्राह्मण ग्रंथों के रचयिताओं को तो ऋग्वेद के इन सवादों का कुछ महत्त्व ही ज्ञात न था जो उनका कोई उपयोग करते। वह मानता है कि परवर्ती वैदिक वाङ्मय में तो यह तत्त्व ही मिट गया। पर फिर भी कीथ को अथर्व वेद में भी एक मंत्र मिलता है जिसमें होता अथर्वा देव से दक्षिणा रूप एक गाय की याचना करता है। देव पहले तो इच्छुक नहीं था पर बाद मे हो गया और उसने यथाप्रचित दक्षिणा तो दी ही सतत मैत्री का भी वचन दिया।

ब्राह्मण ग्रंथो और परवर्ती वैदिक वाङ्मय में सवादों के प्रति वितृष्णा देख कर कीथ को संतोष होता है कि पुरुरवा-उर्वशी संवाद के विषय में पांच शताब्द ईसा पूर्व के यास्क और शौनक में मत भेद स्वाभाविक है। यास्क के अनुसार वह संवाद है तो शौनक के अनुसार उपाख्यान। सायण के समय तक तो यज्ञ मंडप में ऐसे मंत्रों का कोई स्थान ही नहीं रह गया था। बस ऋग्वेद के दशम मंडल का एक सूक्त (86) अपवाद था पर उसमें भी तो संवाद तत्त्व नगण्य है क्योंकि तीनों ही पात्र संवाद कम करते हैं, पहेलियां अधिक बुझाते हैं। इसीलिए यज्ञ मंडप में इसका उपयोग हो सका है। इस पर कीथ का निष्कर्ष है कि इन में उस कोटि का काव्य तत्त्व है जो परवर्ती वैदिक वाङ्मय में अदृष्ट है। इस निष्कर्ष के बाद कीथ मैक्समूलर का सहारा लेता है और लिखता है कि मरुत्-इन्द्र संवाद यज्ञ के समय अभिनीत होता था। यों मरुद् गण सम्मानित किये जाते थे। इसमें दो दल होते थे। एक दल इन्द्र का अभिनय करता था, दूसरा मरुद्गणों तथा सदनुयायियों का। इस मान्यता की पुष्टि प्रो० लेवी ने भी की और यह तर्क भी दिया कि सामवेद से प्रकट है कि वैदिक युग में भी संगीत की कला समुन्नत थी। यही नहीं ऋग्वेद में ऐसी सुन्दरियों का उल्लेख है जो पुरुषों पर मोहनास्त्र चलाती थीं, क्रीड़ा करती थीं और नृत्य करती थीं। यही नहीं, अथर्ववेद के अनुसार तो

पुरुष भी गाते और नाचते थे। यों मैक्समूलर और लेवी के मतों को उद्धृत करके कीथ मानता है कि ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टाओं को नाट्याभिनय का एक रूप ज्ञात था जो धार्मिक स्वरूप का था। उसमें होता, अध्वर्यु आदि स्वर्ग की घटनाओं की अनुकृति करते हुए देवो और ऋषियों की भूमिका करते थे।

यों वैदिक साहित्य के संवादों में अभिनय तत्व ढूढते-ढूंढते कीथ अपने सही रूप में आ जाता है। अर्थात् यह बताने को उद्यत हो जाता है कि यह सब केवल भारत के आर्यों की निधि नहीं है, यह तो उस मध्य एशिया वासी आर्य जाति रूपी क्षेत्र में बिखरे बीजों का परिणाम मात्र है जिस पर यूरोप के आर्यों का भी उतना ही अधिकार है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए वह वौन स्क्रूदेर को उद्धृत करता है जिसके अनुसार संवादों और एकालापों मे विशेषकर दशम मंडल सू० 119 में जो इन्द्र अपने प्रिय सोम के पान से मत्त हो कर यशस्वी होता है, वह वैदिक रहस्यात्मकता का ही सकेत है और वह सकेत है उस दाय का जिसका बीज भारत-यूरोपीय सस्कृति में आदि काल से निहित था। वौन आगे कहता है कि यद्यपि हमे ऋग्वेद में शिश्न नृत्यों का उल्लेख नही मिलता जो यवनान और मैक्सिको में 'रूपक' के मूल माने जाते हैं पर उमका कारण यह था कि ऋग्वेद के याज्ञिक संयमी थे और शिश्नपूजा के विरोधी थे। यों धार्मिक कृत्यों के अभिनय-प्रयोग अभिनय विकास की उस मुख्य धारा से कटे हुए हैं जो वस्तुतः लोकधारा है, जो सहस्रों वर्षों से प्रवाहित हैं और बंगाल की यात्राओं में किसी न किसी रूप मे सुरक्षित है। हां, यज्ञो से सम्बद्ध वैदिक अभिनय आज लुप्त हो चुका है।

डा० हर्तेल गीतगोविन्द से साम्य रखने वाला तत्व सुपर्णाध्याय में ढूंढ निकालता है। उमके अनुसार वैदिक अभिनय ही सुवर्णाध्याय मार्ग से होता हुआ वंगीय यात्राओं तक पहुंच गया। ऐसे विद्वान् यम-यमी संवाद को प्रजोत्पादन का अभिनय मानते हैं। इसी प्रकार इन्द्रविजय पर मरुतों के नृत्य के विषय में कहा गया है कि वह तो उस शस्त्र नृत्य की स्मृति मात्र है जो वर्षान्त में शीत की समाप्ति, अन्य शब्दों में मृत्यु की समाप्ति, के हर्ष मे किया जाता था और जिस पर संसार के अन्य अनेक अभिनय भी आधारित हैं। यथा : रोम का सलाइ नृत्य, यवनान का कौरीतिस नृत्य, फ्रीजी का कोरी बान्तें नृत्य और जर्मनी का असि नृत्य। इसी तरह यूरोपीय विद्वानों का मत है कि इस संपूर्ण परिप्रेक्ष्य को समझे बिना केवल वैदिक मंत्रों के बल पर निर्णय करना अनुचित है। हमें तो समझ मे नही आया कि जब किसी निर्णय पर नही पहुंचाना या तो यह सब वागाडंबर क्यो किया? इसके पश्चात् व्याकरण, रामायण- महाभारत आदि में अभिनय की चर्चा कोई पच्चीस पृष्ठों में करके कीथ भारतीय नाट्य पर यवन प्रभाव की चर्चा करने लगता है। वह वेबर का मत बताता है जिसके अनुसार भारत में उपलब्ध साधनों के भरोसे तो सच्चे नाट्य का विकास संभव ही नहीं था। अतः निश्चय

ही इसका आधार है यवनान के साथ हुआ भारत का संपर्क। यवन बाक्त्रिया, पंजाब और गुजरात के राजाओं की सभाओं मे अभिनय करते थे। अभिनय ही नहीं, यवन संस्कृति, यवन सभ्यता और यवन सेनाओं का भारत में एक साथ ही प्रवेश हुआ था। बाद में जब पाणिनि, महाभाष्य आदि में भी अभिनय कला का उल्लेख मिला तो वेबर उतने शेर तो नहीं रह सके पर फिर भी यह आग्रह तो रहा ही कि अभिनय कला को यवनान की देन बहुत मूल्यवान् है। फिर विंडिश ने कहा कि मैं बताऊंगा, कैसे भरत के नाट्य पर विदेशी प्रभाव पड़ा। उसने 'नट' शब्द को लिया और कहा कि यह तो 'नृत्' का ही प्राकृतीकरण है और इसलिए उसका काम नाचना मात्र था। अतः उसका कहना है कि महाभाष्य आदि में उल्लिखित नाटक और परवर्ती श्रेष्ठ नाटक एक से नहीं है। महाभाष्य वाले नृत्य भर थे। परवर्ती सुविकसित अभिनय-कला-संपन्न रूपक हैं। यह सम्पन्नता तभी संभव हुई जब यवनों की कृपा हुई। अन्यथा कहां संभव था!

आगे बताया गया कि सिकन्दर अभिनय का शौकीन था। वह अपने साथ अनेक कलाकार लाया था। यात्रा के बीच-बीच में रुक कर अभिनयों का आनंद लेता था। 'एकबाताना' में तीन हजार यवन कलाकार थे जो सीधे यवनान से आये थे। फारस, जीड्रेशिया और सूसा के लोग यूरीपिदे-और सोफोकले के नाटक देखते थे। भारत के ब्राह्मण भी उनमें रुचि ही नहीं लेते थे, उनकी जानकारी से अपने को गौरवान्वित भी मानते थे। अतः यूरोपीय विद्वानों का निष्कर्ष है कि भारत मे अभिनय कला का जो भी विकास हुआ वह सब यवनान की कृपा का परिणाम है। उनका कथन है कि माना कि यहां जो यवन अभिनय हुए थे उनका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता फिर भी यह तो मानना ही होगा कि जब यहां यवनों का राज्य रहा है तो नाट्य भी उन्हीं से सीखा होगा। इसमें संदेह या आश्चर्य कैसा ? जिन यवन शासकों ने यहां इतने सुन्दर-सुन्दर सिक्के चलाए उन्होंने क्या नाटक-वाटक नहीं चलाये होंगे? विंडिश ने कहा कि 340 से 260 ईसा पूर्व की अवधि में नव ऐटिक सुखान्तिका का बोलबाला रहा, और वही भारतीय नाट्य पर प्रभाव का उद्गम माना जाना चाहिए। यदि कोई कहे कि पूर्वी विश्व के नाट्य वाङ्मय में 'नव सुखान्तिका' का उल्लेख नहीं मिलता तो इस नगण्य से तर्क का कोई महत्व नहीं है। वह ऐसा काल था जब यवनान और पूर्व के मध्य भारी संपर्क था, व्यापारिक आदान-प्रदान था, सांस्कृतिक अन्योन्याश्रय था और परस्पर सुखद संबंध थे। सार यह कि भारतीय नाटक पर यवन प्रभाव था ही। भारतवाले भी पांच अंकों के नाटक बनाते थे। यह रोमवालों का ही अनुकरण था। यवनिका तो है ही यवनान की देन।

'यवनिका' सीधे यवनान से भारत आई, यह बात लेवी को कम जंची थी। उसका कहना था कि यवन अपने देश का कपड़ा कहां तक लिये फिरते। वे तो

ईरान की 'पटी' लादकर भारत ले आते थे और भारत के लोग यवनों और उनके जहाजों से प्राप्त माल को यवन आयात मान कर खरीद लेते थे। फिर उसने कहा कि राजा की अंग रक्षिकाओं के रूप में वर्णित यवन कन्याओं से भी यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि वह यवन प्रभाव था क्योंकि यवनान के नाटकों में तो वैसी अंगरक्षिकाएं हैं ही नहीं।

विंडिश अड़ा था कि भारत के नाटकों की तो कथावस्तु ही यावनी है। यवन नाटकों का अभिज्ञान चिह्न वाला तत्व ही तो भारत में आया होगा। तभी तो अभिज्ञान शांकुतलम् में 'अंगुलीयक' है; विक्रमोर्वशीयम् मे 'संगममणि' है; रत्नावली में 'कंठाभरण' है, नागानंद मे 'आकाशपतित मणि' है। मालती माधव-में मालती माधव की दी हुई माला धारण करती है जो उसका अभिज्ञान चिह्न बनती है। मृच्छकटिकम् में मिट्टी की गाडी में 'रत्न' धरे हैं जो नायक के विरुद्ध साक्ष्य बनते हैं। मालविकाग्निमित्र का विदूषक सर्पविष निवारक 'मणि' पाता है और उससे मालविका को छुडाता है; विक्रमोर्वशीयम् में 'आयु का वाण' ही पुरुरवा के पुत्र का रहस्य उद्‌घाटित करता है; मुद्राराक्षस मे 'राक्षस की मुद्रा' का दुरुपयोग होता है। विंडिश के अनुसार ये सब यवन नाटको की अनुकृति हैं। यही नहीं मालविका का अपहरण और रत्नावली की समुद्र से प्राप्ति की कथा भी नायिका रुडेन्स के अपहरण और उसके लीनो को बेचे जाने, सिसिली के तट पर पोत भग होने और उसके बचपन के आभूषणों से पहचाने जाने की कथा की अनुकृति मात्र है।

कीथ कहता है कि विंडिश के बताये हुए ये साम्य तो विलक्षण हैं और यदि इन्हें नकारना हो तो हमें यह लक्षण भारत के उस वाङ्मय में ढूढ़ने होंगे जो यवनों के आने से पूर्ववर्ती हो। पर विदेशी विद्वान् तो ऐसे चतुर हैं कि यवनों के आगमन से पूर्ववर्ती भारतीय सरस साहित्य तो मानते ही नहीं। पुराना यदि कुछ होगा तो संहिताएं, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हो सकते हैं। उनमें यह सब कहां? रामायण-महाभारत तो परवर्ती है ही। महाभारत तो यवनों का भरपूर उल्लेख करता है और रामायण का कवित्व इस बात का साक्षी है कि उसमें महाभारत की अपेक्षा अधिक विकसित भाषाई रूप है अतः वह परवर्ती है ही। विंडिश मृच्छकटिक को तो पूर्णतः यवन अनुकृति मानता है। वह कहता है कि नाम तो पूरी तरह सिस्टेलेरिया (लघु पेटिका) और आलुलेरिया (लघु पात्र) का अनुकरण है; नाटक में वर्णित राजनैतिक षड्यन्त्रों में प्लौतस् के 'एपिदिकस्' और 'कैप्तिवि' की समकालीन राजनीतिक घटनाओ की अनुकृति है; अपनी प्रिया दासी को मुक्त करवाने के लिए शर्विलक द्वारा की गयी चोरी 'नव-सुखान्तिका' के नायक द्वारा अपनी प्रेमिका को पाने के लिए अपनाये गये अनुचित साधनों की अनुकृति हैं, चारुदत्त और वसन्तसेना का मिलन वैसा ही है जैसा

'मिस्टेलेरिया' के नायक और नायिका का समागम; वसन्तसेना द्वारा अपनी दासी की मुक्ति वैसी ही है जैसी यवन नाटकों में किसी नारी की मुक्ति। और अन्त में वसन्तसेना को विवाह योग्य देवी मानकर चारुदत्त द्वारा उसका स्वीकरण और कुछ नहीं, यवन नाटकों में नायक की हीनतर जाति की प्रेयसी का भी नायिका पद पा जाना है। विंडिश तो यहां तक कहता है कि यदि भारतीय नाटक की राजमहिषी अपने उदात्त चरित्र पति से प्रेम करती है तो यह रोमन सुखान्तिका की 'मात्रोना' की अनुकृति है और यदि वह अपने पति के परकीया प्रेम में बाधक बनती है तो 'सेनेक्स' के यत्नों की अनुकृति है जिसमें वह अपने अविमृश्यकारी पुत्र को विवाह से विरत करने का यत्न करती है। विंडिश ने विट, विदूषक और शकार की तुलना यवन नाटक के 'पैरासाइट', 'सर्वस करेन्स' और 'मिलेस ग्लोरियोसस्' से की है जिसे कीथ भी परिपुष्ट प्रमाण और प्रबल तर्क मानता है। वह तो यहां तक कहता है कि विट, विदूषक और शकार के अतिरिक्त सूत्रधार और उसके सहायक—स्थापक या पारिमार्श्विक का भी उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में है जो स्पष्टत: यवन नाटक के पांच नर पात्रों से पूर्णत: तुलनीय है। यह भी सच है कि कालिदास, शूद्रक और भास में तो शकार है पर वह परवर्ती नाटकों मे लुप्त हो जाता है; विट भी बाद में नगण्य हो जाता है जो इस बात का प्रमाण है कि यवन नाटकों से गृहीत ये तत्व भारतीय वातावरण के अनुरूप न होने के कारण बाद मे लुप्त हो गये।

सार यह कि जब भरत का नाट्य शास्त्र ही यवनान के नाटकों का अनुकरण मात्र है तो उसके आधार पर बने नाटकों की तो बात ही क्या? भारतीयों के बस का कहां था नाटक-वाटक की कल्पना करना?

मैं इन विदेशी विद्वानो के तर्कों के उत्तर देने की रंच मात्र भी चिन्ता नहीं करता। जो भारतीय विद्वान् उन विदेशी वाचस्पतियो की पूजा करना चाहते हैं वे अवश्य विधि-विधान से करें, मैं बिलकुल नही रोकूंगा। मैं तो इन बेतुके तर्कों को तर्काभास भी मानने को तैयार नहीं। अत: इनके विषय मे एक शब्द भी लिखना अनावश्यक समझता हूं।

आप पूछेंगे फिर आपने ये पांच पृष्ठ क्यो रंगे? वे इसलिए कि अब तक मैंने विदेशियों की स्थापनाओ का विधिवत् उल्लेख ही नही किया था अत: पाठक सोचते होंगे कि मैंने जान बूझकर उनके मतों का उल्लेख छिपाया और पाठकों के साथ अन्याय किया। अब जो मुझसे सहमत हैं कि ये तर्क विचार योग्य ही नही है वे आगे के पृष्ठ पढ़ें, जो समझते हैं कि मैं विद्वानों की स्थापनाओं को छिपा रहा हू, वे आगे न पढ़ें। मैं तो ऐसे कुतर्कों के जाल में फंसूंगा नही। मुझे तो ये प्रथम दृष्ट्या परम हेय और त्याज्य लगते हैं। मैं तो भरत के नाट्य शास्त्र को भी उसी के शब्दों में ब्रह्मा और शिव का प्रसाद मानता हूं पर उसके अलौकिक

तत्व की लौकिक व्याख्या अवश्य करता हूं। वह व्याख्या मेरी दृष्टि से तर्क की तुला पर सही उतरती है। मेरा विश्वास है कि भारत में ईसा से चार-पांच हजार वर्ष पूर्व भी रामलीला अभिनीत होती थी, रासक्रीड़ा की जाती थी, इन्द्रवृत्त के संघर्ष का चित्रण करने वाले नाटक अभिनीत होते थे, उनके अभिनेता भरत वंशी या भरत शिष्य 'भारत' कहलाते थे, उन नाटकों की कथा वस्तुओं के संग्रह 'भारत कथा' कहलाते थे और ऐसे अनेक संग्रह मिलकर जब विशाल आकार पा गये तो 'महाभारत' संज्ञा के अधिकारी हो गये। मेरी दृष्टि में उसका वक्ता 'सूत' 'सूत्रधार' का ही मूल प्राकृत रूप है। सारे पुराण भी सूत-प्रोक्त हैं। उनकी कथाओं के भी अभिनय होते थे। पर ये सब कथाएं मूलतः प्राकृतिक तत्वों का मानवीकरण करके बनायी गयी थीं। उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं था, उसके माध्यम से ज्ञान का प्रदान भी था। नाट्य शूद्रों के लिए निर्मित क्रीडनीयक मात्र नहीं है, वह तो क्रीडा के व्यपदेश से चारों वेदों मे निहित ज्ञान का प्रसार-प्रस्तार करता है। नाट्यशास्त्र का प्रवर्तन करने वाला ब्रह्मा स्पष्ट कहता है—वेद तो स्त्रियों और शूद्रों को सुनने पर समझ में नहीं आयेंगे; अतः मैं नया पांचवां वेद बनाऊंगा जिसे सुन कर वे भी समझ जाएंगे। उसमें धर्म, अर्थ, यश सभी का उपदेश होगा, सार-संग्रह होगा, लोक में करणीय सभी कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का अनुदर्शन होगा, सब शास्त्रों का अर्थ निहित होगा, संपूर्ण शिल्प और कलाओं का प्रवर्तन होगा; और यह इतिहास के अर्थात् पौरुषीकरण के प्रतीकों के माध्यम से होगा। ऐसा होगा पांचवां नाट्य वेद।

नेमे वेदाः यतः श्राव्याः स्त्रीशूद्राद्यासु जातिषु।
वेदमन्यत्ततः स्रक्ष्ये सर्वश्राव्यं तु पंचमम् ॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्य च सोपदेश्यं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शनम् ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
नाट्याख्यं पंचमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥

अति स्पष्ट है कि नाट्य क्रीडनीयक मात्र नहीं है; वह तो सर्वशास्त्र संपन्न और सर्व शिल्प संपन्न भी है। वह तो पांचवां वेद है जिसमे चारों वेदों का सार सन्निविष्ट है। इस वेद के प्रचार का काम करते हैं, भरत, भारत और सूत्रधार। सूत्रधार ही 'कइरु नट' है अर्थात् रस्सी पर चलने वाला। उसी का संस्कृतीकृत रूप 'कारुनट' है। 'कइरु' का अर्थ-'रस्सी' और 'नट' का 'चलना' है। ये द्रविड भाषा के शब्द हैं। (नाट्य का प्रवर्तन साधारण जन-समाज के लिए हुआ था अतः उसमें लोक भाषा के प्रयोग, लोक संगीत, लोक नृत्य भी स्थान पा सके हैं।

इतिहास पुराणानां पंचमो वेद उच्यते—अर्थात् इतिहास (महाभारत) और

पुराण मिलकर पांचवां वेद बनता है। इस उक्ति और नाट्यवेद के पंचम वेद होने के दावे में हमें कोई विरोधाभास नहीं प्रतीत होता। हम तो पहले ही बता चुके है कि महाभारत और पुराणों में भरतों द्वारा अभिनेय नाटकों ही के कथानक हैं। यही दोनों कथनों की संगति है। महाभारत का प्रवक्ता 'सूत' है, श्रोता या बोद्धव्य अनेक स्थलों पर 'भारत' है, जो भरत का अभिनेता पुत्र ही है। यदि ऐसा न होता तो एक को पांचवां वेद और दूसरे को छठा वेद भी तो बताया जा सकता था।

हम पहले बता चुके हैं पर फिर भी बतायेंगे क्योंकि यह नयी स्थापना है अतः बार-बार पुनरुक्ति करके हृदयंगम कराना आवश्यक समझते हैं कि रामायण-महाभारत-पुराण वाङ्मय की रचना मूलतः दक्षिण सागर तटीय क्षेत्र की भाषाओं में ही हुई थी, उसी प्रकार जिस प्रकार वड्ढ कहा की रचना पिशाचक प्रदेश की लोक भाषा में हुई थी। जिस प्रकार 'वड्ढकहा' के केवल संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध है उसी प्रकार रामायण-महाभारत-पुराणों के भी संस्कृत रूपान्तर ही मिलते है। जिस प्रकार बृहत्कथा मंजरी आदि में अन्य पुरुष में बताया गया है कि किस प्रकार और किन परिस्थितियों में गुणाढ्य ने अपनी रचना की, इसी प्रकार रामायण-महाभारत आदि में भी अन्य पुरुष में स्पष्ट बताया गया है कि वाल्मीकि-व्यास ने किस प्रकार किन परिस्थितियों में आदि काव्य (रामकथा) और जयकाव्य का गायन किया था। यह स्पष्ट खटकता है कि यदि नारद और ब्रह्मा से चर्चा के पश्चात् ही वाल्मीकि ने रचना की तो यह 'चर्चा-कथा' किसने जोड़ी। यदि सूत ने और वैशंपायन ने उसी कथा को सुनाया जिसे व्यास ने 'महाभारत' के रूप में रचा था तो यह भूमिका किसने लिख दी। हमारा उत्तर है कि ये भूमिकाएं संस्कृत संस्करण तैयार करने वालों ने उसी प्रकार जोड़ी जिस प्रकार सोमनाथ और क्षेमेंद्र आदि ने 'वड्ढकहा' के विषय में जोड़ी।

अब पाठक आश्वस्त हो गये होंगे कि हम अपने कथन के प्रमाण स्वरूप विदेशी विद्वानों को क्यों नहीं उद्धृत करते। जिनका उद्देश्य तथ्यों का उद्घाटन था ही नहीं, जो भारतीयों को उन्हीं की आंखों में नीचा दिखाने के उद्देश्य से लिखते थे, ऐसे उद्देश्य-भ्रष्ट लेखकों को प्रमाण कैसे मान लें। मैं अब भरत के नाट्य शास्त्र के प्रथम अध्याय के प्रत्येक श्लोक का सार यहां दूंगा जिसमें नाट्य वेद की उत्पत्ति की पूरी कथा है, भरत के तथाकथित व्याख्याताओं-भाष्यकारों की समीक्षा करके यह बताने का यत्न करूंगा कि नाट्यशास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ दर्शनशास्त्र के आचार्य जब नाट्यशास्त्र की व्याख्या पर उतारू होते हैं तो सहज परिणाम क्या होता है और तब इस बात पर प्रकाश डालूंगा कि नाट्यशास्त्र की कथा का लौकिक अर्थ क्या हो सकता है? प्रथम अध्याय इस प्रकार है :—

पितामह (ब्रह्मा) और महेश्वर (शिव) को शिरसा प्रणाम करके मैं उस

नाट्यशास्त्र का प्रवचन करूंगा जिसे ब्रह्मा ने उदाहृत किया था। व्रती भरत जब अनध्याय (अवकाश) के समय अपने पुत्रों से घिरा बैठा था तो उस नाट्य कोविद के पास आत्रेय-प्रमुख महात्मा और नियतेन्द्रिय बुद्धि मुनि आकर बैठ गये और पूछने लगे—भगवन्, आपने यह जो वेद सम्मत नाट्यवेद ग्रथित किया है, वह कैसे और किसके लिए उत्पन्न हुआ ? इसके कितने अंग हैं, क्या प्रमाण है, और इसका प्रयोग कैसा है ? यह सब यथावत् बताने की कृपा कीजिए (1-5) उन मुनियों का वचन सुनकर भरत मुनि नाट्यवेद कथा विषयक यह प्रत्युत्तर वचन बेले—आप लोग शुद्ध मन होकर, अवहितचित्त होकर इस ब्रह्मा रचित नाट्यवेद की उद्‌भव कथा सुनें। (6-7) (जो इस प्रकार है)—

विगतकाल में स्वायंभुव मन्वन्तर में कृत युग के बीतने पर और वैवस्वत मन्वन्तर में त्रेता युग के प्राप्त होने पर जनता ग्राम्यधर्म में प्रवृत्त हो गयी, काम और लोभ के वश में हो गयी, ईर्ष्याक्रोध जैसी वृत्तियों से मूढ हो गयी तो सुख और दुःख दोनों होने लगे। लोकपाल प्रतिष्ठित जम्बू द्वीप देव-दानव-गधर्व-यक्ष-राक्षस-उरगों से समाक्रान्त हो गया तो महेन्द्र प्रमुख देवों ने ब्रह्माजी (पितामह) से निवेदन किया कि हमें ऐसा क्रीडनीयक चाहिए जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी। यह वेद व्यवहार तो ऐसा है नही जिसे शूद्र सुनकर समझ सकें। इसलिए ऐसे पांचवें वेद की रचना कर दीजिए जो सभी वर्णों के काम का हो। (8-12) 'ठीक है' कहकर तत्वविद् ब्रह्मा ने देवराज को विदा कर दिया और स्वयं योगस्थ होकर चारों वेदों के स्मरण में लगे। (फिर सोचा) कि स्त्री-शूद्र आदि इन वेदों को तो सुनकर समझेंगे नही अत: इनसे भिन्न पांचवें वेद की रचना करूंगा जो धर्म्य, अर्थ्य, यशस्य, सोपदेश सार-संग्रहयुक्त और भावी प्रजा के लिए भी कर्म के पथ का दर्शक होगा तथा जिसमे सभी शास्त्रों का तात्पर्य निहित होगा तथा जो सभी शिल्पों का प्रवर्तक होगा। वह इतिहास समन्वित (अर्थात् ज्ञान विषयों के मानवीकरण से युक्त) भी होगा। (13-15)

यों संकल्प करके भगवान् ब्रह्मा ने सभी वेदों का स्मरण करके उन चारों के अंगों से नाट्यवेद उत्पन्न किया। उसने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्व वेद से रस लिया। यों सर्ववेत्ता भगवान् ब्रह्मा ने वेदोपवेदों से सम्बद्ध नाट्यवेद की सृष्टि की। (16-18)

ब्रह्मा ने नाट्यवेद को उत्पन्न करके देवराज इन्द्र से कहा—मैंने (ज्ञान का मानवीकरण करके) इतिहास तो बना दिया है, अब इसका प्रयोग देवों से करवा दो। जो देव विदग्ध, कुशल, प्रगल्भ और श्रमशील हैं उनमे नाट्यवेद का संक्रमण करवा दो (अर्थात् उनसे अभिनय करवाओ)। ब्रह्मा के कहे उस वचन को सुनकर इन्द्र प्रांजलि-प्रणत होकर ब्रह्माजी से बोला कि हे भगवन्, देव तो इस नाट्य कर्म के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग सभी में अशक्त और अयोग्य हैं। इसके

ग्रहण, प्रयोग और धारण में तो वेद-रहस्य के ज्ञाता और संशितव्रत ऋषि ही समर्थ हैं। इन्द्र का वचन सुनकर कमल योनि ब्रह्मा ने मुझ (भरत) से कहा कि हे मनघ, अपने सौ पुत्रों के साथ तुम्हीं इसके प्रयोक्ता बन जाओ। यों ब्रह्माजी से नाट्यवेद सीख कर, उन्हीं की आज्ञा से मैंने उसे तत्व (सिद्धांत) और प्रयोग (व्यवहार) दोनों ही के माध्यम से अपने पुत्रों को पढ़ाया। (19-25) [आगे श्लोक संख्या 26 से संख्या 39 के पूर्वार्ध तक सौ पुत्रों के नाम हैं।] इन सौ पुत्रों को पितामह की आज्ञा से और लोक में गुण-प्रचार की ईप्सा से मैंने यथोचित भूमिका में लगाया—जो जिस कर्म के योग्य था उसे उसी में योजित किया। हे विप्रो, यों मैंने भारती-सात्वती-आरभटी वृत्तियों पर समाश्रित प्रयोग (अभिनय) प्रयुक्त किया। यह सब करके मैंने प्रणतिपूर्वक ब्रह्माजी को विज्ञापित किया तो उस सुर-श्रेष्ठ ने मुझ से कहा कि कैशिकी वृत्ति की भी योजना करो। उसके लिए आवश्यक वस्तुएं भी, हे द्विजवर, मांग लो। जब ब्रह्मा ने यह कहा तो मैंने उत्तर दिया कि हे भगवन्, तो फिर कैशिकी में संप्रयोज्य वस्तुएं दीजिए। यह वृत्ति तो नृत्त और अंगहार से संपन्न है तथा रस क्रिया और भाव क्रिया से युक्त है। मैंने तो भगवान् नीलकंठ के नर्तन करते समय ही कैशिकी के दर्शन किये हैं जिसमें छोटा-सा नेपथ्य होता है और जो शृंगार रस से संभूत होती है। उसका प्रयोग तो पुरुषों के लिए अशक्य है, केवल स्त्रियां कर सकती हैं। तब तेजस्वी विभु ने अपने मन से ही कोई दो दर्जन अप्सराएं (नाम 47-50) उत्पन्न कीं जो नाट्यालंकार में चतुर थीं और मुझे सौंप दीं। फिर स्वयंभू ने स्वाति को भाण्ड में नियुक्त किया और नारदादि गंधर्वों को गान के लिए नियुक्त किया। यों पुत्र सहित मैं इस नाट्य को सम्यक्तया समझकर ब्रह्माजी के पास गया जो वेदों और वेदांगों के कर्त्ता हैं। मेरे साथ स्वाति और नारद भी गये। तब मैंने हाथ जोड़ कर ब्रह्माजी से प्रयोग के विषय में निवेदन किया कि मैंने नाट्य का ग्रहण तो कर लिया, अब बताइये क्या करूं। (31-53)। यह वचन सुनकर पितामह ने उत्तर दिया—'प्रयोग का महान् अवसर आ गया है। श्रीमान् महेन्द्र (देवराज) का ध्वज महोत्सव चल रहा है। उस अवसर पर इस नाट्य वेद का प्रयोग करो।' (53-55)।

यों असुरों-दानवों के मारे जाने पर किये गये इस ध्वजमह में, जहां देव समूह प्रहृष्ट था और महेन्द्र की विजय का उत्सव हो रहा था, मैंने पहले तो आशीर्वचनयुक्त नांदी की जो आठ अंगों और चरणों से युक्त तथा नाट्यवेद प्रोक्त और विचित्र थी। नांदी के पश्चात् मैंने उस कथा की अनुकृति प्रस्तुत की जिसमें देवों ने दैत्यों पर विजय पायी थी। इस अभिनय में संफेट, विद्रव, छेद्य, भेद्य और आहव समाविष्ट थे। इस प्रयोग से ब्रह्मादि देव परितुष्ट हुए। उन्होंने प्रसन्न होकर मेरे पुत्रों को सभी प्रकार के उपकरण दिये। (55-50) (विवरण इस प्रकार है :—) प्रसन्न हुए इन्द्र ने अपना शुभ ध्वज ही दे दिया। ब्रह्मा ने कुटिल दिया, वरुण ने

शुभ भृंगार दिया, सूर्य ने छत्र दिया; शिव ने सिद्धि दी, वायु ने व्यजन (पंखा) दिया, विष्णु ने सिंहासन दिया, कुबेर ने मुकुट दिया, सरस्वती देवी ने श्रवणीयता और प्रेक्षणीयता दी; अन्य जो देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पन्नग उस सभा में थे उन्होंने यथाभिप्रेत नाना जाति गुणाश्रित अंशांशभाषित, भाव, रस, रूप और बल दिये। मेरे पुत्रों को देवों ने प्रहृष्ट होकर ये सब वस्तुएं दीं। (59-63)।

यों जब दैत्य-दानव-विनाश का अभिनय आरंभ हुआ तो वहां आये हुए सभी दैत्य क्षुब्ध हुए। वे विरूपाक्ष प्रभृति विघ्नों को प्रोत्साहित करके बोले कि आ जाओ हम इस नाट्य को सहन नहीं करेंगे। तब उन असुरों के साथ विघ्न भी माया में प्रवृत्त हुए और वाणी, चेष्टा, स्मृति, नृत्यता आदि को स्तंभित करने लगे। तब सूत्रधार का विध्वंसन देखकर देवराज सोचने लगा कि यह प्रयोग वैषम्य क्यों। तब वह ध्यान मग्न हो गया। तब उसने देखा कि नाट्य सभा सब तरफ से विघ्नों से घिरी थी। सूत्रधार अन्यों के साथ संज्ञाहीन जड़वत् पड़ा था। तब इंद्र ने शीघ्र उठकर उत्तम ध्वज उठाया। उस समय उसका शरीर रत्नों से चमचमा रहा था। उसके नेत्र किंचित् उद्वृत्त थे। देवराज ने अपने जर्ज्जर से रंगपीठ पर आये हुए विघ्नों तथा असुरों के देह जर्जर कर दिये। यों जब संपूर्ण विघ्न दानवों सहित नष्ट हो गये तो सभी देवगण प्रहृष्ट होकर बोले—अहो! आपने यह अच्छा दिव्य प्रहरण प्राप्त किया है। इससे तो असुरों सहित समस्त विघ्न ही जर्जर हो गये हैं। अतः इसका नाम जर्जर ही रहेगा। अन्य जो भी हिंसक हिंसा के लिए आयेंगे वे भी जर्जर को देखते ही भाग जायेंगे। तब इन्द्र देवों को बोला कि ठीक है, ऐसा ही होगा। भविष्य में यह जर्जर सबका रक्षक रहेगा। (64-75)

यों इन्द्रमह के पुनः आरंभ होने पर जब अभिनय प्रस्तुत किया गया तब शेष बचे विघ्न नृत्य में त्रास उत्पन्न करने लगे। दैत्यों के विप्रकार से उत्पन्न विघ्नों को देखकर मैं सभी पुत्रों को साथ लेकर ब्रह्माजी के पास गया और बोला—हे देवाधिदेव, इस नाट्य के विनाश के लिए निश्चय ही विघ्न आयेंगे अतः इनसे रक्षा की विधि बताने की कृपा करें। यह सुन ब्रह्मा जी ने विश्वकर्मा से कहा—हे महा-मति, प्रयत्न पूर्वक ऐसा नाट्य वेश्म (रंगशाला) बनाओ जो लक्षणोपेत हो। तब विश्वकर्मा ने अतिशीघ्र महाशुभ और लक्षण-संपन्न नाट्यशाला बना दी। तब देव सभा में जाकर हाथ जोड़ कर बोला कि हे देव, नाट्य गृह बन गया है, चलकर देख लीजिए। (76-81)

तब शीघ्र ही नाट्य मंडप को देखने महेन्द्र तथा अन्य सभी देवों के साथ ब्रह्मा भी आये। तब नाट्यगृह को देखकर ब्रह्मा सभी देवों से बोले—तुम लोग अनेक अंशों में विभक्त होकर इस नाट्य-मंडप की रक्षा करो। फिर चंद्रमा उस मंडप के रक्षण पर नियुक्त हुआ, दिशाओं में लोक पाल नियुक्त हुए, विदिशाओं में मरुद्गण हुए, नेपथ्य भूमि में मित्र हुआ, आकाश मे

वरुण हुआ, वेदिका की रक्षा में अग्निदेव हुआ, भाण्ड रक्षार्थ सभी देवगण हुए, स्तंभों पर चारों वर्ण विनियुक्त हुए, अन्य स्तभों के लिए आदित्य और रुद्र नियुक्त हुए, धारणियों पर भूत नियुक्त हुए, शालाओं में अप्सराएं, सभी वेश्मों (उपगृहों) में यक्षिणियां तो भू पृष्ठ पर समुद्र की नियुक्ति हुई, द्वारशाला में तो साक्षात् यम की ही नियुक्ति हुई, द्वारकपाटों पर दो महाबलवान् नागराज नियुक्त हुए, देहली पर यम दण्ड स्थापित हुआ और उस पर शूल, नियति और मृत्यु दोनों द्वारपालों के रूप मे नियुक्त हुए, रंग पीठ के पार्श्व में स्वयं महेन्द्र स्थित हुआ, मत्तवारणी पर दैत्यविनाशिनी विद्युत स्थापित हुई, मत्तवारणी के परिपालन के लिए उसके स्तंभों पर महाबली भूत, यक्ष, पिशाच, गुह्यक आदि स्थापित हुए, जर्जर पर दैत्य-हन्ता वज्र विनिक्षिप्त हुआ, जर्जर के पर्वों पर अमित ओजस्वी देवगण हुए। यथा : शिरःपर्व पर ब्रह्मा, द्वितीय पर शंकर, तृतीय पर विष्णु, चतुर्थ पर स्कंद, पंचम पर शेषवासुकि-तक्षकादि नाग, यों विघ्नविनाश के लिए जर्जर के विविध पर्वों पर देवताओं की नियुक्ति हुई (82-94)

रंगपीठ के मध्य में स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठित हुए क्योंकि इष्टि के लिए रंगमध्य में पुष्प मोक्षण किया जाता है। यक्ष, गुह्यक और पन्नग जो भी पाताल वासी हैं, वे सभी नीचे से रंगपीठ की रक्षा के लिए नियुक्त हुए। नायक की रक्षा का इन्द्र को, नायिका की रक्षा का सरस्वती को, विदूषक की रक्षा का ओंकार को, शेष प्रकृतियों की रक्षा का काम हर को मिला। तब ब्रह्मा ने कहा कि जिस जिस देव को जिस जिस की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया है वही उसका अधिष्ठाता होगा। *(95-98)*।

तब सभी देवों ने पितामह ब्रह्मा से निवेदन किया कि आप कृपया इन विघ्नों को पहले 'साम' से शान्त करें। नीति यह है कि पहले साम का प्रयोग करो, तब (उसके असफल होने पर) दान का, तीसरे स्थान पर भेद का और अन्त में दण्ड का प्रयोग किया जाए। देवों के वचन सुन कर ब्रह्मा ने विघ्नों से कहा—भाई, *आप लोग नाट्य के विनाश पर क्यों तुले हैं? तब ब्रह्मा का सामपूर्ण वचन सुनकर* विघ्न गणों और दैत्यो सहित विरूपाक्ष बोला—'आपने यह जो नाट्य वेद रचा है, वह देवों की इच्छा से रचा है; अतः आपने हमारा प्रत्यादेश किया है। हे लोक-पितामह ! आप को ऐसा नही करना चाहिए था। आप के लिए तो जैसे देव हैं वैसे ही हम हैं। आप तो सभी के जनक हैं। विघ्नों का यह वचन सुनकर ब्रह्मा बोले—अहो अनघ दैत्यो, क्रोध न करो, विषाद छोडो। मैंने जो यह नाट्यवेद बनाया है, वह आपका और देवों का, दोनों ही का शुभ चिन्तक है। इसमे भाव और तदनुरूप कर्म (अभिनय) अपेक्षित हैं। यह केवल देवों का या तुम्हारा अनु-भावन नही करता। इसमें तो पूरे विश्व का भावानुकीर्तन है। (99-107)

इसमे कहीं धर्म है, कही अर्थ, कही शम, कही हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम,

सो कहीं वध। इसमे धर्म प्रवृति वालों के लिए धर्म है; काम सेवियो के लिए काम है; दुर्विनीतों का निग्रह है; विनीतों के लिए दम क्रिया है; क्लीबो के लिए धार्ष्ट्य जनन है; शूरमानियों के लिए उत्साह है; अज्ञों के लिए बोध है; विद्वानो के लिए विद्वत्ता है; ऐश्वर्यशालियों के लिए विलास है, दु:खी पीडितो के लिए स्थिरता है; अर्थोपजीवियों के लिए अर्थ है; उद्विग्नचित्तों के लिए धृति है। यों मेरे विरचित इस नाट्य मे नाना-भावसपन्न, नानावस्था-द्योतक लोकवृत्त का अनुकरण है। यह उत्तम-मध्यम-अधम सभी कोटियों के मनुष्यो के लिए कर्म संश्रय है; इससे हित का उपदेश मिलता है; धैर्य, क्रीडा-सुख आदि भी प्राप्त होते है। यह रसों, भावों, कर्मों, क्रियाओं सभी का उपदेश देता है। ऐसा होगा लोक मे नाट्यवेद। यह नाट्य दु:खार्तों, श्रमार्तों, तपस्वियों सभी के लिए यथा समय विश्रान्तिजनक होगा। यह नाट्य धर्म्य, यशस्य, हितवान्, बुद्धि वर्धक और लोक के लिए उपदेशकर होगा। (108-115)

न कोई ऐसा ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या है, न कला है, न योग है, न कर्म है जो इस नाट्य में दृष्टिगोचर न होता हो। अत: हे विघ्नो, आप देवों के प्रति क्रोध न करें, इस मे तो सप्तद्वीपावसुन्धरा की घटनाओ का अनुकरण होगा। इसीलिए मैंने यह नाट्य नामक अनुकरण रचा है। इसमे देवों, असुरों, राजाओं, कुटुम्बियों (गृहस्थों), ब्रह्मर्षियों सभी का वृत्तान्त दर्शित होगा। लोगों का सुख-दु:ख-समन्वित स्वभाव अंगादि के अभिनयों से नाट्य संज्ञा का अधिकारी होगा। यह वेद, विद्या, इतिहास, आख्यान सब का परिकल्पक होगा, और लोक में इन सबको विनोद के माध्यम से प्रस्तुत करेगा। उसमे श्रुति, स्मृति, सदाचार आदि का भी अशेष उपदेश विनोद के माध्यम से होगा। अर्थात् विनोद जनक पद्धति से सभी ज्ञान उपलब्ध कराया जाएगा। (116-119)

तदनन्तर पितामह ने सब देवों से कहा कि अब नाट्य मंडप में विधिवत्-यज्ञ करो। बलि देकर, हवन करके, मन्त्रौषधों से तथा भोज्य-भक्ष्य-पान पदार्थों से बलि दो। मर्त्यलोक में पहुंच कर सब पूजा पाओगे पर रंग की पूजा किये बिना प्रेक्षा का प्रवर्तन न करोगे। ध्यान रखना, जो भी रंगपूजा किये बिना कभी प्रेक्षा (अभिनय प्रदर्शन) करेगा, उसका श्रम निष्फल होगा और वह तिर्यग्योनि को प्राप्त होगा। इसलिए नाट्य प्रयोक्ताओ को चाहिए कि पूरे प्रयत्न से यज्ञ सहित रंगदेवता का पूजन करें। नर्तक हो अथवा अर्थपति जो भी पूजन स्वयं करेगा, अन्यो से करवायेगा उसका उपकार होगा। जो यथाविधि, यथादिष्ट पूजा करेगा वह शुभ अर्थों को प्राप्त करेगा ही; (मरकर भी) स्वर्ग लोक में जायेगा। (120-126)

यों कह कर भगवान् ब्रह्माने मुझ (भरत) से कहा कि रंग का पूजन करो। (127)

ऊपर हमने पूरा का पूरा प्रथम अध्याय हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया है। पाठक सोच रहे होंगे कि हमने ऐसा क्यों किया, जिसको पढना होता नाट्यशास्त्र में ही पढ लेता। यहां क्या संक्षेप में मुख्य बातें कहकर काम नहीं चलाया जा सकता था? हमने ऐसा अनेक कारणो से किया है। एक तो यह कि जब आपके पास मूलग्रंथ की पूरी कथा होगी तो आपके लिए हमारी व्याख्या समझने मे सुविधा होगी। हम तो केवल अलौकिक तत्त्व को लौकिक रूप में प्रस्तुत करेंगे। दूसरे, इस संपूर्ण कथानक से पाठक को स्पष्ट होगा कि जिस ब्रह्मा ने इस पंचम वेद को जन्म दिया, उसके मन में पात्र, वृत्ति, रंग, अभिनय, भाव, कर्म सभी की कितनी स्पष्ट कल्पना थी। इससे उन विदेशियो की शंका का निवारण होगा जो यह दावा करते हैं कि यवनों के आने से पूर्व यहां का नाट्य नाच-मात्र था, उसमें अभिनय तत्त्व तो यवनान के तीन हजार कला कर लाये थे। तीसरे, हम यह स्पष्ट करना चाहते थे कि भरत ने कितनी सरल, सुस्पष्ट भाषा में प्रतिपादन किया था पर टीकाकारों ने इसे कैसा उलझाया। मैंने इस हिन्दी रूपान्तर मे यथाशक्य मूल के ही शब्दों को जानबूझ कर रखा है ताकि यह बता सकें कि जो इस हिन्दी को समझ सकेगा वह मूल संस्कृत को भी उतनी ही सरलता से समझ सकेगा, बस उसे प्रथमा के छात्र जितना संधि-समास-विभक्ति का काम चलाऊ ज्ञान होना चाहिए। आगे हम नाट्यशास्त्र के एक दो श्लोकों की टीका की विवेचना करेंगे ताकि पता चले कि टीकाकारो ने इतनी सरल वस्तु को कैसा जटिल बनाया, कैसा उलझाया। पर ऐसा क्यों किया ? उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि उन्हें विषय की तो जानकारी थी नहीं। वे तो दर्शन और व्याकरण के विद्वान् होते थे, शब्दों की खाल खींच कर अपने पाण्डित्य की धाक जमाने के लिए तुले रहते थे। अतः ऐसी-ऐसी कल्पनाएं करते रहते थे जिनके न सीग हैं न पूंछ। हम तो यह मानते हैं कि हमारी बात की पुष्टि तभी होगी जब पाठक सामने मूल ग्रंथ को भी रख लें और एक-एक बात मिला लें। हमारी इच्छा तो पूरा मूल पाठ भी देने की थी पर वह देने पर पुस्तक का आकार अनावश्यक रूप से बढ़ता। फिर भी जिन एक दो श्लोक सूत्र की टीकाओं को लेंगे उन के मूल पाठ को तो साथ देना ही होगा। क्योंकि उनके तो अर्थ की विवेचना ही है। उनकी व्याख्या टीकाकारों ने ठीक की या हमने यह स्पष्ट समझने के लिए वे मूल श्लोक अपेक्षित होंगे ही। फिर भी हमारा विश्वास है कि विदेशी लेखकों की दुर्भावनापूर्ण स्थापनाओं को पढ़ने मे जितना समय नष्ट हुआ है उतना तो प्रथम अध्याय के पारायण में नहीं ही हुआ। और उस वृथा चर्चा से तो इसका पाठ कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होगा ही।

अस्तु, अब चर्चा करेंगे 'अभिनव भारती' की। इस टीका के रचयिता अभिनव गुप्त का आचार्यों में बड़ा सम्मान रहा है। वे प्रकांड विद्वान् थे पर

अनेक दर्शनों के। अभिनय कला से संभवतः परिचित नही थे। आगे के विवेचन से पाठकों के मन में अभिनव गुप्त के वैदुष्य के विषय मे कोई संदेह उत्पन्न न हो, इसलिए हम उसके वैदुष्य का विवेचन गुजराती-मनीषी केशवराम काशीराम शास्त्री की गुजराती पुस्तक 'नाट्यशास्त्र अने आचार्य अभिनव गुप्ताचार्य 'के पृष्ठ 105-7 से (हिन्दी रूपान्तर करके) उद्धृत कर रहे है—"उनका जन्म नरसिंह गुप्त व विमल कला के परिवार में हुआ। यह ब्राह्मण कुटुंब शिव एवं शक्ति का उपासक था और काश्मीर मे अनेक-शास्त्रीय विद्वत्ता के लिए विख्यात था। पिता नरसिंह गुप्त उत्कृष्ट व्याकरण शास्त्री थे। उन्ही के पास अभिनव का अक्षरारंभ हुआ। यों पिता से व्याकरण, वामनाथ से द्वैताद्वैत तंत्र, भूतिराजतनय से द्वितशैवसिद्धान्त, भूतिराज से ब्रह्मविद्या, लक्ष्मण गुप्त से क्रम और त्रिक दर्शन, भट्ट इंदुराज से ध्वनि, भट्ट तोत से नाट्यशास्त्र आदि का अध्ययन करके ही वे विरत नही हुए। श्रीचंद, योगानंद, अभिनद, विचित्रनाथ, शिव, उद्भट, भास्कर, भवितविलास, चंद्रवर, शिव भक्ति, धर्मवामन और भूतीश प्रभृति विद्वानों से भी शिक्षाग्रहण का अवसर अभिनव को प्राप्त हुआ। वे कौलिक सिद्धान्त सीखने शंभूनाथ नामक विद्वान् के पास जलंधर भी गये थे। इनके कुटुंब मे इन से किंचित् पूर्व तथा इनके ही समय मे अनेक विद्वान हुए थे यथा इनके चाचा वामन गुप्त, छोटे भाई मनोरथ तथा पाच भतीजे—क्षेत्र, उत्पल, अभिनव, चक्र और पद्मगुप्त गणनीय विद्वान् थे। वामनगुप्त ने तो काव्यशास्त्र का भी एक ग्रंथ लिखा था जिसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने नाट्य शास्त्र की टीका मे किया है। ··· · ··· इनका बचपन से ही आगमिक साहित्य मे रस था। देखते ही देखते वे महान् तांत्रिक विद्वान् के रूप मे समकालीनों में आदर पा गये। वस्तुतः काश्मीर शैव तंत्र के तो आद्य आचार्य एवं संस्थापक अभिनवगुप्त ही हैं। इस मार्ग पर चलाने मे इनके एक गुरु लक्ष्मण गुप्त का बड़ा हाथ है। इस मे अभिनव गुप्त की नैसर्गिक शक्तियां अत्यधिक खिल उठी। बोध पंचादशिका, मालिनी विजय वार्तिक, परा त्रिंशिका विवृति तंत्रालोक, तंत्रसार, तंत्रवटधानिका, परमार्थसार, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, क्रम स्तोत्र, देहस्थ देवता चक्रस्तोत्र, भैरव स्तोत्र, परमार्थ द्वादशिका, परमार्थ चर्चा, महोपदेश विंशिका, अनुत्तराष्टिका, अनुभव निवेदन, तंत्रोच्चय, घटकर्पर, कुलक विवृति, कर्मकेलि, शिवदृष्ट्यालोचन, पूर्वपंचिका, पदार्थ प्रवेश निर्णय टीका, प्रकीर्णक विवरण, कथा मुखतिलक लघ्वी प्रक्रिया, भेदवाद विवरण, देवीस्तोत्र विवरण, तत्वाध्व-प्रकाशिका, शिवशक्त्यविनाभाव प्रभृति मौलिक ग्रंथो, स्तोत्रों और स्तोत्र विवरणो के लेखन से अभिनव गुप्त ने काश्मीर शैवतंत्र की अपूर्व सेवा की है। इनके अतिरिक्त इस प्रकार के तत्वज्ञान से ही संबद्ध बिम्ब प्रतिबिम्ब वाद, परमार्थ संग्रह, अनुत्तर शतक, प्रकरण स्तोत्र एवं अनुत्तरतत्व विमर्शिनी वृत्ति प्रभृति रचनाएं भी उसी की मानी जाती हैं।

यही नहीं शैव तन्त्र से संबद्ध अन्य ग्रंथों तथा टीकाओं आदि में इसके रचे अन्य ग्रंथों के भी उल्लेख मिलते हैं। तत्व ज्ञान के ग्रंथों में वृद्धि करने वाले ग्रंथ भगवद्गीता पर भी इसकी टीका *भगवद्गीतार्थ संग्रह है। इस संग्रह में भगवद् गीता का* 745 श्लोक वाला पाठ सुरक्षित है।

ऐसे एक महान् तत्वज्ञानी और तन्त्रशास्त्र के स्वतंत्र प्रोद्भावक आचार्य ने चाहे काव्यशास्त्र का पृथक् ग्रंथ न लिखा हो, पर आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक (काव्यालोक) पर 'लोचन' नाम की टीका, भट्ट तोत के काव्य कौतुक का विवरण और नाट्यशास्त्र पर अभिनव भारती टीका (बाद में नाट्यालोचन नामक एक ग्रंथ भी ज्ञात हुआ है।) लिखकर उसने परवर्ती सभी काव्यशास्त्रियों में एक प्रमाणभूत और सिद्धान्तस्थापक आचार्य का गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त किया है। नाट्य शास्त्र में स्थापित रस सिद्धान्त और आनंदवर्धन द्वारा स्थापित ध्वनि सिद्धान्त का सुभग समन्वय, बिना किसी खींचतान या पूर्वाग्रह के, करके आचार्य अभिनव गुप्त ने तत्पूर्ववर्ती रीति आदि की सत्ता को ही काव्य शास्त्र में गौण बना दिया, अपितु मानो काव्य शास्त्र के एक छोटे से कोने में बंद कर दिया। एक मात्र किंचित् परवर्ती महिम भट्ट के अतिरिक्त कोई उसे उखाड़ फेंकने की बात सोच भी नहीं सका। उसने शास्त्र की जिस रीति से आलोचना की, शास्त्र की जो परिपाटी स्थिर कर दी, उसे ही परिवर्त्ती मम्मट, भोज, हेमचंद्र, रामचंद्र, शारदातनय, विश्वनाथ और जगन्नाथ सभी एक स्वर से अपनाते गये और अभिनव गुप्त का ही गौरव बढ़ाते गये।

आचार्य अभिनव गुप्त के विशाल ज्ञान का परिचय ध्वन्यालोक लोचन और अभिनव भारती से प्राप्त हो जाता है। उसने स्थल-स्थल पर अनेक विद्वानों की आलोचना की है। अनेक पुराने मंतव्यों को कड़ी कसौटी पर कसा है और *उनके दोषों का उद्घाटन किया है। भारत मंजरी, बृहत्कथा मंजरी, औचित्य* विचार चर्चा, कविकंठाभरण, सुवृत्त तिलक प्रभृति विविध विषयों के कोई चालीस ग्रंथों का रचयिता क्षेमेंद्र भी अभिनव गुप्त का ही शिष्य था।"

ऐसे प्रकांड मनीषी, विद्याधुरंधर ने जब नाट्य शास्त्र पर अभिनव भारती नाम की टीका लिखी जो आज तक सर्वोपरि प्रमाण भूत टीका मानी जाती रही है तो आपको आशा होनी चाहिए कि *नाट्य शास्त्र संबंधी आपकी सभी* शंकाओं का समाधान, सभी जिज्ञासाओं के उत्तर उसमें मिल जाएंगे। पर हमें घोर निराशा हुई। अतः हम अपनी प्रतिक्रिया का गोपन करने में असमर्थ हैं। उसे आगे व्यक्त करेंगे ही।

अभिनव गुप्त ने अपनी टीका की भूमिका के रूप में जो प्रतिज्ञा की थी उससे तो हमारी आशा और भी बढ़ गयी थी क्योंकि उसने साफ लिखा था कि मैंने व्याख्या का जो प्रकार स्वीकृत किया है उस में पहले उपादेय पाठ का चयन होगा,

अनुपादेय का त्याग होगा, तब सुस्पष्ट व्याख्या होगी, यदि कही विरोध प्रतीत होगा तो उसका निराकरण किया जाएगा, पाठ की सुपूर्णता का ध्यान रखा जायेगा। लक्ष्य का अनुसरण करने के लिए यदि श्लिष्ट अंश का विवेचन करना पड़े तो वह किया जाएगा। पुनरुक्तियों के मध्य संगति का ध्यान रखा जाएगा, उनका समाधान प्रस्तुत किया जाएगा तथा संक्षेप का ध्यान रखा जाएगा। यह व्याख्या प्रकार मैंने स्वीकार किया है—

> उपादेयस्य संपाठस्तदन्यस्य प्रतीकनम्।
> स्फुटव्याख्याविरोधानां परिहार. सुपूर्णता॥
> लक्ष्यानुसरणं श्लिष्टवक्तव्यांशविवेचनम्।
> संगतिः पौनरुक्त्यानां समाधानसमाकुलम्॥
> संग्रहश्चेत्ययं व्याख्या प्रकारोऽत्र समाश्रितः।

इस प्रतिज्ञा मे हमे स्फुटता (स्पष्टता) और संग्रह (संक्षेप) वाली दो बातें बहुत ही अच्छी लगी थी। विरोधों का परिहार, पुनरुक्तियों की संगति, शंकाओं का समाधान तो अपनी अपनी जगह उचित है ही। पर परीक्षणीय यह है कि क्या इस प्रतिज्ञा का निर्वाह हुआ ? परीक्षा प्रथम श्लोक से ही आरंभ की जाएगी ताकि कोई यह न कहे कि हमें इतने विशाल ग्रंथ मे दो चार नमूने मिल [illegible] और उन्ही को हम प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं। संयोग से प्रथम [illegible] इतना स्पष्ट कि वह व्याख्या-सापेक्ष ही नही है। ऐसे ही सरल [illegible] नमि साधु ने लिखा था कि वृत्तिप्रवृत्तिं नाधत्ते तेषु कोऽपि [illegible] ऐसे वाक्यों की व्याख्या में कोई विचक्षण प्रवृत्त ही नहीं [illegible] शास्त्र का वह प्रथम श्लोक जिसमें भरत ने ब्रह्मा और [illegible] ब्रह्मा विरचित नाट्य शास्त्र के प्रवचन की इच्छा [illegible]—

भरत मुनि उचित देवों को नमस्कार करके अभिधेय को गौण और प्रयोजन को मुख्य वृत्ति मानकर अभिधेय (नाट्य) और प्रयोजन (शास्त्र-प्रवचन) में विशेषण को अर्थ की दृष्टि से पूर्व स्थान देकर अभिधेय और प्रयोजन तथा उनके परस्पर संबंधों को इस प्रकार दिया रहा है :—

भरतमुनिरुचितदेवतानमस्कारपूर्वकमभिधेयगुणीभावेन प्रयोजनं मुख्यया वृत्या प्रतिजानानो विशेषणद्वारेण गुरु पूर्वक्रममर्थाक्षिप्ततया चाभिधेय प्रयोजन-तत्सम्बन्धान्दर्शयति।

इस जटिल वाक्य के अर्थ की शुद्धता के विषय में हमें संदेह है और यही इस बात का प्रमाण है कि व्याख्या न स्फुट है न संक्षिप्त। यह अंश न भी हो तो अंतर नहीं होगा। इससे स्पष्टता में तो कोई योगदान हुआ ही नहीं।

इसके आगे व्याख्या आरंभ होती है—प्रणम्येत्यादिना। इसकी व्याख्या में पहले अन्य टीकाकारों के अर्थ पूर्व पक्ष के रूप में दिये हैं, तब अभिनवगुप्त ने अपना मत दिया है। आरंभ इस प्रकार है—यहां न तो 'पितामह' का अर्थ पिता का पिता है और न 'महेश्वर' का राजा। इसी लिए देव शब्द साथ है ताकि शंका न रह जाए [पितामहोऽत्र न पितुः पिता महेश्वरश्च न राजादिरिति देवशब्द. एतच्च नाशंकनीयं प्रसिद्धेः।] ये दोनों देव इसलिए स्मरण किये गये कि प्रथम तो नाट्य का प्रवर्तक देव है। द्वितीय भगवान् शंकर जब आनंद भरित होकर क्रीड़ाशील हुआ संध्यादि में नृत्य करता है तो नाट्य और उसके उपकारी नृत्त में उसकी प्रवृत्ति होती है, अतः वे ही दोनों यहां अधिष्ठाता देव और गुरु रूप में नमस्कृत हुए हैं। यद्यपि तीसरा महादेव लक्ष्मीपति भी वृत्तियों का निर्माता है पर पितामह आदि के समान अपने कर्तव्य मात्र के प्रति निष्ठावान रहता है और अपने इस आचरण के कारण अन्य लोगों के समान ही उपजीवी होता है अतः उसे यहां गुरु मानकर नमस्कार नहीं किया गया। पर यह कथन नमस्कार का अनुचित हेतु निरूपित करता है अतः 'असत्' है।

[एको विजिगीषुर्नाट्यप्रवर्त्तयितेति देवः। भगवांस्त्वानन्दनिर्भरतया क्रीडाशील. सन्ध्यादौ नृत्यतीति नाट्ये तदुपस्कारिणि च नृत्ते तदुपज्ञं प्रवृत्तिरिति तावेवात्राधिदैवतं गुरू चेति नमस्कार्यौ। लक्ष्मीपतिस्तु यद्यपि वृत्तीनां निर्माता तथापि पितामहादिवदसौ स्वकर्तव्यमात्र-निष्ठस्तथाचरन्नात्र नाट्ये लोकवदुपजीवित इति गुरुत्वाभावान्न नमस्कृतः। (इत्ये) तदपि नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वादसत्।]

यों पूरा प्रच्छेद पढ़ने के पश्चात् आपके पल्ले यह पड़ा कि जो कुछ पढ़ा वह सब निरर्थक था, अशुद्ध था, पूर्वपक्ष मात्र था। अब लीजिए उत्तर पक्ष—इसलिए प्रणमन अर्थात् प्रह्वी भाव (क्या यह अधिक सरल है ?) तीन प्रकार से हो सकता है: शरीर से, वाणी से और मन से। यों प्रथम 'शिर से' यह शरीर से किया

प्रणाम है, दूसरा 'देवों को' यह वचसा प्रणाम है। प्रणम्य का नाम सीधा लेना अनुचित है, उपपद लगाकर लेना चाहिए, इसलिए पहले 'देवौ' कहा है। अभिनय की दृष्टि से लें तो 'शिरसा' में 'आंगिक' अभिनय है; दूसरा वाचिक अर्थात् 'देवौ' के उच्चारण के रूप में वाक्याभिनय दर्शित है। यह अभिनय लोकसिद्ध ही है, नाट्य धर्मी नहीं। मानसी प्रणति की प्रतीति तो वाणी और काय के व्यापार से ही हो सकती है अतः उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है। 'पितामह-महेश्वर' इस क्रम से रखे गये हैं कि छेकानुप्रास बन जाए और इस प्रकार सालंकार वाक्य की अभिनेयता प्रकट हो जाए। इस प्रकार सालंकारता देवता परितोष की हेतु दिखाई पड़े। 'पितामह और महेश्वर' शब्दों के प्रयोग से इन देवों की लोक हितैपिता वर्णित हुई है—

[तस्मात्प्रणमनं प्रह्वीभावः कायेन वाचा मनसा च। आद्यः शिरसेति दर्शितः। द्वितीयो देवावित्यनेन। प्रणम्यस्य निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात्। तेन प्रथमं देवावित्युक्तम्। अभिनेयप्राधान्याच्चांगिकः शिरसेति। वाचिकश्च देवावित्यादिना (च) वाक्याभिनयो दर्शितः। लोकसिद्धो ह्ययमभिनयो न च नाट्यधर्मिरूपः। मानसी तु प्रह्वता वाक्कायव्यापारगम्येति नासौ पृथगुक्ता। पितामहमहेश्वराविति क्रमः छेकानुप्रासार्थः। सालकारस्यच वाक्याभिनेयता दर्शयितुम्। सालंकारस्य देवतापरितोषहेतुत्वं च दर्शयितुम्। पितामहमहेश्वरौवित्यनेन देवयोर्लोकहितैपित्वमुक्तम्।]

भरत के आधे श्लोक को इतना विस्तार देकर अभिनव गुप्त ने ऐसी बातें ढूंढ निकाली हैं जिन का भरत को कदाचित् ही ध्यान रहा हो। प्रणति 'कायेन' और 'वाचा' होती है, इसलिए 'शिरसा' और 'देवौ' कहा गया—यों एक से आंगिक अभिनय संकेतित हुआ तो दूसरे से वाचिक। यह सचमुच खोज है। 'पितामह-महेश्वरौ' में भी यह शब्द चयन और क्रम छेकानुप्रास के लिए रखा गया, यह भी खोज है। हम तो यही मानते हैं कि ब्रह्मा का उल्लेख पहले और शिव का उनके बाद करने की ही पुराणपरंपरा है पर 'महेश्वर' संप्रदाय का अभिनव इस परपरा को क्यों मानता ? वह तो 'महेश्वर' को ही प्रधान मानता है। अतः इस क्रम का हेतु छेकानुप्रास बताया और इस सालंकारता से वाक्याभिनय की पुष्टि बता दी। अस्तु।

अब श्लोक का उत्तरार्ध लेते हैं जिसका प्रथम पद है 'नाट्यशास्त्रं'। अर्थात् (भरत कहता है कि मैं) नाट्य अर्थात नाट्य के वृत्त के शास्त्र अर्थात् शिक्षण के उपाय रूप ग्रंथ का प्रवचन करूंगा [नाट्यशास्त्रमिति — नाट्यस्य नटवृत्तस्य शास्त्रं शासनोपायं प्रवक्ष्यामीति]। पर अन्य आचार्य इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार 'नाट्यवेद' और 'नाट्यशास्त्र' तो पर्याय हैं।

तो यदि 'नाट्यशास्त्र' शब्द का अर्थ 'यह ग्रंथ' मानें तो इसका अभी विरचन (करण) हो रहा है, प्रवचन नहीं हो रहा। 'व्याख्यान' रूप तो 'विरचन' से भिन्न होता है क्योंकि उसका तो प्रवचन कंठ से होता है। यदि ग्रंथ को 'नाट्यवेद' मानें तो उस पर उत्पत्ति-वृद्धि-स्थिति-ह्रास-समाप्ति नामक पांच अवस्थाएं लागू हो जाएंगी और वह एक साधारण ग्रंथ जैसा हो जाएगा, वेद नहीं रह जाएगा। फलतः असंगति का प्रश्न उत्पन्न हो जाएगा। यों ग्रंथ के परवर्ती भाग में जो वचन हैं—'जो दृश्य और श्रव्य दोनों होगा' या 'ऋग्वेद से पाठ ग्रहण किया। आदि—उनकी ग्रंथ से असंगति हो जाएगी। इसलिए व्युत्पत्ति यों समझी जाए कि नाट्य और उसका शास्त्र दोनों का प्रवचन अर्थात् व्याख्यान होगा। दूसरे शब्दों में कहूँ, तो 'नाट्य नामक वेद' के लक्षणों का निरूपण करूंगा।

[नैतदित्यन्ये। 'नाट्यवेदः नाट्यशास्त्रम्' इति हि पर्यायौ। तत्र नाट्यशास्त्रशब्देन चेदिहग्रन्थः। तद्ग्रन्थस्येदानीं करणम्। न तु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यानरूपं करणादिभिन्नं कंठेन प्रोक्तमिति यथा। ग्रन्थस्य च नाट्यवेदत्वे उत्पत्यादिपंचकस्य तद्गतस्यान्यग्रन्थसाधारण्यात् प्रश्नासंगतिः। उत्तरग्रंथस्य चानुपपत्तिः—दृश्यं-श्रव्यं च यद्भवेत् (१-११), जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् (१-१०)इत्यादेर्ग्रन्थं प्रत्यसंगतत्वात्। तस्मात् नाट्यं च तत् शास्त्रं च। व्युत्पत्तिप्रदत्वात्। प्रवक्ष्यामि व्याख्यास्ये। नाट्याख्यं वेदं लक्षणतो निरूपयिष्य इत्यर्थः।]

आप सोच रहे होंगे कि अब तो तत्पुरुष समास न मानकर द्वंद्व मानने से तो व्याख्या पूरी हो चुकी होगी। जी, नहीं। यह तो पूर्व पक्ष के रूप में दी हुई एक व्याख्या है जो ठीक नहीं है। अभी पूर्व-पक्ष के रूप में इस व्याख्या की समीक्षा की जायेगी। अस्तु समीक्षा देखें।

'यह भी मन को नहीं रुचता। 'शब्दात्मा' के बिना प्रवचन संभव नहीं और नाट्य तो 'अशब्दात्मक' होता है। यदि प्रवचन का अर्थ निरूपण मान लें तो ग्रंथ के भी प्रवचन की उपपत्ति होगी। और नाट्य की प्रोच्यमानता स्वीकार करें तो अलाक्षणिक बाह्य रूप का निरसन हो जाएगा और यों 'शास्त्र' शब्द 'अनर्थक' हो जाएगा। फिर तो, शास्त्र के अन्त में जो कहा है कि 'जो इस प्रोक्त नाट्यवेद को सुने'—उसकी भी असंगति हो जाएगी। शब्द विषयता के बिना तो 'सुने' शब्द ही अवाचक (निरर्थक) हो जाएगा।

[एतदप्यमनोहरम्। शब्दात्मताव्यतिरेकेण प्रवचनायोगात्। नाट्यस्य चाशब्दात्मकत्वात् निरूपणमात्रे च प्रवचने ग्रन्थस्यापि प्रवचनोपपत्तेः। नाट्यस्य च प्रोच्यमानतयैवालाक्षणिकबाह्यस्वरूप निरासलाभे शास्त्र शब्दानर्थक्य प्रसंगात्। य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदम् इतिशास्त्रान्ते यद्वक्ष्यते तस्यासङ्गत्यापत्तेः। शब्दविषयातिरेकेण

श्रृणु यादित्यस्यावाचकत्वात् ।]

इस संपूर्ण समीक्षा का आधार यह धारणा है कि नाट्य तो 'अशब्दात्मक' होता है और शास्त्र 'शब्दात्मक' होता है। इसीलिए 'प्रोक्त नाट्य वेद सुनें' जैसे वाक्य असगत हैं। जो अभिनव गुप्त पूर्वार्ध के प्रसंग में आंगिक और वाचिक दो प्रकार के अभिनयों की बात कह रहे थे, उन्हें उत्तरार्ध में केवल आंगिक अभिनय ही क्यों रुचा; 'शब्दात्मकता' अर्थात् 'वाचिक अभिनय' मे उन्हे असंगति क्यो दिखायी देने लगी! अस्तु, उनकी माया वे जानें। पर वे अब अपने गुरूजी की व्याख्या बताते हैं :—

'तो मेरे गुरूजी का कहना है कि (भरत) सब के हितकरण मे प्रवृत्त होकर उत्साह की संपदा से उपेत होकर उसी की अभिवृद्धि के लिए, उसके प्रत्यूहो को अपास्त करने की इच्छा से अपने विज्ञान क्रम में उपारूढ गुरुरूप परम प्रभु ब्रह्मा विषयक स्मृति-उत्सुकता-धृति-मति आदि लक्षणो वाली व्यभिचारसरणि को तथा जडता-अवहित्य प्रभृति बाह्यकरण विषयक भावों को पुरस्सर करके धर्मवीर रस से आप्लावित होकर तदनुरूप आंगिक और वाचिक अनुभावों को प्रकट करते हुए अपने प्रयोजन का उल्लेख (निरूपण) करते हैं। और प्रयोजन ही तो प्रवृत्त करता है। जैसा कि न्यायसूत्र 1-1-24 मे कहा गया है—जिसके हेतु प्रवृत्ति होती है उसे ही प्रयोजन कहते हैं।'

[तस्मादित्यमेतदिति मद्गुरवः। सकलहितकरणप्रवृत्त उत्साह संपदोपेतः तदभिवृद्धये तत्प्रत्यूहापसिसारयिषया स्वविज्ञानक्रमोपरूढ-गुरुरूपब्रह्मसर्वाधिपतिपरमेश्वरविषयां स्मृत्यौत्सुक्यधृतिमत्यादि-लक्षणां व्यभिचारसरणिं बाह्यकरणीयविषयं च जड़तावहित्थप्रभृति भावगणं पुरस्सरीकृत्य धर्मवीरानुप्रविष्टस्तदुचितांगिकवाचिकानुभाव-प्रकटनपूर्वं स्वप्रवृत्तिप्रयोजनमेव निरूपयति। प्रयोजनस्यैव प्रवर्तक-त्वात्। यदाहुः—यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् (न्या०सू०-1-24) इति।]

हमें लगता है कि इसमें गुरूजी ने भरत मुनि के प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिए 'रस' प्रक्रिया का रूपक बांधा है। मुनि के मन मे सर्वहितकारिता से प्रवृत्त उत्साह रूपी स्थायी भाव है, उसकी जागृति के लिए प्रत्यूहों के अपसारण की इच्छा उद्दीपन विभाव है, गुरु ब्रह्मा आलंबन विभाव हैं, गुरु स्मृति, उत्सुकता, धृति, मति आदि की व्यभिचारिभाव सरणि है और जड़ता-अवहित्य आदि बाह्य-करणों से संबद्ध व्यभिचारी हैं, आंगिक-वाचिक अभिव्यक्ति अनुभाव हैं और उनके संयोग से उत्साह भाव धर्मवीर रसता को प्राप्त होता है। वह रस-निष्पत्ति ही प्रयोजन है।

हमें तो बिलकुल नही लगता कि 'नाट्यशास्त्र का प्रवचन करूंगा' जैसी छोटी

सी बात कहते समय भरत मुनि के मन में इतना परिपूर्ण सांग रूपक था। पर अभिनवगुप्तपादाचार्य जी के पूज्य आचार्यजी यह सब बता रहे हैं अतः हम अल्पज्ञों का धर्म है कि मौन रहकर स्वीकार कर लें। अन्यथा पता नहीं धर्मवीर नामक रस की निष्पत्ति होगी या नहीं।

अब गुरुजी बताएंगे कि 'नाट्य' और 'शास्त्र' शब्दों के क्रमशः क्या अर्थ हैं :—अब लौकिक पदार्थों से पृथक् पदार्थों के अनुकरण, प्रतिबिम्ब, आलेख्य, सादृश्य, आरोप, अध्यवसाय, उत्प्रेक्षा, स्वप्न, माया, इन्द्रजाल आदि से विलक्षण; उनके ग्राहक सम्यक् ज्ञान, भ्रान्ति, संशय, अनवधारण, अनध्यवसाय और विज्ञान से भिन्न, कथानक (वृत्तान्त) के आस्वादन रूप सवेदन से संवेद्य वस्तु वाले नाट्य को बताएंगे जो रस स्वभाव वाला है। ऐसे नाट्य के शास्त्र अर्थात् शिक्षण को जो बाह्य भाड, नाट्य आदि की विलक्षणता से सम्यक्तया उसके स्वरूप के अवबोध के उपाय रूप है। अन्य ब्रह्मा शिष्य मनु द्वारा वर्णित अनुपयोगी विकास का ध्यान रखते हुए प्रकृष्ट रीति से बताऊंगा। क्योंकि कहा है—जो मनुष्य स्वयंभू द्वारा प्रोक्त नाट्यवेद को सुनेगा, उसका उपयोग करेगा तथा उसका अध्ययन करेगा उसे वह गति प्राप्त होगी जो वेद के विद्वानों को, यज्ञों के ज्ञाताओं को, दान शीलों को प्राप्त होती है। (नाट्यशास्त्र अध्याय 36)। इससे ये 'दश कामज हैं' (मनु 7-47) जैसी अन्यो की आशंका जो नाट्य को वर्जनीय एवं अनुपादेय बताती हैं, निरस्त हो जाती है। यही नहीं याज्ञवल्क्य स्मृति और पुराणों में भी नाट्य की प्रसंशा की गयी है। और यह तो न्याय भी है कि आगमों के बिना धर्म का अनुमान संभव नहीं।

[तत्र नाट्यंनाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं तदनुकारप्रतिबिम्बालेख्य सादृश्यारोपाध्यवसायोत्प्रेक्षा-स्वप्न-मायेन्द्रजालादिविलक्षण तद्-ग्राहकस्य सम्यग्ज्ञानभ्रान्तिसंशयानवधारणानध्यवसायविज्ञान-भिन्नं वृत्तान्तास्वादनरूपसंवेदनसंवेद्य वस्तुरसस्वभावमिति वक्ष्यामः। तस्य शास्त्रं शासनं बाह्यभाण्ड नाट्यादि वैलक्षण्येन सम्यक् तत्स्वरूपावगमोपायं प्रकर्षेणापर ब्रह्मशिष्योदीरितानुपयोगि विकासा-वधानेन वक्ष्यामि। यद्वक्ष्यति—

य इमं शृणुयात्प्रोक्तं नाट्यवेदं स्वयंभुवा।
कुर्यात्प्रयोग यश्चैनं तथाधीयीत वा नरः॥
या गतिर्वेदविदुषां या गतिर्यज्ञवेदिनाम्।
या गतिर्दानशीलानां तां गति प्राप्नुयात्तु सः॥इति॥

(ना० शा० अ० 36)

एतेन कामजो दशको गणः (मनु 7-47) इति वर्जनीयत्वेन नाट्य-

स्यानुपादेयतेति यत्केचिदाशशंकिरे तदयुक्तीकृतम्। याज्ञवल्क्यस्मृतिपुराणादौ चास्य प्रशंसा भूयस्त्वश्रवणात्। न चागमादृते धर्मोनुमानगम्य इति न्यायात्।]

यों इन वाक्यों से गुरुजी 'नाट्य शास्त्र' की व्याख्या बताते हुए नाट्य और उसके शास्त्र के लक्षण बताते हैं पर साथ ही 'नाट्य' को त्याज्य बताने वाले ब्रह्मा-शिष्य मनु के वचन को उद्धृत करने वालों की शंका को भी अस्वीकार्य बताकर नाट्य को याज्ञवल्क्य स्मृति सम्मत और पुराण संमत बताते हैं। हमारा विश्वास है कि 'नाट्यशास्त्र' कहते समय भरत के मन में ऊहापोह रहने की रंचमात्र भी सभावना नहीं हैं। पर अभिनवगुप्त अभी संतुष्ट नहीं है। वे मनु के वचन से धर्म-भीरु बने शंकालुओं की शंकाओं को पूर्णतः निरस्त किये बिना मानेंगे नहीं। अतः कहते हैं :

यह तो व्यर्थ ही बिना अवसर भीरु बनने वालों की शंका के शमन के लिए कहा जा रहा है। क्योंकि नाट्य तो नटों का शास्त्रोक्त धर्म है अतः उन्हें उसे अनुष्ठित करना ही चाहिए। उप चेष्टा के विषय में हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं (क्योंकि हमें तो अभिनय करना ही नहीं, अतः नाट्य धर्म विरुद्ध हो तो भी हमें कोई धर्मक्षति नहीं होगी)। यदि कोई ब्राह्मण सोम बेचता हो तो सोम खरीदने का उपदेश देने वाले उसके वाक्य पर ब्राह्मणों के कृत्याकृत्य के विषय में विचार करना युक्त नहीं है। दूसरे, नाट्यशास्त्र के उपदेश का यह अर्थ थोड़े ही है कि नाचना चाहिए, गाना चाहिए, जैसा उपदेश दिया जा रहा है। वस्तुतः नाट्य का उपदेश तो केवल उन महानटों के लिए है जो उन भरतमुनि शिष्यों के वंशज हैं जो नाट्य का प्रवर्तन करते समय ब्रह्माजी की इच्छा को कार्यरूप देने के लिए भरतमुनि के शासन के अनुवर्ती थे और जिनकी शिष्य परंपरा मे वे आज तक महानट का धन्धा करते रहे हैं। अतः उनको उपयुक्त कार्यसाधक उपदेश देने वाला ही उपदेश इस शास्त्र में संनिविष्ट है।

[एतत्तु वृथैवास्थानभीरून् प्रति शंकाशमनार्थमभिधीयते नाम। तथाहि—नटानां तावदेतत् स्वधर्माम्नायरूपतयाऽनुष्ठेयमेव। न चास्माकं तच्चेष्टितं विचार्यम् सोमक्रयोपदेशिनोहि वाक्यस्य न तद्विक्रयिब्राह्मणान्तरगतकृत्याकृत्यविचारणोद्योगो युक्तः। न चाप्यस्योपदिश्यते 'गायेन्नृत्येत्' इति। किन्तु प्रथमनाट्यावसरक्रम-प्रवृत्तविरिंचिवचनप्रवर्तकभरतमुनिशासनानुवर्तिशिष्यपरम्परा परिचयागताद्यतन-कालावधिमहानटजनस्वकप्रवृत्तिविशेषोपदेशपरम्। अत एव तद्गतसिद्ध सदुपायोपदेशन-परमिदं शास्त्रमिति।]

यों कथन का सार यह है कि नाट्यशास्त्र हम सबसे तो कहता नहीं कि 'नाचते-गाते रहा करो'; यह तो केवल उन लोगों के हेतु उपदेश है जो भरत के

समय से अभिनय का धन्धा ही करते आये हैं और यह तो धर्मशास्त्र भी कहते
ही हैं कि अपना परम्परागत धन्धा ही करो। फिर हमें चिन्ता करने की क्या
आवश्यकता ? प्रकारान्तर से यह कहा गया है कि नाट्यशास्त्र केवल नटों के लिए
है, हम लोगों के लिए है ही नहीं, अतः न हमें पढ़ना है, न पढ़ाना ? क्या भरतमुनि
को यही अभीष्ट था आचार्यजी ! हमें तो 'नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि—नाट्य शास्त्र
का प्रवचन करूंगा' में यह सब शंका समाधान का वाग्विस्तार दिखायी देता
नहीं। आगे आचार्य जी की ऐसी इच्छा।

नाट्यशास्त्र से न नट का अहित होगा न कवि का, इसे स्पष्ट करने के लिए
आचार्य का कथन इस प्रकार है:—

इसलिए इस शास्त्र द्वारा नट को जो भी उपदेश दिया गया है, वह उसके
प्रति उपकार के लिए ही है, अन्यथा नहीं। कवि की रचना भी उसके हृदयायतन
में सतत उदित प्रतिभा के अभिधान से संबद्ध तथा वाग्देवी के अनुग्रह से उत्थित
विचित्र, अपूर्व अर्थ निर्माण की शक्ति से सम्पन्न होती है जो विधाता की कामना
से उत्पन्न जगत् के तुल्य होती है। अब भी यदि दूसरे, अर्थात् कवि के विषय में
कोई शंका अवशिष्ट रह गयी हो तो व्युत्पत्ति से भी उपकार की ही प्रतीति होती
है। क्योंकि कवि के लिए भी यह तो उपदेश है नहीं कि सदा गाते-बजाते-नाचते
ही रहो। अपितु उसका काम तो यह है कि अपने रस निष्पादन से मनोज्ञ विषय
के आस्वादन में उस दर्शक-पाठक को प्रवृत्त करके, जो वेदशास्त्र-पुराणादि से
भीरु हृदय है, उसके मन में मनोज्ञ वस्तु के प्रति राग उत्पन्न करवा दे और इस
प्रकार हठात् उसके लिए चारों पदार्थों की अवगति सभव करादे—ऐसा ही हम
तो कहेंगे। आगे नाट्य की उत्पत्ति आदि के प्रश्न तो नाट्य नामक वेद से ही सबद्ध
हैं, न कि नाट्य वेद के शास्त्र अर्थात् नाट्यशास्त्र से। क्योंकि आगे चतुर्थ श्लोक
(ना. शा. 1-4) में जहां हम 'हे ब्रह्मन् नाट्यवेद कैसे ? (नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्)
पर विचार करेंगे वहां यह व्याख्या भी करेंगे कि नाट्य ही वेद है।

[नटस्य तावन्नानेन किंचिदुपदिश्यते प्रत्युपकारादृते । कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थित विचित्रा पूर्वार्थ-निर्माण शक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितजगतः। परं प्रत्याशंका यदि परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्योपकारः। तस्यापितु नेह 'गायेन्नृत्येद्वादयेत्तन्निरतोवा भवेत्' इत्युपदेशः क्रियते। अपितु स्वरसत एव तावन्मनोज्ञविषयास्वादप्रवृत्तस्यात एव वेदशास्त्र पुराणादि भीरु हृदयस्य तन्मनोज्ञवस्तुमध्ये तादृगिदं वस्त्वनुप्रवेशितं यद् बलादेव पुमर्थोपायावगतिं करोतीति वक्ष्यामः। उत्पत्यादिप्रश्नास्तु ये भविष्यन्ति नाट्याख्यवेदविषयाः। न तु नाट्यवेदशास्त्रविषयाः। यतो 'नाट्यवेदः कथंब्रह्मन्'(ना. शा 1-4)इत्यत्र नाट्यमेव वेद इति व्याख्यास्यामः।]

पूर्ववर्ती प्रच्छेद में आचार्य ने नर को मनु के नाट्य विरोधी निर्देश से मुक्त करवाया था, इसमें कवि को करवा दिया है। यह भी बताया है कि नाट्यवेद वस्तुतः नाट्यशास्त्र ही है। आगे वह बताएंगे कि 'नाट्यशास्त्र' में समास कौन-सा है और उसका तदनुरूप क्या अर्थ होगा—

यह नाट्यशास्त्र ब्रह्मा ने उदाहृत किया अर्थात् मुझ (भरत) को बताया। क्योंकि ना. शा. 1.25 में बताया गया है कि "मैंने नाट्यवेद को पितामह से जानकर उसी की आज्ञा से अपने पुत्रों को पढ़ाया।" यहां समास का विग्रह इस प्रकार से है 'नाट्य का वेद अर्थात् शास्त्र'। यदि यह समास न हो तो उसका अध्यापन असंभव हो जाएगा। यों ब्रह्मा ने जो बताया था उसी का मैं यथापरिपाटी निरूपण करूंगा।

[एतच्च नाट्यशास्त्रं ब्रह्मणोदाहृतं मह्यमुक्तम्। यद्वक्ष्यते—'आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात्। पुत्रानध्यापयामास।" (ना. शा. 1-25) इति। अत्र तु नाट्यस्य वेदः शास्त्रमिति समासः अन्यथाध्यापनासंभवात् तेन ब्रह्मप्रोक्तमेव मया यथा परिपाटि निरूप्यत इति यावत्।]

आप सोच रहे होंगे कि अब तो प्रथम श्लोक की व्याख्या समाप्त हो गयी होगी क्योंकि अब तो नाट्यशास्त्र का समास विग्रह भी हो चुका, नाट्यवेद के औचित्य विषयक शंकाओं का भी समाधान हो चुका। अब क्या रह गया होगा। जी नहीं। धैर्य रखिए। अभी अन्यों के अन्य मत भी जानने हैं; उनके खंडन भी। आचार्य के स्वमत का प्रतिपादन भी। अतः आगे पढ़िये—

ब्रह्मा ने विविध वेदांगों को पुनः पुनः उद्धृत करके जिस विषय का आहरण किया उसका शास्त्र भी उदाहृत बताया गया है। यह जो नाट्य का वेदन अर्थात् सत्तालाभ अथवा विचार है वह जिसमें है वह 'नाट्यवेद' शब्द से नाट्याश्रयरूप है अतः उसे 'दशरूपक' कह सकते हैं। जैसा कि कहा है—'मैंने इतिहास बनाया' (ना. शा. 1-19) यहां एक पक्ष के अनुसार यह अर्थ भी हो सकता है कि ब्रह्मा ने उदाहृत किया अर्थात् उदाहरण से प्रदर्शित किया अर्थात् निदर्शन किया।

[नाट्यं च ब्रह्मणोद्धृत्योद्धृत्य वेदांगान्याहृतमिति तद्विषयं शास्त्रमप्युदाहृतमित्युक्तम्। यदिह नाट्यस्य वेदनं सत्तालाभो विचारश्च यत्र तन्नाट्य-शब्देन नाट्याश्रयरूपं दशरूपकमित्युच्यते—यद्वक्ष्यति 'इतिहासो मया सृष्टः' इति (ना. शा. 1-19)। अत्र पक्षे ब्रह्मणोदाहृतं प्रदर्शितोदाहरणं कृतनिदर्शनमित्यर्थः।]

इस व्याख्या में 'उदाहृत' शब्द का अर्थ 'कहा हुआ' न करके 'उदाहरण-परिपुष्ट' किया गया है। उससे मिलता-जुलता एक अन्य मत है—

उसके अनुसार नटनीय अनुकरण दशरूपक (अर्थात् दश भेदों वाला) नाट्य

है। उसी का यह शास्त्र है। अतः दशरूपक लक्षणों वाला ही है। ऐसे दशरूपक की रचना कवि को करनी चाहिए और इस प्रकार नटनीय ही ग्रंथ (नाट्शास्त्र) का तात्पर्य है। क्योंकि रस आदि पदार्थों का उसी (नटनीयता) में पर्यवसान होता है। उसको ब्रह्मा ने उदाहृत किया अर्थात् निदर्शित किया।

[अन्ये तु नटनीयमनुकरणं दशरूपकमेव नाट्यम्। तस्येदं शास्त्रम्। दशरूपकलक्षणमेव हीदम्। एवं दशरूपकं कविना कार्यम्। एवं च नटनीयमिति ग्रंथतात्पर्यात्। रसादीनां पदार्थानां तत्रैव पर्यवसानात्। तच्च ब्रह्मणोदाहृतं कृतनिदर्शनम्।]

यों इस मत में नाट्यशास्त्र दश प्रकार के रूपकों का शास्त्र है। एक और मत इस प्रकार है—

वेदाख्य भगवान् ब्रह्मा ने शब्दराशि से उदाहृत अर्थात् निरूपित त्याज्य या अनुष्ठेय रूप लेकर व्युत्पाद्यता से स्वीकार करते हुए 'नाट्यशास्त्र का प्रवचन करूंगा'। जैसे प्रयोजन को इसी के वचन द्वारा स्वीकार किया।

[अन्येतु ब्रह्मणा वेदाख्येन भगवता शब्दराशिनोदाहृतं निरूपितं त्याज्यानुष्ठेय रूपमायदागच्छत् व्युत्पाद्यतया स्वीकुर्वन्नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामीति प्रयोजनमनेनैव स्वीकृतमित्याहुः।]

इसके पश्चात् भट्टनायक का मत उद्धृत किया गया है जो उसने 'सहृदय-दर्पण' में ग्रहण किया था—

ब्रह्मा अर्थात् परमात्मा ने उदाहृत किया अर्थात् अविद्याविरचित निस्सार भेद ग्रहण में जिसे उदाहरण रूप प्रस्तुत किया उस नाट्य का मैं कथन करूंगा। कल्पनामात्र है सार जिसका, अनवस्थित एक रूप है जिसका, फिर भी जो क्षण-भर में शतसहस्र कल्पना का जनक है और स्वप्नादि से भी विलक्षण है, सुष्ठुता से हृदय को आकर्षित करने में सक्षम है, जो ब्रह्मरूपी आलम्बन को न त्यागते हुए अपनी कल्पना से रचित राम-रावणादि की असत्य (कल्पित) चेष्टा को अद्भुत वृत्ति से आभासित करवाता है, वह नाट्य प्रतीयमान मात्र होते हुए भी पुरुषार्थ लाभ कराता है। जैसे यह विश्व असत्य, नामरूप-प्रपंचात्मक होते हुए भी श्रवण-मनन आदि के द्वारा परम पुरुषार्थ को प्राप्त करवाता है उसी प्रकार लोकोत्तर परम पुरुषार्थ को सूचित करवा कर यह नाट्यवेद भी शान्त रस का उपक्षेप बनेगा; क्योंकि नाट्यशास्त्र में ही अध्याय 6 में कहा है कि अन्य रस अपने-अपने निमित्त को लेकर शान्त रस से ही उत्पन्न होते हैं। यों इसने अपना पारमार्थिक प्रयोजन बताया है। देखें सहृदय दर्पण—त्रैलोक्य के निर्माता कवि शंभु को नमस्कार है जिसके जगत् रूपी नाट्य के प्रयोग से जन प्रतिक्षण रस ग्रहण करते हैं। इति

[भट्टनायकस्तु 'ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतमविद्याविरचित-निस्सारभेदग्रहे यदुदाहरणीकृतं तन्नाट्यं तद्वक्ष्यामि। यथा हि कल्पना-

मात्रसारं तत एवानवस्थितैकरूपं क्षणेन कल्पनाशतसहस्रं स्वप्नादि विलक्षणमपि सुष्ठुतरां हृदयग्रहं निदानमत्यक्त स्वालंबनब्रह्मकल्पन टोपरचितं रामरावणादिचेष्टितमसत्यं कुतोप्यभूताद्भुतवृत्या भाति। तथा भासमानमपि च पुमर्थोपायतामेति। तथा तादृगेव विश्वमिदम-सत्यनामरूपप्रपंचात्मक मथ च श्रवणमननादिवशेन परमपुमर्थप्रापक-मिति लोकोत्तरपरमपुरुषार्थसूचनेन शान्तरसोपक्षेपोयं भविष्यति। 'स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्तादुत्पद्यते रसः' इति (ना. शा. 6)। तद-नेन पारमार्थिकं प्रयोजनमुक्तम्। इति व्याख्यानं सहृदयदर्पणे पर्य ग्रहीत् यदाह—

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिकोजनः॥ इति ॥]

ऐसा लगता है कि भट्टनायक वेदान्ती हैं। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त के विद्वान् आकाशमूला सृष्टि के सरल से अद्वैत सिद्धान्त को शब्दों के घटाटोप से आच्छन्न करके पाठकों के लिए सर्वथा दुर्बोध बना देते है उसी प्रकार यहां स्वप्न-वत् मिथ्याजगत् रूपी उपमान का उपमेय नाट्य को बना कर राम-रावण आदि की नटकृत चेष्टाओं को असत्य बताया गया है। फिर कहा गया है कि जैसे असत् जगत् से भी मोक्षोपायसंभव है, उसी प्रकार सब रसों के पिता शान्त रस से भी संभव है। धन्य हैं विद्वद् वरेण्य जो 'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' जैसे दो शब्दो के वाक्य में यह सब ब्रह्म-ब्रह्माण्ड का महा ज्ञान निरूपित कर सकते हैं।

इस अति व्यापक चर्चा के पश्चात् परम आचार्य अभिनवगुप्त स्वयं अपने निष्कर्ष के साथ उपस्थित होते है :—

'यो नाट्यशास्त्र का प्रवचन रूपी प्रयोजन बता दिया। वह प्रयोजन तो दिखा भी दिया। अभिधेय है नाट्यवेद। अभिधेय और प्रयोजन का संबंध व्युत्पाद्य व्युत्पादक भाव के लक्षणों वाला है। जो जिस शास्त्र को जानना चाहता है वह उस समय उस शास्त्र के प्रणेता की प्रसिद्धि को सर्वोपरि प्रमाण मानता है अतः उसके वचनों द्वारा प्रोक्त अभिधेय-प्रयोजन संबंध में पूर्णतः शंकारहित होकर ही प्रवृत्त होता है। दूसरे लोग जिन्होंने सकल शास्त्रों का अर्थ ज्ञात कर रखा है वे इसे मानें या न मानें यह दूसरी बात है। अतः प्रथम प्रवृत्त आदि वाक्य प्रयुक्त होते ही स्वानुभव सिद्ध है ही। उससे अर्थ, संशय, तर्क, कौतुक आदि के उत्पादक वाक्य प्रवृत्त नहीं होंगे। अर्थात् प्रथम श्लोक स्पष्ट हो गया है।

[एवं नाट्यशास्त्रप्रवचनं प्रयोजनमुक्तम्। तत्प्रयोजनन्तु दर्शित-मेव। अभिधेयश्च नाट्यवेदः। व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावलक्षणश्च सम्बंधः। यच्च शास्त्रं यो जिज्ञासते स तावत्तदवसरे तच्छास्त्रप्रणेतरि प्रसिद्धे

सिद्धवदेव प्रामाण्यमभिमन्यत इति तद्वचनोक्ताय सम्बधाभिधेय प्रयोजनाय तदैव निर्विशङ्कः प्रवर्तते। परस्त्वधिगतसकलशास्त्रार्थो बहुमन्यते नवेति तदिदमन्यत्। प्रथमं तावत् प्रवृत्तमादिवाक्यं प्रयुक्तमेवेति स्वानुभवप्रसिद्धम्। तेनार्थ-संशय-तर्क-कौतुक जनादि वाक्यं न प्रवर्तकमिति किमनेन।]

इस प्रच्छेद में अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र का प्रयोजन और अभिधेय बताकर उनका व्युत्पाद्य व्युत्पादक भाव संबंध बताया है। फिर कहा है कि शास्त्र का नया जिज्ञासु तो उस शास्त्र के प्रणेता को सहज प्रमाण मानता है अतः उसे कोई शंका नहीं होती। शंका उन बुधजनों को होती है जो अपने को सकल शास्त्रार्थ का वेत्ता समझते हैं। यों छोटे से, सरल से श्लोक की हनुमान् की पूंछ की तरह लंबी बढ़ती टीका का भी अंत आ ही गया।

प्रश्न यह है कि क्या यह एक सरल से श्लोक की स्फुट-संक्षिप्त व्याख्या है? क्या इसमे वस्तुतः इतने विरोध थे जिनका परिहार आवश्यक था? क्या इसमें केवल लक्ष्य का ही अनुसरण किया गया? क्या इसमें श्लिष्ट वचन थे जिनकी व्यापक-विस्तृत व्याख्या अपेक्षित थी? क्या इसमें पुनरुक्त बातों में परस्पर असंगतियां थी जिनका समाधान परम आवश्यक था? हमें भरत के सरलतम श्लोक में कही किसी प्रकार की विचिकित्सा का अवकाश ही नहीं दीखता, फिर अभिनव गुप्तजी ने इस मंगलार्थ श्लोक को इतना लंबा खींचते जाना क्यों आवश्यक समझा? उन्होंने अपनी सर्वथा उचित प्रतिज्ञा को क्यों तोड़ा?

इन प्रश्नो पर विचार करने से पूर्व हम स्थिति स्पष्ट करना चाहते है। एक ओर नाट्यशास्त्र का प्रथम अध्याय आद्योपान्त है; दूसरी ओर केवल प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक की टीका है। इस टीका ने जितना स्थान घेरा है उनसे आधे स्थान में पूरा अध्याय आ गया है। क्या इतनी जटिलता थी भरत के वाक्य मे! हमारा तो विश्वास है कि भरत के पूरे अध्याय में जितनी सरलता-सुस्पष्टता है उतनी तो किसी पुराण या हितोपदेश आदि मे भी नहीं है।

मैंने पहले पूरे प्रथम अध्याय का हिन्दी रूपान्तर दिया है। उसके बाद अभिनव भारती टीका में दी गयी प्रथम श्लोक की व्याख्या का हिन्दी रूपान्तर दिया है। दोनों रूपान्तरों में मैंने जानबूझ कर, प्रयत्न पूर्वक, यथा संभव मूल के ही शब्दों का प्रयोग किया है। मैं यह सिद्ध करना चाहता हूं कि मूल कितना सरल है और टीका कितनी जटिलातिजटिल। मेरा यह दावा नहीं है कि मैंने हिन्दीकरण मे भूलें नहीं की होंगी। मेरी अल्पज्ञता के कारण भूलों की संभावना है, यह मैं पहले ही स्वीकार करता हूं। पर मेरे इस प्रतिपाद्य में मुझे कोई भूल नहीं लगती कि टीकाकार ने अपने कर्त्तव्य का रंचमात्र भी पालन नहीं किया; अपितु आरंभ में दिये गये अपने वचन की भी सर्वथा उपेक्षा की। सरलता और संक्षेप

दोनों ही कैसे उपेक्षित हुए हैं, यह सर्वत्र सुप्रमाणित है। टीकाकार का कर्त्तव्य होता है मूल के पाठक की सहायता करना। रूपक में कहें तो मूल रूपी राज पथ पर चलने वाले पाठक रूपी यात्री की वहां सहायता कर देना जहां उसे मार्ग में कहीं फिसलन या गड्ढा-गर्त्त दिखायी पड़े। यह कर्त्तव्य तो बिलकुल नहीं है कि रास्ते में हर कदम पर विशाल पर्वत खड़े करके या कांटे-कांच बिछाकर उसे आगे बढ़ने ही नहीं दे।

कितना स्पष्ट और सरल वाक्य था कि 'पितामह और महेश्वर को सिर से प्रणाम करके मैं उस नाट्य शास्त्र का प्रवचन करूंगा जिसे ब्रह्मा ने उदाहृत किया था।' मैंने जान बूझकर 'पितामह', 'महेश्वर', 'प्रवचन' और 'उदाहृत' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। उनकी सरल व्याख्या इसलिए नहीं की कि मेरा विश्वास है कि हिन्दी का कोई प्रबुद्ध पाठक इसे समझने में समर्थ हो जाएगा। मैंने यही नियम टीका के हिन्दीकरण में भी निभाने का प्रयत्न किया है। क्या इस एक श्लोक की टीका इस बात का प्रमाण नहीं है कि मूल जहां एक सुरम्य पुष्टिवाटिका है वहां टीका उसके चारों ओर लगामा विशाल बीहड़ वन है जिसमें हिंस्रपशु भक्ष्य की प्रतीक्षा में बैठे हैं और उन से बच निकलो तो विकट ज्वालामुखी और दुर्गम गिरि शृंग मार्गावरोध करके ही रहेंगे। मेरा तो विश्वास है है कि दूसरे श्लोक पर पहुंचने से पूर्व पाठक यह भूल चुकेगा कि प्रथम श्लोक में भरत ने दो देवों को प्रणाम करके ब्रह्मोदित नाट्य-शास्त्र के प्रवचन की इच्छा व्यक्त की थी।

यह न समझा जाए कि ऐसी विकट व्याख्या की कृपा केवल प्रथम श्लोक पर की गयी है। ऐसी कृपाओं से तो छोटे-छोटे गद्य वाक्य भी भरे पड़े हैं। रस निष्पत्ति के विषय में भरत का एक छोटा-सा सूत्र है, अति स्पष्ट—

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

इसकी रोयल साइज के कागज पर दस पोइंट के टाइप में छपी व्याख्या पंद्रह पृष्ठों में गयी है और पाठक सिर मारकर रह जाता है कि टीकाकार बताना क्या चाहते हैं। बिना सिर-पैर की शंकाएं खड़ी की गयी हैं। यथा राम-सीता के शृंगार-प्रसंग में उनके पुत्रवत् प्रेक्षक का रतिस्थायिभाव कैसे रसत्व को प्राप्त होगा। बड़े-बड़े टीकाकारों को इतना सा समझ में नहीं आया कि प्रेक्षक को अभिनय देखते समय कोई रतिसुख प्राप्त नहीं होता। उसे तो केवल नाट्य का आनंद मिलता है। यदि रूपक रचयिता समर्थ होता है और अभिनेता कुशल होता है तो प्रेक्षक का रूपक रचयिता के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। वह भी उसी की धारा में प्रवाहित हो जाता है। भरत ने तो अपने सुदीर्घ नाट्यानुभव से यह बताया था कि अमुक-अमुक विभावानुभाव संचारी की नाट्य में समुचित योजना होगी तो प्रेक्षक रस मग्न हो जाएगा और योजित विभावानुभाव संचारी के आधार

पर उस तन्मयता को अमुक-अमुक रस संज्ञा होगी। पर आचार्य थे कि प्रेक्षक की धर्मक्षति की चिन्ता से पार ही नहीं पा रहे थे। फिर वही दार्शनिक शब्दाडंबर का सहारा लिया गया और किसी प्रकार प्रेक्षक को धर्मक्षति से बचाया गया पर फिर भी धर्मक्षति के प्रसंग में कोई स्पष्ट आश्वासन देते हुए आचार्य कतराए हैं। आप प्रथम श्लोक की व्याख्या में ही देख चुके हैं कि मनुकृत 'नाट्य निषेध' से आचार्य ने केवल वंशानुवंश नटों को तथा कवि को छूट दिलवायी है जिनका धर्मशास्त्र सम्मत व्यवसाय ही अभिनय तथा रचना है, हम-आपको यह छूट प्राप्त नहीं है। मनु की तलवार आपके सिर पर बरकरार है।

भरत ने कभी कल्पना ही नहीं की होगी कि उसी के टीकाकार उसकी यह दशा करके छोड़ेंगे। आप पूछेंगे कि फिर उन्होंने ऐसा किया क्यों। इसका स्पष्ट उत्तर आचार्य देते हैं कि अभिनय नटों का काम है जिनका वह वंशानुगत व्यवसाय है। हमारा नहीं है। (हमारा काम टीका करना है, अभिनय नहीं।) यदि सोम विक्रेता ब्राह्मण सोम के गुण बखान सकता है तो यह अधिकार ब्राह्मण मात्र को नहीं मिल जाता। अन्य ब्राह्मणों को तो दूर ही रहना चाहिए।

खेद है कि फिर भी टीकाकार उस विषय की टीका करने में प्रवृत्त हो गये जो उनका क्षेत्र था ही नहीं। वे तो दर्शनों के पांडित्य से परिपूर्ण थे। दर्शनों में ऐसे भाष्यों की प्रथा थी जिन में मूल को कहीं का कहीं छोड़कर भाष्यकार यथेच्छ विचरण करता था। वेदान्त सूत्र, उपनिषद्, गीता आदि के भाष्य बनाने वाले आचार्यों को इस बात की रंच मात्र भी चिन्ता नहीं थी कि वेदव्यास बादरायण की या उपनिषत्कारों की क्या विवक्षा थी। उन्हें तो अपने-अपने अद्वैत-विशिष्टाद्वैत-द्वैत-द्वैताद्वैत-शुद्धाद्वैत सिद्धान्तों की स्थापना करनी थी। अपने कथन के प्रमाण स्वरूप उन्होंने वेदान्त सूत्रादि को पकड़ लिया था। पर आप विश्वास कीजिए। किसी भी भाष्य के जाल में फंस गये तो आप मूल को बिलकुल नहीं समझ पाएंगे जो स्वयं अति सरल है और जिसकी अपनी विवक्षा पांचों ही भाष्यों से भिन्न है। अधिकांश वेदान्ताचार्य अभिनव से परवर्ती है पर भाष्यों की वह परंपरा तो पहले से थी। उसी परंपरा में पले आचार्य अभिनवगुप्त तथा अन्य पूर्व-परवर्ती आचार्यों ने इसी प्रकार पाठकों को भटकाया है। पता नहीं भरत मुनि का उद्धार करने वाला कोई अभिनेता भी उत्पन्न होगा या नहीं। अभी तक तो दक्षिण भारत का दासि-अट्टं ही भरतनाट्यं के नाम से प्रचार पा रहा है जिसमें न लास्य है, न ताण्डव। नाट्याभिनय तो उसमें है ही कहा?

अब विचार यह करना है कि नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय की नाट्य-उत्पत्ति कथा का लौकिक तर्क सम्मत अर्थ क्या है? उसे समझने के लिए एक बार पुनः प्रथम अध्याय पर दृष्टिपात करना होगा। वहां बताया गया है कि आज से कोई सात सहस्र वर्ष पूर्व दक्षिणी समुद्र तट की पर्वत मालाओं पर अक्षवाट होते थे जिन्हें

ज्ञान मंदिर कहा जा सकता है। उनका अधिष्ठाता विद्वान ब्रह्मा कहलाता था क्योंकि वह ब्रह्म (आकाश) विषयक अध्ययन का संचालन करता था। उसका सहयोगी था समुद्र यात्रा करके समुद्र के रहस्यों का उद्घाटन करने तथा उत्तरायण-दक्षिणायन की घटना का अध्ययन करने वाला नील कंठ। उसका सहयात्री होता था नारद जो मासों लम्बी समुद्र यात्रा को गन्धर्व विद्या की सहायता से सरस बनाये रखता था। उनकी दी हुई सूचना के आधार पर अपनी जानकारी को अंतिम रूप देना ब्रह्मा का काम था। अक्षवाट में अंतिम रूप को प्राप्त हुआ यह ज्ञान कुछ समय पश्चात् पड़ोस के ऊरों मे उतरा, फिर धीरे-धीरे पूरे प्राच्य में फैलकर उदीच्य तक गया। उदीच्य और प्राच्य भारत के दो भाग थे। दोनों की भाषाएं भिन्न थी उदीच्या और प्राच्या। उदीच्या के प्राचीनतम रूप ऋग्वेद और ज़ेन्द अवेस्ता में सुरक्षित हैं पर प्राच्या का प्राचीनतम प्रतिरूप तोलकाप्पियम् में ही उपलब्ध है। उससे प्राचीन दो संघों का साहित्य लुप्त हो चुका है। उदीच्य मे राजतंत्र था; प्राच्य मे गणतंत्र। पर योद्धा उदीच्यों ने प्राच्यों के क्षेत्र में राजतंत्र फैलाना और अधिकार जमाना आरंभ किया। उन्होंने स्थानीय प्राच्य नारियों से विवाह करना प्रारंभ किया। उनसे उत्पन्न संतानें भाषा सीखने उदीच्य भेजी जाती। उदीच्य में उदीच्या सीख कर वे द्विज कहलाते। यों प्राच्य के जो लोग वहीं रह जाते थे, वे शूद्र रह जाते। स्त्री-शूद्र केवल प्राच्या जानते। द्विज दोनों जानते।

ऊरों मे उतरा ज्योतिर्विज्ञान उदीच्य तक पहुंचा तो वहां की भाषा मे लेखबद्ध हुआ। वेद कहलाया। उसकी अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक थी। उदीच्यों के अधीन आये प्राच्यो में से द्विज तो वेद जानते थे पर वहां के स्त्री-शूद्र नही। उन्हें वह ज्ञान कैसे प्राप्त हो यह चिन्ता का विषय था। विजेता राजा ने ब्रह्मा के सामने अपनी समस्या रखी। ब्रह्मा ने विचार किया और प्रतीकात्मक कथा के आधार पर अभिनय की योजना बनायी। चारों वेदों से क्रमशः पाठ्य, गीत, अभिनय और रस लेकर नाट्य नामक पांचवें वेद को तैयार किया। अभिनेय रचना मे कैसी इतिहास कथा (प्रतीक कथा) प्रयुक्त हो यह भी निर्णय किया। फिर ब्रह्मा ने इन्द्र (राजा) से कह दिया कि गांवों में इनका अभिनय करवाओ और जन-जन तक ज्ञान पहुंचाओ। अच्छे समृद्ध प्रदेश के सोमपान में दिन-भर लगे रहने वाले देवों (उदीच्यों) के लिए यह सब कहां संभव था। उन्होंने स्पष्ट भाषा में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। तब ब्रह्मा की नजर अपने यहां के विद्वान भरत पर पड़ी जो नीलकंठ से नृत्य और नारद से संगीत सीख चुका था। उसने अपने सौ पुत्रों को तैयार किया और अभिनय करके ब्रह्मा को दिखाया।

ब्रह्मा संतुष्ट हुए कि भारती-सात्वती-आरभटी वृत्तियों के प्रयोग बड़ी सफलता से किये गये थे पर फिर भी कैशिकी वृत्ति का अभाव था। ब्रह्मा ने

नारद और स्वाति का सहयोग तो भरत को पहले ही उपलब्ध करवा दिया था अब उसने भरत के कहने पर अप्सराएं भी उपलब्ध करवा दी। यों सभी वृत्तियों का अभिनय संभव हो गया। अब ब्रह्मा ने इन्द्र विजय के अवसर के ध्वजोत्सव पर अभिनय करने का उपक्रम किया। उस अभिनय में दैत्यों के विनाश और पराजय का अभिनय था अतः दैत्य (राजा विरोधी) विघ्न करने लगे। इन्द्र ने जर्जर से रंग की रक्षा का उपाय किया पर वह पर्याप्त नहीं था। तब ब्रह्मा ने अभियन्ता विश्वकर्मा से नाट्यगृह बनवाया। उसमे सुरक्षा के लिए भी प्रबंध किये गये। तब भी विघ्न समाप्त नहीं हुए। तब ब्रह्मा ने दैत्यों को समझाया कि भाई, यह तो प्रतीकों के माध्यम से सभी शास्त्रों, सभी कलाओं, सभी विद्याओं के प्रचार का उपक्रम किया गया है। अभिनय के आकर्षण के लिए दो पक्ष बनाने पड़ते है। नायक-प्रतिनायक बनाये जाते हैं, युद्ध-विजय आदि के दृश्य रखे जाते हैं। ये सचमुच तुम्हारी पराजय की कथा नहीं हैं। प्रतीकों के अर्थ समझाए :- देव कौन हैं, दैत्य कौन हैं, राम कौन है, रावण कौन है, वृत्र कौन है, इन्द्र कौन है, कंस कौन है, कृष्ण कौन है। दैत्य समझ गये। उन्होंने नाट्य का प्रवर्त्तन होने दिया। उसका प्रचार-प्रसार होने लगा। पर यह घटना भी चार साढेचारहजार वर्ष पुरानी तो है ही। वेदों की रचना पांच हजार वर्ष पूर्व मानें तो यह उससे पाच-सात सौ वर्ष बाद की घटना होगी। पर तब भी श्रीलंका (सिंहल) से उत्तर में वंक्षुतट तक भारत एक था। पूर्व में प्राग्ज्योतिष से पश्चिम में आर्यान् (ईरान्) तक एक था। ब्रह्मा द्वारा उदाहृत और भरत द्वारा प्रोक्त नाट्य इस समग्र देश के मनोरंजन का साधन था। इस से अधिक वह ज्ञान को जन-जन तक पहुंचाने का कान्तासम्मिततयो-पदेशयुजे' वाला साधन था।

भरत को नाट्यशास्त्र के प्रवर्तन के लिए ब्रह्मा ने क्यों चुना? कारण यह था कि तब तक अभिनय का शास्त्र तो बना नहीं था पर वह भरत के पास कला के रूप मे विद्यमान था। भरत एक नट था। वह 'कइरुनट' था। रस्सी पर चलकर ज्योतिष का ज्ञान जन-जन तक रोचक पद्धति से पहुंचाता था। आकाश मे बारह रस्सियां तान कर, आकाश को बारह भागों मे बांटकर कभी सूर्य का उत्तरायण-दक्षिणायन-संक्रमण दिखाता; कभी चंद्र की राशि क्रीड़ा (रासक्रीड़ा) का प्रदर्शन करता; कभी गुरुचाद्री योग स्पष्ट करता। वह नारद से संगीत और नीलकंठ से नृत्य और नृत्त सीख चुका था। बस उसका प्रदर्शन तब तक शास्त्र नहीं था। कला मात्र था। कला भी तमिल का शब्द है जिसका अर्थ है धागा। उत्तर भारत मे पहुचे मे बंधी कला (तमिल रूप 'कलै') के कारण पहुंचे का एक पर्याय कलाई हो गया है। पर कलाई में बंधने वाला धागा भी कलावा (कलाप) कहलाता है। 'कला' या धागे का प्रयोग तब किया जाता था जब बारह राशियों में विभक्त आकाश का अंशों और कलाओ मे सूक्ष्मतर विभाजन किया जाता था। जब कला-

भाजी नट कलाओं पर भी चलता था तो दर्शक अत्यधिक प्रसन्न होते थे। कलाभाजी की यह अद्भुत कुशलता आज भी 'कलाबाजी' कहलाती है। ब्रह्मा ने भरत की कलाबाजियां देख रखी थी, अतः अपने नवनिर्मित शास्त्र को क्रियान्वित करने के लिए उसे ही कार्यभार सौंपा। फिर भी उसे सहयोग देने के लिए नारद से भी आग्रह किया और उसे अभिनय के संगीत पक्ष का अधिकार सौंपा। भरत ने प्रथम श्लोक में जिन दो गुरुओं को प्रणाम किया है वे पितामह-महेश्वर उसके अभिनय और नृत्य के गुरु थे। पितामह को पितातुल्य गुरु से पहले प्रणाम करना स्वाभाविक था, केवल छेकानुप्रास के लिए ऐसा नहीं किया गया था। अभिनय का गुरु पितामह ही था, अतः उसी के उपदेश का प्रवचन नाट्यशास्त्र में है। टीकाकारों के इस कथन में कोई दम नहीं है कि ब्रह्मा-महेश्वर भरत के मतत्रय की सारासारता पर विचार करके ब्रह्मा के मत की स्थापना की गयी है। मेरी कामना है कि कोई अभिनय कला निपुण विद्वान् नाट्य शास्त्र के मूल पाठ के सहारे उस पर विस्तार से प्रकाश डाले। तभी 'द्विभूमिक' जैसे नाट्यगृहों को तथा भास के 'नाटकैर्बहुभूमिकैः' की समस्या पर प्रकाश पड सकेगा। जब तक कोरे दर्शन शास्त्री टीकाएं रचेंगे तब तक तो 'द्विभूमिक' के चार-चार अर्थ भी प्रस्तावित होकर आपके मनस्तोष के हेतु नहीं बन सकेंगे।

मुझे तो अपने परिश्रम की सफलता का विश्वास तभी हो पाएगा जब मेरे दम पाठक भी मान लेंगे कि नाट्यशास्त्र हमारा अपना है, हमने उसे यवनों से भिक्षा में नहीं प्राप्त किया था। विदेशियों की तो कहानी बडी योजनाबद्ध थी। कालिदास को गुप्त काल मे बता दिया, भास को उससे थोडा पहले और अश्वघोष को उन दोनों का पूर्ववर्ती, कनिष्क का दरबारी। कनिष्क को बता दिया 78 ई० का जिसने शालिवाहन शक संवत् चलाया। कैसी विचित्र बात है कि जिस भूमि का शासक कनिष्क था वहां तो कभी शक सवत्सर प्रचलित हुआ ही नहीं, वहां तो आज भी विक्रम सवत्सर ही प्रचलित है। शक संवत्सर का प्रचलन तो महाराष्ट्र और दक्षिण में ही रहा। फिर भी विदेशी इतिहासकारों के कल्पनाश्व अभी तक तो विजयध्वज लिए ही घूम रहे हैं। अभी तक तो कालिदास तुल्य प्रतिभाशाली कवि मध्यम कोटि के कवि अश्वघोष की उक्तियों को चुराने वाला ही माना जाता है। पता नहीं कब तक विदेशी शासन हमारे मनोमष्तिकों पर अपना आदेश चलाता रहेगा।

क्या हम थोड़ा-बहुत स्वतंत्र चिन्तन आरंभ कर सकेंगे? हमारा तो विश्वास है कि हम अपने उत्कृष्ट नाटकों का भी आस्वादन तब तक नहीं कर सकेंगे जब तक हम उन्हें अपनी गौरवनिधि नहीं मानेंगे।

नाट्य तो हमारे स्मृतिकारों का भी कोपभाजन पहले ही रह चुका है। जब नाट्य शास्त्र के टीकाकार धर्मक्षति की चिन्ता करते रहे और राम-सीता के

नारद और स्वाति का सहयोग तो भरत को पहले ही उपलब्ध करवा दिया था अब उसने भरत के कहने पर अप्सराएं भी उपलब्ध करवा दीं। यों सभी वृत्तियों का अभिनय संभव हो गया। तब ब्रह्मा ने इन्द्र विजय के अवसर के सार्विकोत्सव पर अभिनय करने का उपक्रम किया। उस अभिनय में दैत्यों के विनाश और पराजय का अभिनय था अतः दैत्य (राजा विरोधी) विघ्न करने लगे। इन्द्र ने जर्जर से रंग की रक्षा का उपाय किया पर वह पर्याप्त नहीं था। तब ब्रह्मा ने अभियन्ता विश्वकर्मा से नाट्यगृह बनवाया। उसमें सुरक्षा के लिए भी प्रबंध किये गये। तब भी विघ्न समाप्त नहीं हुए। तब ब्रह्मा ने दैत्यों को समझाया कि भाई, यह तो प्रतीकों के माध्यम से सभी शास्त्रों, सभी कलाओं, सभी विद्याओं के प्रचार का उपक्रम किया गया है। अभिनय के आकर्षण के लिए दो पक्ष बनाने पड़ते हैं। नायक-प्रतिनायक बनाये जाते हैं, युद्ध-विजय आदि के दृश्य रखे जाते हैं। ये सचमुच तुम्हारी पराजय की कथा नहीं है। प्रतीकों के अर्थ समझाए :- देव कौन हैं, दैत्य कौन हैं, राम कौन है, रावण कौन है, वृत्र कौन है, इन्द्र कौन है, कंस कौन है, कृष्ण कौन है। दैत्य समझ गये। उन्होंने नाट्य का प्रवर्तन होने दिया। उसका प्रचार-प्रसार होने लगा। पर यह घटना भी चार साढ़ेचारहजार वर्ष पुरानी तो है ही। वेदों की रचना पांच हजार वर्ष पूर्व मानें तो यह उससे पांच-सात सौ वर्ष बाद की घटना होगी। पर तब भी श्रीलंका (सिंहल) से उत्तर में वंक्षुतट तक भारत एक था। पूर्व में प्राग्ज्योतिष से पश्चिम में आर्यान् (ईरान्) तक एक था। ब्रह्मा द्वारा उदाहृत और भरत द्वारा प्रोक्त नाट्य इस समग्र देश के मनोरंजन का साधन था। इस से अधिक वह ज्ञान को जन-जन तक पहुंचाने का कान्तासंमिततयो-पदेशयुजे' वाला साधन था।

भरत को नाट्यशास्त्र के प्रवर्तन के लिए ब्रह्मा ने क्यों चुना ? कारण यह था कि तब तक अभिनय का शास्त्र तो बना नहीं था पर वह भरत के पास कला के रूप में विद्यमान था। भरत एक नट था। वह 'कइरुनट' था, रस्सी पर चलकर ज्योतिष का ज्ञान जन-जन तक रोचक पद्धति से पहुंचाता था। आकाश में बारह रस्सियां तान कर, आकाश को बारह भागों में बांटकर कभी सूर्य का उत्तरायण-दक्षिणायन-संक्रमण दिखाता; कभी चंद्र की राशि क्रीड़ा (रासक्रीड़ा) का प्रदर्शन करता; कभी गुरुचांद्री योग स्पष्ट करता। वह नारद से संगीत और नीलकंठ से नृत्य और नृत्त सीख चुका था। बस उसका प्रदर्शन तब तक शास्त्र नहीं था। कला मात्र था। कला भी तमिल का शब्द है जिसका अर्थ है धागा। उत्तर भारत में पहुंचे में बँधी कला (तमिल रूप 'कलै') के कारण पहुंचे का एक पर्याय कलाई हो गया है। पर कलाई में बंधने वाला धागा भी कलावा (कलाप) कहलाता है। 'कला' या धागे का प्रयोग तब किया जाता था जब बारह राशियों में विभक्त आकाश का अंशों औरकलाओं में सूक्ष्मतर विभाजन किया जाता था। जब कला-

बाजी नट कलाओं पर भी चलता था तो दर्शक अत्यधिक प्रसन्न होते थे। कलाबाजी की यह अद्भुत कुशलता आज भी 'कलाबाजी' कहलाती है। ब्रह्मा ने भरत की कलाबाजियां देख रखी थीं, अतः अपने नवनिर्मित शास्त्र को क्रियान्वित करने के लिए उसे ही कार्यभार सौंपा। फिर भी उसे सहयोग देने के लिए नारद से भी आग्रह किया और उसे अभिनय के संगीत पक्ष का अधिकार सौंपा। भरत ने प्रथम श्लोक में जिन दो गुरुओं को प्रणाम किया है वे पितामह-महेश्वर उसके अभिनय और नृत्य के गुरु थे। पितामह को पितातुल्य गुरु से पहले प्रणाम करना स्वाभाविक था, केवल छेकानुप्रास के लिए ऐसा नहीं किया गया था। अभिनय का गुरु पितामह ही था, अतः उसी के उपदेश का प्रवचन नाट्यशास्त्र में है। टीकाकारों के इस कथन में कोई दम नहीं है कि ब्रह्मा-महेश्वर भक्त के मतत्रय की सारासारता पर विचार करके ब्रह्मा के मत की स्थापना की गयी है। मेरी कामना है कि कोई अभिनय कला निपुण विद्वान् नाट्य शास्त्र के मूल पाठ के सहारे उस पर विस्तार से प्रकाश डाले। तभी 'द्विभूमिक' जैसे नाट्यगृहों की तथा भास के 'नाटकैर्बहुभूमिकैः' की समस्या पर प्रकाश पड़ सकेगा। जब तक कोरे दर्शन शास्त्री टीकाएं रचेंगे तब तक तो 'द्विभूमिक' के चार-चार अर्थ भी प्रस्तावित होकर आपके मनस्तोष के हेतु नहीं बन सकेंगे।

मुझे तो अपने परिश्रम की सफलता का विश्वास तभी हो पाएगा जब मेरे दस पाठक भी मान लेंगे कि नाट्यशास्त्र हमारा अपना है, हमने उसे यवनों से भिक्षा में नहीं प्राप्त किया था। विदेशियों की तो कहानी बड़ी योजनाबद्ध थी। कालिदास को गुप्त काल में बता दिया, भास को उससे थोड़ा पहले और अश्वघोष को उन दोनों का पूर्ववर्ती, कनिष्क का दरबारी। कनिष्क को बता दिया 78 ई० का जिसने शालिवाहन शक संवत् चलाया। कैसी विचित्र बात है कि जिस भूमि का शासक कनिष्क था वहां तो कभी शक संवत्सर प्रचलित हुआ ही नहीं, वहां तो आज भी विक्रम संवत्सर ही प्रचलित है। शक संवत्सर का प्रचलन तो महाराष्ट्र और दक्षिण में ही रहा। फिर भी विदेशी इतिहासकारों के कल्पनाश्व अभी तक तो विजयध्वज लिए ही घूम रहे हैं। अभी तक तो कालिदास तुल्य प्रतिभाशाली कवि मध्यम कोटि के कवि अश्वघोष की उक्तियों को चुराने वाला ही माना जाता है। पता नहीं कब तक विदेशी शासन हमारे मनोमस्तिष्कों पर अपना आदेश चलाता रहेगा।

क्या हम थोड़ा-बहुत स्वतंत्र चिन्तन आरंभ कर सकेंगे? हमारा तो विश्वास है कि हम अपने उत्कृष्ट नाटकों का भी आस्वादन तब तक नहीं कर सकेंगे जब तक हम उन्हें अपनी गौरवनिधि नहीं मानेंगे।

नाट्य तो हमारे स्मृतिकारों का भी कोपभाजन पहले ही रह चुका है। जब नाट्य शास्त्र के टीकाकार धर्मशास्त्र की चिन्ता करते रहे और राम-सीता के

शृंगार के रति भाव का आस्वादन प्रेक्षकों को करवाते रहे तो स्मृतिकारों को क्या दोष दें ? उन्हें बताया जाता कि ब्रह्मा ने क्यों इस वेद की कल्पना की तो कदाचित् वे निषेध सूची में उसे स्थान न देते। ब्रह्मा ने तो विघ्नों से स्पष्ट कहा था—

भवता देवतानां च शुभाशुभविकल्पकः।
कर्मभावान्वयापेक्षी नाट्यवेदो मया कृतः ॥106॥
नैकान्तोऽत्र भवतां देवानांचानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥107॥
क्वचिद्धर्मः क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥108॥
धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमः क्रिया ॥109॥
क्लीवानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ॥110॥
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ॥111॥
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥112॥
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत् ॥113॥
[एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोके भविष्यति ॥]
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥114॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥115॥
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥116॥
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥117॥
देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ॥118॥
[वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥119॥

श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥

(अर्थ पहले दिया जा चुका है)

ऐसी गरिमा वाले नाट्यवेद की उसी के देश में क्या दशा हुई, यह सर्वविदित है। वह निषिद्ध सूची में स्थान पा गया। बेचारा अभिनेता 'जायाजीवी' की उपाधि से विभूषित हो गया। मुनि भरत द्वारा प्रचारित धर्म के पालन का यह पुरस्कार ! परिस्थितियां शब्दों के ऐसे ही अर्थ विकास करती है। किसी समय देव-विग्रह के सम्मुख नृत्य करके समाज में आदर पाने वाली देवदासियां जब 'भक्तिनें' कहलाने लगी तो राजस्थान में 'भक्तन' का अर्थ ही वेश्या हो गया। जो देश अपनी संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकता उसके शब्दों के ऐसे अर्थ विकास होने स्वाभाविक हैं।

पर हमें तो अब भी कालिदास का श्लोकांश याद आ रहा है—

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

भारत का ललित साहित्य : एक विहंगम दृष्टि

विगत अध्यायों में भारतीय साहित्य के चार महास्तंभों—रामायण, महाभारत, पुराण और वृहत्कथा—का किंचित् परिचय दिया गया है। अब इस बात पर विचार करेंगे कि उन महाग्रंथों के उपजीवी भारतीय साहित्य में जिस प्रकार विविध धाराएं प्रवाहित हुईं फिर भी समग्र साहित्य का बहुत विशाल भाग मुख्यतः इन्हीं चार स्तंभों पर टिका हुआ है। भारतीय साहित्य में सबसे प्राचीन है संस्कृत साहित्य जिसके साथ प्राकृत साहित्य का भी चोली दामन का संबंध है। प्राकृत साहित्य में रावणवहो, गौडवहो, कर्पूरमंजरी जैसी स्वतंत्र रचनाएं भी हैं पर उसका अधिकांश साहित्य संस्कृत नाटकों के द्विजेतर वक्ताओं द्वारा ही प्रयोजित हुआ है। संस्कृत के पश्चात् प्राचीन परंपरा वाला वाङ्मय है तमिल का। अतः तदनन्तर उसका विवेचन होगा। उसके पश्चात् अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का विवेचन प्रायः अकारादि क्रम से किया जाएगा।

संस्कृत—संस्कृत भाषा का ललित साहित्य बहुत विशाल है। उसकी परंपरा भी दो सहस्र वर्षों से अधिक की ही है। पर हम उसके उसी भाग की विवेचना करेंगे जिसका उपर्युक्त चार महास्तंभों से संबंध है। विदेशी इतिहास लेखकों के अनुसार पाणिनि आज से अढ़ाई सहस्र वर्ष पूर्व हुए और पाणिनि के एक सूत्र 'पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' से प्रतीत होता है कि उससे पूर्व भी कोई नाट्य शास्त्र था। यों स्पष्ट है कि उससे पूर्व रूपकादि की रचना भी होती थी पर उतने प्राचीन नाट्य वाङ्मय का कोई अंश उपलब्ध नहीं हैं, स्वयं पाणिनि रचित जाम्बवती विजय काव्य भी उपलब्ध नहीं है यद्यपि वह पुराणाश्रित ही रहा होगा। हमारा विचार है कि अभिनेय वाङ्मय का पहले निर्माण हुआ, श्रव्य का बाद में। इसीलिए नाट्यशास्त्र की ही प्राचीनतम रचना मिलती है और अलंकार शास्त्र के आचार्य उसे प्रमाण भी मानते रहे हैं। उपलब्ध ललित वाङ्मय में भी भास के रूपक ही प्राचीनतम हैं।

महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने भास के तेरह रूपक खोज निकाले है और भास-नाटक-चक्र प्रकाशित हो चुका है। इन सभी रूपकों के आधार रामायण, महाभारत, अथवा बड्ढकहा है। रूपकों के नाम हैं : बालचरित, अभिषेक, मध्यमव्यायोग, दूतघटोत्कच, कर्णभार, दूतवाक्य, पंचरात्र, उरुभंग, प्रतिमा, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अविमारक और स्वप्नवासवदत्त। महाकवि भास का सादर उल्लेख करने वाला कवि शिरोमणि कालिदास है जिसके तीन नाटक अभिज्ञानशाकुंतल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र सुविदित हैं। इनमें अभिज्ञानशाकुंतल तो संसार के श्रेष्ठतम वाङ्मय में गणना योग्य है। शूद्रक का 'दरिद्र चारुदत्त' विश्वप्रसिद्ध नाटकों मे गणनीय है जिसके बीज भास के चारुदत्त मे विद्यमान थे। हर्षवर्धन की रत्नावली और प्रियदर्शिका नाटिकाए बड्ढकहा की ऋणी है तो नागानद जातक कथाओं का। भट्ट नारायण का वेणीसंहार महाभारत पर आश्रित है। भवभूति का उत्तररामचरित रामायण मूलक है तो महावीरचरित का भी वही मूल है। मालतीमाधव का उत्स क्वचित् बड्ढ कहा मे है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस का कथानक पुराणों मे बिखरा पड़ा है। राजशेखर का बालरामायण रामायणाश्रित हैं तो उसके बालभारत या प्रचंड पांडव की कथा महाभारत की है। रामकथा पर आश्रित मुरारि का अनर्घराघव और जयदेव का प्रसन्नराघव है। हनुमन्नाटक भी रामकथा पर आश्रित है।

संस्कृत के श्रव्यकाव्यो में प्रमुख स्थान महाकाव्यो का है। पाणिनि विरचित जाम्बवती विजय और वररुचि के 'वाररुच' का नामोल्लेख मात्र मिलता है। प्रथम का आधार स्पष्टत. पुराण हैं। कालिदास का रघुवंश और कुमारसंभव विश्व साहित्य मे गणना के अधिकारी हैं। इनमे प्रथम रामायण पर आश्रित है तो द्वितीय पुराणों पर। कुमारदास का जानकीहरण भी रामायण पर आश्रित है। भट्टिकाव्य अथवा रावणवध रामकथा पर आश्रित है। भारवि के महाभारताश्रित 'किरातार्जुनीय' से वैदुष्यपूर्ण काव्य रचना की परंपरा चली जो माघ के महाभारताश्रित शिशुपालवध में विकसित हुई और श्रीहर्ष के नैषध चरित मे पराकाष्ठा को पहुंची। भर्तृमेण्ठ का हयग्रीववध पुराणाश्रित रचना है। रत्नाकर का हरविजय भी पुराणाश्रित है जो कदाचित् 50 सर्गों का सबसे बड़ा महाकाव्य है। क्षेमेन्द्र विरचित रामायणमंजरी, भारतमंजरी, बृहत्कथामंजरी और दशावतारचरित क्रमश चारों स्तंभों पर आश्रित रचनाएं हैं। पांडित्य प्रदर्शन की परंपरा बढी तो द्वयाश्रय, त्र्याश्रय और विलोम काव्यों का प्रचलन हुआ। राघवपाण्डवीय में श्लेष के बल पर रामायण और महाभारत की दो कथाएं गुम्फित हैं तो राघव-पाण्डव-यदवीय मे इन दो की

कथा के अतिरिक्त भागवत की कृष्ण कथा भी है। रामकृष्ण कवि के राम कृष्ण विलोम काव्य को आरंभ से पढ़ें तो राम कथा बनती है, अत से पढ़ें तो कृष्ण कथा।

गद्य मे सुबंधु की वासवदत्ता का बीज बड्ढकहा मे है तो चम्पू काव्य नल चम्पू (त्रिविक्रम भट्ट विरचित) का महाभारत मे। भोजराज का रामायण चम्पू रामायणाश्रित है तो अनन्त कवि का भारत चम्पू महाभारत पर आश्रित है। आनन्द वृन्दावन चम्पू पुराणाश्रित है। शिवदास रचित वेताल पंचविंशति के कथासूत्र बड्ढ कहा मे हैं तो सिंहासन-द्वात्रिंशिका के भी वही हैं। सोमदेव का कथा सरित्सागर, क्षेमेन्द्र की पूर्वोल्लिखित बृहत्कथा मंजरी और बुधस्वामी का बृहत्श्लोक समुच्चय भी बड्ढकहा के संक्षेप है।

गीति रचनाओ मे गीतगोविन्द सर्वोपरि है जिसका रचयिता जयदेव है। इस जैसा कोमलकान्तपदावलि का सरस प्रवाह दुर्लभ है। सौंदर्य लहरी, गंगा लहरी, शिवमहिम्न स्तोत्र जैसे स्तोत्र भी पुराणाश्रित हैं। प्रथम में तो भूमि माता के सौंदर्य का अपूर्व वर्णन हैं। कालिदास के मेघदूत का बीज भी बड्ढ कहा मे ही प्रतीत होता है। उसने इसका संकेत—प्राप्यावन्तीमुदयनकथा-कोविदग्रामवृद्धान् मे दिया है। संस्कृत के अपूर्व ललित वाङ्मय का यह बहुत ही संक्षिप्त विवरण है। नामोल्लेख मात्र किया है पर यह समग्र वाङ्मय किन चार स्तभों पर टिका है, यह सुतरा सुस्पष्ट है। परवर्ती भारतीय साहित्य के प्रेरणा स्रोत भी इसी मे विद्यमान हैं।

तमिल—तमिल साहित्य की आरंभिक उत्कृष्ट रचनाओं मे तो बौद्ध-जैन प्रभाव अधिक प्रतीत होता है अतः शिलप्पधिकारं, मणिमेखलै, जीवक चिन्तामणि आदि का उपर्युक्त चार स्तंभों से संबंध नहीं है। पर वळयपति का उदयनकुमार कावियम् बड्ढ कहा पर आश्रित है। ईसा की छठी शताब्दी के पश्चात् तमिल मे राम भक्ति, कृष्ण भक्ति, विष्णु भक्ति और शिव भक्ति का उदय हुआ। शैव सन्तों की संख्या 63 बतायी जाती है पर तिरुज्ञान सम्बन्दर्, अप्पर्, सुन्दरर्, और माणिक्कवाचगर् प्रमुख हैं। इनके पुराणाश्रित शिव भक्ति पद तेवारम् मे संगृहीत हैं। सुन्दरर् की रचना तिरुत्तोण्डर् तिरुवन्दादि के आधार पर शेक्किऴार् ने पेरियपुराणम् की रचना की जिसमें 63 शैव सन्तों के जीवन चरित्र हैं। माणिक्कवाचगर् की दो प्रसिद्ध रचनाएं हैं—तिरुवाचगम् और तिरुक्कोवैयार्। तमिल साहित्य में मान्यता है कि जो तिरुवाचकम् से द्रवित नहीं होता वह निरा ठूंठ है—तिरुवाचकुत्तुक्कु उरुकादार् ओरु वाचकत्तिक्कुं उरुगार्। शैव सन्तों के भक्तिरस पूर्ण पदों के बारह संकलन नम्बि आण्डार् नम्बि ने किये। ये संकलन 'तिरुमुरै' कहलाते हैं। कवयित्री कारैक्काल् अम्मैयार् की रचना 'कपिलै तिरुवन्दादि' सुप्रसिद्ध है।

पुराणाश्रित वैष्णव भक्ति काव्य के रचियता आलवार भक्तों की संख्या बारह है। यथा : पायगै, पेय, भूत, तिरुमाळिशै, तिरुभंगै, तोण्डरडिपोडि, पेरिय, तिरुप्पाण्, कुलशेखर, नम्माळ्वार, आण्डाळ् और मधुरकवि। इन सभी की रचनाओं में विष्णु भक्ति की अजस्रधारा प्रवाहित हुई है। इनमें आण्डाळ् महिला कवि है और उसका नाम कौदे (पुष्पमाला) भी है। इसी का संस्कृत रूप 'गोदा' है। उसका नाम आण्डाळ् इसलिए है कि स्वयं भगवान् ने उसके आदेश का पालन उचित समझा। कुलशेखर पेरुमाळ् ने विष्णु के विविध अवतारों का वर्णन किया है। नम्माळ्वार् की चार रचनाओं का तो चार वेदों के तुल्य आदर हैं। तमिलों में प्रसिद्धि है कि भगवान् रंगनाथ ने कंबर् की रामायण को तभी स्वीकार किया जब कम्बर् ने नम्माळवार् की प्रशंसा में भी रचना की। कहते हैं उस रचना को सुनने पर रंगनाथ के विग्रह से यह वाणी निकली : नम्माळ्वार् अर्थात् हम ही है आळ्वार्। नाथमुनि ने आळ्वार भक्तों की रचनाओं का एक संग्रह नाळायिर दिव्यप्रबन्धम्' नाम से किया है जिसका अर्थ है—चतुःसाहस्रो।

भक्तिकाल के पश्चात् तमिल साहित्य में साहित्यिक पुनर्जागरण का काल आया। उसमें कम्बर् की रचना 'कम्ब रामायणं' सुप्रसिद्ध है। कहते हैं संघम् काल में एक 'रामायण' की रचना हुई थी पर वह उपलब्ध नहीं है। एक जैन कवि ने भी रामायण की रचना की थी पर वह लुप्त हो गई है।

कम्ब रामायण में छः काण्ड हैं और साढ़े दस हजार पद हैं। इसमे अनेक ऐसे प्रसंगों की उद्भावना है जो वाल्मीकि की रचना मे नहीं थे। कम्ब रामायण विश्वसाहित्य के स्तर की रचना मानी जाती है। उसके परवर्त्ती ओट्टकूक्तर् ने रामायण के उत्तरकाण्ड की दो सहस्र छंदों में रचना की है। यों तमिल रामायण संपूर्ण हुई।

इसी काल में पुकळेन्दि पुलवर् हुआ जिसने वेण्वा छंद मे महाभारतोक्त नल-दमयन्ती कथा की रचना की। अव्वैयार नामक कवयित्री ने भी नलवळि नामक रचना की। इसी काल की रचना कन्दपुराणम् है जो स्कंद पुराण का तमिल रूप है। अतिवीर राम पाण्डियन् ने नैडदम् (नल दमयंती कथा), कूर्म-पुराणम्, लिंगपुराणम्, काशीखंडम् जैसे पुराणाश्रित काव्यो की रचना की।

विल्लिपुत्तूरर् ने मधम् शैली में भारत पर आश्रित 'भारतम्' की रचना की। नल्ल पिळ्ळै नामक अन्य कवि की भी 'भारतम्' नामक रचना है। इसमे उन प्रसगों को लिया गया है जिन्हें विल्लिपुत्तूरर् ने छोड़ दिया था। अरुणगिरि नाथर् की तिरुप्पुहळ, कन्दर अन्तादि, यमक अन्तादि,कन्दर अलंकारम्, कन्दर् अनुभूति आदि कृतियां स्कन्द पुराण पर आश्रित हैं। तिरुवावडुतुरै मठ के नमशिवाय देशगिर्, ईशान देशगिर् और शिवज्ञान

मुनिवर ने शिव भक्ति मूलक रचनाएं की। वीर शैव मठ के शिवप्रकाश, तायमुनिवर, रामलिंग स्वामी, तनुरायर् आदि ने भी भक्ति रचनाएं की हैं। वैष्णव पिळ्ळै पेरुमाळ अय्यंगार का अष्ट प्रबंधम् और शैव लेखक एल्लप्प नावलर् के अनेक पुराणों की रचना भी तमिल साहित्य में उपलब्ध हैं।

इस युग में भी रामायण और महाभारत से लेखक पूरी तरह विरत नहीं हुए हैं। भारत के एकमात्र भारतीय गवर्नर जनरल श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने रामायण कथा को सरल और सरस गद्य शैली में प्रस्तुत किया। जिसका नाम चक्करवर्ति तिरुमगन् है। श्रीनिवास राघवन् 'वेळ्ळैपारवँ' नामक रचना में श्रीकृष्ण को नहीं भूले है। इस प्रकार तमिल के समृद्ध साहित्य को भी भारतीय साहित्य के चार महास्तंभों का भरपूर योगदान मिला है।

असमिया—असमिया साहित्य का आरंभ ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरंभ से माना जाता है। इसके आरंभिक या आदि युग की रचनाओं में बिहुगीत, बियानाम, आइनाम, धाइनाम जैसे लोकगीत, देहविचार गीत, चर्यागीत जैसे आध्यात्मिक विषयों के गीत और डाक महापुरुष के नीतिवचन उपलब्ध होते है। 'बियानाम' विवाह के अवसर पर गेय महिला गीत हैं। इनमें सीता-राम, रुक्मिणी-कृष्ण उषा-अनिरुद्ध जैसे पौराणिक चरित्रों के विवाहोत्सवों के मधुर और मनोरंजक वर्णन द्रष्टव्य हैं। आइनाम में पुराणोक्त देवियों की स्तुतियां हैं। धाइनाम में लोरी के रूप में चांदसितारों की आंख मिचौनी के तथा चंद्रलोक की सैर के वर्णन मिलते हैं। देहविचार में ब्रह्माण्ड तथा पिंड के नव द्वारों से संबंधित उक्तियां हैं। चर्यागीतों में भी आध्यात्मिक चिंतन है। ये सब तो पुराणाश्रित वाङ्मय के अन्तर्गत आते हैं। पर डाक की उक्तियों में तो स्पष्टतः ज्योतिष ज्ञान भरा है।

असमिया साहित्य के मध्ययुग में साहित्यिक प्रतिभाएं अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंची। पर उस युग का साहित्य भी मुख्यतः पुराणाश्रित है। इस युग में हेम सरस्वती ने प्रह्लाद चरित्र और हर-गौरी संवाद नामक काव्यों की रचना की। रुद्रकन्दली ने महाभारत के कुछ अंशों का असमिया में रूपान्तर किया। उसका सात्यकि-प्रवेश युद्ध दृश्य का अपूर्व चित्रण करता है—बिल्कुल महाभारत की टक्कर का। हरिहर विप्र की दो रचनाएं बभ्रुवाहन युद्ध और लवकुश युद्ध भी वीररस के उत्कृष्ट काव्य है। इनमें रामायण और महाभारत के मूल कथानकों को बिना तोड़े-मरोड़े असमिया जन-जीवन और परिवेश का अद्भुत चित्रण है। माधव कन्दलि ने रामायण को असमिया में प्रस्तुत किया है। यह कदाचित् उत्तरी भाषाओं में रामकथा का प्राचीनतम निरूपण है। माधव में भावों की मौलिकता, वर्णनों की सुन्दरता, भाषा की मधुरता, अर्थ की गंभीरता आदि की दृष्टि से देखें तो लगता ही नहीं कि यह भाषान्तर है। सर्वत्र कवि प्रतिभा का अपूर्व

निखार है। माधव कृत रामायण के आदि काण्ड और उत्तरकाण्ड उपलब्ध नही है। माधवदेव ने आदि काण्ड की और शंकरदेव ने उत्तर काण्ड की रचना करके विलुप्त कथा की पूर्ति की। माधव कन्दलि के देवजित और ताम्रध्वज काव्य भी मिलते हैं। उसी के युग के दो अन्य कवि हैं दुर्गावर और पीताम्बर। दुर्गावर की रचना 'गीतिरामायण' है और पीताम्बर की 'उषा-परिणय'। पर माधव कन्दलि अपने युग का वस्तुतः शिरोमणि है। उसी के हाथों भावी शंकरदेव युग की आधार शिला रखी गयी थी।

शंकर असमिया के तुलसीदास-सूरदास तुल्य माने जा सकते हैं। इनका युग असमिया का स्वर्ण युग है। उनकी सर्वोत्तम रचना 'कीर्तिघोषा' है। उसके सत्ताईस खंडों में विभिन्न पौराणिक आख्यानों के माध्यम से भक्ति की गरिमा का प्रतिपादन है। असमिया में नाटक साहित्य के जन्मदाता भी शंकर देव ही हैं। पत्नी प्रसाद, कालीय दमन, केलि गोपाल, रुक्मिणी हरण, पारिजात हरण, और राम विजय उन्ही के रचे नाटक हैं। ये अंकीया नाट या भाओना नाट कहलाते हैं। इन नाटकों में गद्य का भी प्रसंगोचित प्रयोग है। शंकरदेव ने अढाई सौ के लगभग बर-गीतों की भी रचना की थी जिनमे कोई तीस अब उपलब्ध हैं। उनकी काव्य रचनाओं में हरिश्चन्द्र उपाख्यान, रुक्मिणी हरण, बलिछल, अमृतमंथन, गजेन्द्र उपख्यान, अजामिल उपाख्यान और कुरुक्षेत्र प्रसिद्ध हैं। भक्ति प्रदीप, भक्ति रत्नाकर, उत्तरकाण्ड रामायण आदि भी शंकरदेव की ही अद्भुत कृतिया है। असमिया साहित्य मे शंकरदेव ही मूर्धन्य कवि है।

यदि शंकरदेव को असमिया का तुलसी मानें तो माधवदेव सूर है। चोर-धरा, पिपरा गुचोवा, दधिमथन, भूमि लेटोवा, भोजन विहार, अर्जुन मेल आदि में माधव देव ने बालकृष्ण की लीलाओं का अद्भुत मनोहारी वर्णन किया है। इनके नाटकों में हास्य रस का भी हल्का-सा हृदयमोहक समावेश है। इनके सभी नाटक अंकीया हैं। 'नाम घोषा' माधव के पदो का अपूर्व संग्रह है। माधव देव की कवि प्रतिभा का यह निकषोपल है। सरस भक्ति की अजस्र धारा प्रवाहित हुई है 'नाम घोषा' मे।

अनन्त कंदलि की रचनाओं में कुमार हरण, महीरावण वध, वृत्रासुर वध, मध्य दशम, शेष दशम तो उल्लेख योग्य है ही पर इनकी विरचित रामायण में तो भक्ति की धारा और भी वेगवती है। राम सरस्वती असमिया महाभारत के लिए विख्यात है। अद्भुत किन्तु अति सरल भाषा में निबद्ध इनका महाभारत बेजोड़ रचना है। इन्होने वधकाव्यों की एक परंपरा आरंभ की। बकासुर वध, कुलाचल वध, अघासुर वध, जटासुर वध, खटासुर वध, आदि वधकाव्य हैं तो भीमचरित्र, पांचाली विवाह, अश्वकर्ण

युद्ध आदि भी महाभारतान्वयी रचनाएं हैं। श्रीधर कन्दलि का कनखोवा लोरी गीत है पर कृष्ण भक्ति परक। दूसरी रचना 'घुनुचा कीर्तन' में रुक्मिणी के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।

असमिया में गद्य के प्रवर्तक भट्टदेव हैं जिनकी रचनाए 'कथा भागवत' और 'कथा गीता' सर्वविदित हैं। असमिया का बरुंजी युग यद्यपि प्राकृतजन के गुणगान का युग अधिक रहा पर फिर भी प्रेम भक्ति काव्य से यह युग भी वंचित नहीं है। ब्रह्म वैवर्तपुराण, गीतगोविन्द, शंखचूड वध, शकुंतला आदि के रचयिता कविराज चक्रवर्ती ही उस युग के भी अग्रणी कवि है। सम्पूर्ण असमिया वाङ्मय इस बात का साक्षी है कि वह भी मुख्यतः चार महास्तंभों पर ही टिका हुआ है।

ओड़िया—ओडिया के साहित्य का आरंभ तो नाथ पंथियों की रचनाओं से हुआ था जिसका विकास बौद्ध धाराओं से हुआ लगता है और आरंभिक रचनाएं कलसा चौतीशा ही अधिक हैं जो 'अखरावट' के समान 'क' से लेकर 'क्ष' तक के अक्षरों से आरंभ हुई पंक्तियों के मेल से बनती हैं। पर काव्यधारा का वास्तविक प्रवाह सारलादास से ही उद्‌गत हुआ। सारलादास ही ओडिया साहित्य के सच्चे जन्मदाता हैं। इस महाकवि ने महाभारत, विलंका रामायण, चंडी पुराण, लक्ष्मीनारायणी वचनिका आदि अनेक अपूर्व रचनाए प्रस्तुत की। सारलादास का महाभारत वेदव्यास के महाभारत के ढांचे पर निर्भर होते हुए भी कवि की मौलिक उद्‌भावनाओं से ओतप्रोत है। महाभारत की सामरिक सज्जा मे ओडिया सैनिको की वेशभूषा, दुर्गनिर्माण प्रणाली तत्कालीन मल्लयुद्ध, सैन्य दलों—हरोल, चन्दोल आदि का विन्यास, अस्त्र शस्त्रों के वर्णन आदि में सारलदास ने अपने युग को ही उद्‌घाटित किया है। यहां तक कि गोलकुंड-विजयनगर जैसे दुर्गों का भी उल्लेख है। सारलादास का चण्डी पुराण कालिका पुराण तथा देवी भागवत पुराण पर आधारित है।

सारला परवर्त्ती युग में मार्कण्डदास की केशव कोइलि; अर्जुनदास की राम विभा तथा गोपीचंदन काव्य; नीलाम्बर दास रचित जैमिनी भारत, पद्म पुराण, रुद्रस्तुति; चैतन्यदास रचित विष्णु गर्भपुराण आदि प्रमुख रचनाएं हैं।

उसके बाद चैतन्य प्रेरित भक्ति धारा का प्रवर्त्तक पंचसखा युग प्रवृत्त हुआ। बलरामदास, जगन्नाथदास, अच्युतानंद, यशोवंत और अनन्तदास के समूह के लिए 'पंचसखा' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्होने भक्ति काव्य की अजस्र धारा प्रवाहित की। इस युग का उदात्त काव्य है कोमलकान्त पदावलि से संपन्न भागवत। सारला महाभारत के बाद लोकप्रियता में जगन्नाथदास का भागवत ही है। बलरामदास का रामायण और अच्युतानंद का हरिवंश भी

विशाल ग्रंथ हैं जिनमें उत्कल के समसामयिक जीवन को चित्रित होने का अवसर मिला है।

जगमोहन और ढाण्डि की रामायण रचनाएं वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा अध्यात्म रामायण की ओर अधिक उन्मुख हैं। इनमे कवियों ने अपनी कल्पना-कुशलता का अपूर्व परिचय दिया है। रामायण कथा के परवर्त्ती गायको— उपेन्द्र भंज, धनंजय भंज, महादेवदास, कान्हुदास, विश्वनाथ खुंटिया, हरिहरदास, पीतांवरदास और मागुणि पट्टनायक आदि ने भी वाल्मीकि रामायण का अनुसरण न करके बलरामदास की रचना का ही अनुसरण किया है। पंचसखा युग में रचित अच्युतानंद के 'हरिवंश' मे भी मौलिक भावनाएं भरपूर हैं। पंचसखा साहित्य मे श्रीक्षेत्र जगन्नाथ को शून्य माना गया है तो राधा और श्री कृष्ण को परब्रह्म तथा शून्य रूप में घट के मध्य माना गया है। पिण्ड ब्रह्माण्ड तत्त्व को सन्त साहित्य में बहुत विस्तार मिला है। सारला काल मे जो साहित्य केवल इयत्ता में विस्तृत हुआ था वह पंचसखा काल मे ईदृक्ता की दृष्टि से भी उत्कर्ष के शिखर पर पहुंचा। पंचसखा साहित्य का अनुसरण कर वाङ्मय वृद्धि करने वाले अन्य लेखक है : चैतन्य भागवत-कार ईश्वरदास; प्रेमरस चन्द्रिका, शिव पुराण और परचे गीता के रचयिता द्वारकादास; श्री जगन्नाथ चरितामृत के प्रणेता दिवाकरदास; रस विनोद, नामरत्न गीता आदि के निर्माता दीनकृष्णदास और महामंडल गीता के गायक अरक्षित दास।

भंज युग ओडिया साहित्य का काव्य युग कहा जाता है जिसमे काव्य शास्त्र के विद्वानो ने शास्त्रज्ञान के बल पर रचनाएं की। ये रचनाएं काव्य शास्त्र की प्रौढ़ता तो व्यक्त करती हैं पर भाषा की सरलता और स्वाभाविक स्फूर्ति से शून्य हैं। फिर भी काव्य चमत्कार और अनुप्रासमयी शब्दावली काव्य रचनाओं को मनोरम वनाये रखती है। इस युग के तीन प्रधान कवि है : दीनकृष्णदास, उपेन्द्र भंज, और अभिमन्यु सामन्त सिंहार। दीन कृष्ण के ककहरा क्रम के कृष्णमूलक रसात्मक काव्य 'रस-कल्लोल' को ओडिया साहित्य का गीत-गोविन्द माना जाता है। इसी कवि की अन्य रचनाएं रसविनोद, जगमोहन, अमृत सागर बोलि, आरत त्राण और राउतिया आदि हैं जिनमें भक्ति के गेय पद है। उपेन्द्र भंज ने 'व' अक्षर से आरंभ 'वैदेहीश विलास' की रचना की और 'स' अक्षर से सुभद्रा परिणय की। 'कला कौतुक' कादि और कान्त कविता है। भंज की अन्य रचनाएं लावण्यवती, प्रेमसुधानिधि, रसिक हारावली, सुवर्ण रेखा और कोटि ब्रह्माण्ड सुंदरी है। उपेन्द्र भंज को 'कवि सम्राट' की आख्या प्राप्त थी।

काव्यकाल मे काव्यों की दुरूहता और पुराणों की सरलता के संमिश्रण से पाला साहित्य की सृष्टि हुई। आजकल भी इस कोटि का साहित्य बहुत

लोकप्रिय है। इस काल में भूपति पंडित ने प्रेमपंचामृत, त्रिविक्रम भंज ने कनकलता, लोकनाथ ने चित्रकला, व्रजबन्धु ने रामलीला और विश्वनाथ खुटिया ने विचित्र रामायण की रचना करके ओडिया साहित्य की श्री वृद्धि की।

ओडिया नाटक साहित्य में भी पुराणों का आधार ग्रहण किया गया है। खड्गप्रसाद का पद्मावती हरण और रघुनाथ परिजा का गोपिनाथ वल्लभ ऐसे ही नाटक हैं। सार यह है कि ओडिया साहित्य का बहुत बड़ा और गौरवपूर्ण भाग भी उक्त चार महास्तंभों पर आश्रित है।

कन्नड—कन्नड साहित्य की प्राचीनतम रचना नृपतुंग की कविराजमार्ग मानी जाती है जो वस्तुत: काव्यशास्त्र का एक ग्रंथ है। कुछ लोग उसे श्रीविजय की रचना मानते हैं। इसमें तीन परिच्छेदों में गुण, दोष, ध्वनि, रस, भाव, काव्य पद्धति, प्रयोजन आदि का उल्लेख है। यह नवीं शती की रचना है। पर वस्तुत: काव्य रचनाओं का आरंभ पंपयुग से हुआ। इस युग के तीन प्रमुख कवि पम्प, पोन्न तथा रन्न 'रत्नत्रयी' के नाम से ख्यात हैं। पंप की दो रचनाएं प्रसिद्ध हैं। आदि पुराण और विक्रमार्जुन विजय। प्रथम में ऋषभदेव का पुराणोक्त जीवन चरित है तो द्वितीय में महाभारत के कथानक का निरूपण है। पंप दशम शताब्द में हुए और कन्नड के आदि कवि माने गए। पोन्न की दो रचनाएं हैं—शान्तिपुराण और भुवनैक रामाभ्युदय। रन्न की भी दो ही रचनाएं उल्लेख्य हैं : अजित पुराण और साहस भीमविजय (अन्य नाम 'गदायुद्ध') गदायुद्ध में वीर रस का अद्‌भुत परिपाक हुआ है। उसी से रन्न की कीर्ति कालजयी बनी।

पंप युग के अन्य कवि हैं : चाउण्डराय, नागवर्मा, दुर्गसिंह, चन्द्रराज, नागचन्द्र, आदि। चाउण्डराय के चाउण्डराय पुराण में कन्नड गद्य का प्रांजल रूप दृष्टिगोचर होता है।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच प्रसिद्ध कवि नागचंद्र ने पंपभारत के अनुकरण पर रामायण की रचना की। नागचंद्र ने मल्लिनाथ पुराण और रामचन्द्र चरित पुराण की रचना की।

बारहवीं शती के उत्तरार्ध से पन्द्रहवीं शती तक का कन्नड साहित्य युग बसव युग कहलाता है। इस युग में प्रबल धार्मिक क्रान्ति हुई जिसके अग्रणी थे बसव, बसवण्णा अथवा बसवेश्वर। इस युग की प्रमुख विशेषता यह है कि संस्कृत-निष्ठ कन्नड का स्थान बोलचाल की कन्नड ने लिया। इस युग के साहित्य की श्रीवृद्धि में भक्ति का अपूर्व योगदान रहा। वीर शैव भक्तों अर्थात् शिव शरणों ने गद्य गीतों को जन्म दिया जो वचन नाम से अभिहित हुए। प्रथम वचनकार

देवरदासिमय्य माने जाते हैं। वचनकारों की कुल संख्या कोई 250 है। शिव शरणों में तीन श्रेष्ठ कवि हुए हैं : हरिहर, राघवांक और पद्मरस।

पन्द्रहवीं शती से आरंभ हुई चार शतियों में कन्नड वाङ्मय में वैष्णव भक्ति धारा प्रवाहित हुई। साहित्य जनता के अधिक निकट आया। इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं नारणप्पा जो कुमारव्यास नाम से प्रख्यात हुए। वे भागवत संप्रदाय के प्रमुख कवि थे। उनकी दो रचनाएं है : कन्नड भारत और ऐरावत। प्रथम का नाम 'कर्नाट भारत कथा मंजरी' और 'गदुगिन भारत' भी मिलता है। 'कन्नड भारत' मे महाभारत के आरंभिक दस पर्वों की कथा वर्णित है। पंप के 'भारत' में जैन दृष्टि अधिक थी। कन्नड भारत में वैसा नहीं था। अतः उसकी लोकप्रियता अधिक बढ़ी। इस रचना के पश्चात् रामायण, महाभारत और भागवत के कथानकों के आधार पर षट्पदि शैली में अनेक उत्तम काव्य रचे गये। कुमार व्यास के मार्ग पर ही चलकर नरहरि (अन्य नाम कुमार वाल्मीकि) ने तोरवे रामायण की रचना की। वह कन्नड की उत्कृष्ट कृति है और भक्ति प्रधान काव्य है। कुमार व्यास से प्रेरणा पाकर तिम्मण्ण ने महाभारत के अंतिम आठ पर्वों की कथा का निरूपण 'कृष्णराजभारत' नाम से किया। भागवत का भामिनी षट्पदी छंद मे प्रथम पद्यानुवाद चाटुविट्ठलनाथ ने किया। लक्ष्मीश की रचना जैमिनि भारत भी इसी काल की है जिसमें वर्णन बहुत ही मर्मस्पर्शी हैं। कवि रुद्र भट्ट ने 'जगन्नाथ विजय' द्वारा संस्कृत काव्यों के कन्नड प्रतिरूप प्रस्तुत करने की परम्परा चलाई थी। उसी परंपरा मे नागरस ने 'भगवद् गीता' का कन्नड़ पद्यानुवाद वासुदेव-कथामृत सार नाम से किया।

भागवत सम्प्रदाय के लोगों ने प्रबंध काव्यों का प्रणयन किया था तो मध्व मत वालों ने गीत, भजन, कीर्तन रचकर भक्ति का संदेश घर-घर पहुंचाया। इन गायक भक्तों के दो दल बन गये थे जो व्यासकूट और दासकूट नाम से जाने जाते थे। प्रथम दल में ब्राह्मण अधिक थे तो द्वितीय में ब्राह्मणेतर। ये भक्त हरिदास कहलाते थे। इन हरिभक्तों के गीतों को अपार लोकप्रियता मिली। श्रीपादराय, पुरंदरदास, कनकदास आदि के रचित गीत उसी प्रकार घर-घर में गाये जाते हैं जिस प्रकार उत्तर भारत में सूर या मीरां के। तिरुमलार्य, सिंगरार्य, चिक्कुपाध्याय, होन्नम्मा, हेळवन कट्टे, गिरियम्म, महालिंग रंग कवि आदि श्रीवैष्णव संप्रदाय के भक्त कवि हैं। इनमे होन्नम्मा कवयित्री हैं। एक अन्य कवयित्री गिरियम्मा है जिसने चंद्रहास कथा, सीताकल्याण, उद्दालक कथा तथा अनेक भक्ति गीतो की रचना की। षडक्षर नामक वीर शैव कवि ने शिव लीला को आधार मान कर 'राजशेखर विलास' और 'शबरशंकर विलास' की रचना की। देवचंद्र कवि ने 'रामकथावतार' लिख

कर जैन रामायण की परंपरा का समर्थन किया। लक्ष्मीनारायणप्पा की तीन सरस रचनाएं हैं : राम पट्टाभिषेक, रामाश्वमेध तथा अद्भुत रामायण। कृष्णराजकृत माना जाने वाला 'कृष्णराज वाणीविलास महाभारत' संपूर्ण महाभारत का गद्यानुवाद है। यों भारतीय साहित्य के चार महास्तंभों पर कन्नड साहित्य भवन का भी बहुत बड़ा भाग अवस्थित है। आधुनिक साहित्य के महारथी कु० वें० पुट्टप्पा की रामायणदर्शनम् नामक रचना इस बात का निदर्शन है। उत्तररामचरित, रत्नावली, वेणीसंहार, विक्रमोर्वशीय, मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक, हरिश्चंद्र और शाकुंतल के संस्कृत से कन्नड में अनुवाद तो हुए ही हैं; पर रुक्मिणीस्वयंवर, लंकादहन, कृष्णपारिजात जैसे मौलिक नाटकों के लेखन और मंचन भी हुए हैं।

कश्मीरी—यह उस भूमि की भाषा है जहां कभी वस्तुत: संस्कृत बोली जाती थी और देश भर के छात्र संस्कृत का शुद्ध उच्चारण सीखने यहीं आते थे। पर कश्मीरी साहित्य का उदय होने तक इस भूमि में इस्लाम का अत्यधिक प्रचार हुआ, फलत: प्राचीन परंपरा से थोड़ा बहुत कट जाना स्वाभाविक था। फिर भी कश्मीरी का प्राचीन साहित्य देश की साहित्यिक परंपरा के साथ ही रहा है। कश्मीरी के प्रथम लेखक शितिकंठ माने जाते हैं। ये शैव मत के अनुयायी थे। अत: इनकी रचना 'महानयप्रकाश' में शैव मत की प्रधानता स्वाभाविक है।

कश्मीरी की दूसरी महान् लेखिका है लल्लेश्वरी अथवा लल्लद्यद्। इनकी काव्यवाणी ने चौदहवीं शताब्दी के जनमानस को आप्लावित किया था। उन्होंने अनेक सुन्दर 'वाख' कहे हैं। ये वाख 'ललवाख' या 'ललवाणी' नाम से भी ख्यात हैं। इन्होंने शिव के निर्गुण रूप की उपासना को महत्त्व दिया है। लल्लेश्वरी के पश्चात् गणना योग्य लेखक कवि हैं नूरुद्दीन जिन्हें 'नुंदर्पेशि' भी कहा जाता है। इनके श्लोकों में लल्लेश्वरी की अध्यात्म शिक्षा और संस्कृत के काव्य एवं दर्शन के अतिरिक्त सूफी विचारधारा का भी समन्वय है। इनकी भाषा संस्कृत गर्भित है। रहस्यवादी काव्यधारा को अग्रसर करने वालों में अलकेश्वर का भी योगदान महत्त्वपूर्ण है। शमस फकीर भी कश्मीरी के प्रसिद्ध सूफी कवि हैं। पर इनके बाद काव्य धारा कुछ मुड़ सी गई। उसका साहित्य फारसी या अरबी साहित्य से प्रभावित हो चुका था और अपनी पुरानी भारतीय परंपरा को छोड़ चुका था। अत: कश्मीरी के साहित्य में भी वैसी धारा आना स्वाभाविक थी पर फिर भी परंपरागत धारा पूरी तरह सूखी नहीं।

लीला एवं भक्तिकाव्य के क्षेत्र में परमानन्द का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने कृष्ण की लीलाओं का मनोहारी वर्णन किया है। श्रीकृष्ण वंशी बजाते-बजाते दृष्टि से ओझल हो जाते हैं यद्यपि वंशीध्वनि सतत श्रुतिगोचर होती रहती है।

विस्मय चकित गोपियों द्वारा कृष्ण की खोज-ढूंढ़ का अद्भुत वर्णन किया है भक्ति विभोर कवि ने। कहते हैं कि परमानंद लीलाएं गाते-गाते नेत्रों से अश्रुधारा बहाने लगते थे। कभी-कभी नाचने भी लगते थे।

परमानंद के पश्चात् पंडित कृष्ण जू राजदान का नाम लीला एवं भक्ति काव्य के क्षेत्र में प्रसिद्ध रहा है। उन्होंने 347 भजनों एवं लीलाओं की रचना की। उनका लिखा शिवलग्न वर्णन प्रधान काव्य कृति है। पर उनके विशिष्ट आराध्य कृष्ण हैं जिनकी बालक्रीड़ा से राज्य प्राप्ति तक के सुन्दर चित्र राजदान की रचना में मिलते है। रासलीला का तो इस कवि ने बहुत ही मनोमोहक वर्णन किया है।

राम के जीवन चरित को लेकर भी अनेक कवियों ने रचना की है। पंडित प्रकाश राम ने 'रामावतार चरित' प्रबंध काव्य लिखा। ग्रंथ का मुख्य आधार तो बाल्मीकि रामायण ही है पर कवि की कुछ निजी उद्भावनाएं भी हैं। यथा, सीता को मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न बताना। ऐसी उद्भावनाएं अन्यत्र भी हुई हैं। पंडित नीलकंठ शर्मा ने 'रामायणि शर्मा' एवं 'रामचर्यर्थे' नामक दो रचनाएं की हैं। पंडित विष्णु कौल ने भी रामचर्यर्थ की रचना की है। पंडित परमानंद का 'सुदामाचरित' भी उत्तम चरित काव्य है।

मास्टर जिन्दो कौल आधुनिक युग के कवि हैं फिर भी उनकी वाणी से मानो लल्लेश्वरी, परमानंद या राजदान ही पुनर्जीवित हो गए हैं। उनकी प्रसिद्ध काव्य कृति 'सुमरन' है। यों कश्मीरी साहित्य भी शेष भारत की साहित्यिक परंपराओं से कटा नहीं है।

गुजराती—गुजराती साहित्य की आरंभिक रचनाएं जैन लेखकों की कृतियां हैं जो 'रास' नाम-धारणी होने पर भी श्रीकृष्ण से संबंधित नहीं हैं। पर गुजराती का नरसिंह काल वैष्णव भक्ति का युग है अत, उसमें राम और कृष्ण की भक्ति से संबंधित रचनाएं प्रभूत मात्रा मे हुईं। नरसिंह की रचनाओं मे नागदमन लीला, दान लीला, रासलीला, गोपी वस्त्र हरण लीला आदि रचनाएं कृष्ण जीवन से संबंधित हैं। भागवत के आधार पर नरसिंह ने 'सुदामा चरित' भी लिखा। गुजराती के कृष्ण भक्ति काव्य में भाव, भाषा, तन्मयता अलंकार आदि समस्त दृष्टियों से नरसिंह का स्थान सर्वोच्च है। नरसिंह ने उत्तरावस्था में ज्ञानमार्गी काव्य की रचना भी की। पर उनकी ज्ञानमूलक कविता भी भक्ति कविता की तरह अनुभूतिजन्य ही है। यों नरसिंह न केवल आदि भक्त कवि हैं अपितु वही आदि ज्ञान कवि भी हैं, वही आदि गीत कवि भी हैं।

गुजराती साहित्य मे मीरां का भी अनन्य स्थान है। जैसे ब्रज भाषा साहित्य उसे ब्रज और राजस्थान की कवयित्री मानता है, वैसे ही गुजरात उसे गुजराती कवयित्री मानता है। वस्तुतः उसने तो एक विशाल क्षेत्र में प्रचलित काव्य भाषा

में रचना की थी पर उसकी रचना के गायकों के मुख से थोड़ा बहुत स्थानिक झुकाव मिल जाना स्वाभाविक था। मीरां की रचना में संवेदना की उत्कटता, मुग्धता, मृदुता और आर्द्रता भरपूर है। भाषा लालित्य भी स्वाभाविक है।

भालण अन्य कवि है जिसने पन्द्रहवीं शती में कृष्ण लीला विषयक रचना की। उसने विशेषतः भागवत का आश्रय लिया। भागवत के दशम स्कंध के अतिरिक्त मार्कंण्डेय पुराण और शिव पुराण का भी उसने अनुवाद किया। उसने राम की बाललीला का भी पदों में वर्णन किया। भालण ने भागवत, महाभारत और शिव पुराण पर आश्रित आख्यान भी लिखे।

मीरां के पश्चात् शिवदास, विष्णुदास, विश्वनाथ जानी, मुकुंद, रतनजी, कृष्णदास, गोविन्द, तुलशी, प्रेमानंद, रत्नेश्वर, राजे, प्रीतम, रणछोड़, रघुनाथदास, द्वारका, मुक्तानंद, प्रेमसखी, निष्कुलानंद इत्यादि अनेक भक्तों ने कृष्ण भक्ति धारा को सतत प्रवहमान रखा। उनके साहित्य में बारहमासा, दानलीला, मानलीला, रासलीला, नागदमन, गोपीविरह, पनघट लीला, माखन चोरी, राधा-कृष्ण-विवाह आदि प्रसंगों को लेकर काव्य-काकली का मधुर गायन किया गया। कृष्ण कथा में उन्होंने एक और प्रसंग जोड़ा—वह था नरसी मेहता के भात में स्वयं सांवल सेठ का उपस्थित होना।

मध्ययुग में ही एक उल्लेख्य कवि दयाराम हुआ जिसने 'गरबी' नामक एक नई प्रगीत विधा को कल्पनात्मक रूप दिया। गरबी रचना करके दयाराम ने भाव और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से अपनी अद्भुत कवन क्षमता का परिचय दिया। वह भी नरसिंह और मीरां की कोटि का ही भक्त था। वह पुष्टि मार्गी कवि था। उसी मार्ग को उससे पूर्व भीम, ब्रह्मदेव, गोपालदास, केशवदास आदि अपना चुके थे।

गुजराती साहित्य की एक विधा है आख्यान। भालण इस विधा को प्रारंभ करने वाला प्रथम कवि था। आख्यान दृश्य और श्रव्य काव्य का संयुक्त रूप था जिसमें भाणभट्ट नामक कथाकार मटके पर अंगूठी से ताल देकर साभिनय गान करता था। महाभारत, भागवत, रामायण, शिव पुराण, देवी भागवत, मार्कण्डेय पुराण आदि से कथा लेकर उस पर गुजराती रंग चढ़ाया जाता था और उपाख्यान-विशेष का विस्तार कर आख्यान की रचना की जाती थी। महाभारत के नलोपाख्यान, हरिश्चंद्रोपाख्यान, द्रौपदी स्वयंवर प्रसंग, सुधन्वा उपाख्यान, अभिमन्यु युद्ध प्रसंग इत्यादि; रामायण के रणयज्ञ, सीता हरण, सीता स्वयंवर, लंकादहन, रामवनगमन इत्यादि; भागवत के सुदामा चरित, भ्रमर गीत, रुक्मिणी हरण, उषा हरण, प्रह्लाद उपाख्यान, अजामिल उपाख्यान इत्यादि; देवी भागवत और मार्कण्डेय पुराण के सुरथाख्यान, चंडी आख्यान इत्यादि और शिवपुराण के ईश्वर विवाह,

गौरी चरित इत्यादि आख्यान लिए गये और हृदयस्पर्शी रचनाएं की गयी। इन आख्यानकारों में उल्लेख योग्य हैं : भालण, वीरसिंह, नागर, विष्णुदास, शिवदास, हरिराम, प्रीतम, मुक्तानंद, गोपालदास, कालिदास, गिरधर, देवीदास, मुरारि, माधव दास, तुलशी आदि। पर सर्वोपरि आख्यानकार है प्रेमानंद। उसने इस काव्य विधा को कलात्मकता प्रदान की, इसका निखार-परिष्कार किया। प्रेमानंद ने महाभारत से नलोपाख्यान, अभिमन्यु कथा, आदि को ग्रहण किया; भागवत के संपूर्ण दशम स्कंध का अनुवाद किया और उसमे से दान लीला, विरह के बारहमासे, भ्रमर पच्चीशी, सुदामा चरित्र, उषा हरण आदि प्रसग लेकर काव्य प्रतिभा का परिचय दिया। प्रेमानंद की रचनाओं मे रस वैविध्य, रस परिवर्तन, मनोवैज्ञानिक चित्रण और मानव मन की अतल गहराइयों तक प्रवेश की अपूर्व क्षमता और मनोमुग्धकारी आकर्षक शैली के अपूर्व दर्शन होते हैं। प्रेमानंद की इन्ही क्षमताओं ने उसे लोकप्रिय बनाया। श्रोताओं को हंसाने, रुलाने और विस्मित करने में उसकी नवरस रुचिरा वाणी पूर्णत: सक्षम थी।

अठारहवी शती से पूर्व गुजराती में शिव भक्ति साहित्य कम है। किन्तु अठारहवी शती में शिव-शक्ति की भक्ति से संबधित साहित्य भी विपुल मात्रा में रचा गया। शिवानंद नामक साधु ने पार्वती-विरह के बारह मासों आदि की रचना की। शक्ति का उपासक भाणदास हुआ। उसने शक्ति स्तुति के गरवा-गरवी लिखे जिनका गान वृन्द-नृत्य में होता था। वल्लभ मेवाड़ी ने गरबे को कलात्मक रूप दिया। वह विभोर होकर काव्य लिखता था। भावों की गूढ़ता, भाषा की ओजपूर्णता, अभिव्यक्ति की कुशलता, रसमयता और मधुरता वल्लभ काव्य की विशिष्टताएं हैं।

अखा, धीरा, भोजा, निरांत, बापू साहेब गायकवाड, निष्कुलानंद, ब्रह्मानंद आदि ने ज्ञानमयी काव्य रचना की। कथा साहित्य मे भी वेताल पच्चीशी, सिंहासन बत्रीशी, पंचदंड जैसी विक्रम कथाएं लिखी गयी।

आधुनिक काल मे भी दौलतराम कृपाराम सदृश कवि की 'इंद्रजीतवध' जैसी महाकाव्य कृति मिलती है जो सर्वथा रामायणाश्रित है।

गुजराती वाङ्मय पर व्यापक दृष्टि डालें तो उसके भी अधिकांश भाग के उपजीव्य आधार स्तंभ वे ही चार महाग्रंथ हैं जो शेष भारतीय भाषाओं के साहित्य के हैं।

तेलुगु—तेलुगु साहित्य की प्राचीनतम उपलब्ध रचना नन्नय भट्ट का महाभारत है जो एक ओर उसके काव्य की प्रौढता का निदर्शन है तो दूसरी ओर प्रकाण्ड पांडित्य का। नन्नय प्रतिभा-व्युत्पत्तिमान कवि था। इसीलिए उसकी रचना में नाद-सौन्दर्य, शैली-गांभीर्य और वर्णन-वैभव का एकत्र समावेश

है। पर वह महाभारत के केवल आदि, सभा और वनपर्व के कुछ अंश की ही रचना कर पाया। महाभारत को पूरा करने का बीड़ा उससे दो शताब्दी पश्चात् हुए तिक्कन ने उठाया। उसकी शैली मे नाटकीयता है। इतवृत्त के अनुरूप प्रबंध शैली अपनायी गयी है। पात्रों के चित्रण में भाव गांभीर्य और भाषा माधुर्य का अपूर्व समावेश है। पर पता नहीं उसने वन पर्व के शेष अंश को पूरा क्यों नहीं किया जिसे नन्नय अपूर्ण छोड़ गया था। अस्तु उसे पूरा होने के लिए एक शताब्दी तक और प्रतीक्षा करनी पड़ी और यह कार्य एर्रप्रगड अथवा एर्रन ने किया।

तिक्कन ने महाभारत को पूरा करने के अतिरिक्त रामायण की भी रचना की। एर्रन ने 'नरसिंह पुराणम्' की भी रचना की। यों नन्नय, तिक्कन और एर्रन ने महाभारत, रामायण और पुराण के क्षेत्रों में रचना का श्रीगणेश किया।

बारहवीं शती मे पालकुरिकि सोमनाथ ने वसव पुराण की रचना की तो नन्नेचोड़ ने कुमारसंभवम् का अनुवाद किया। नाचन सोमन ने 'हरिवंशम्' नामक प्रबंध काव्य की रचना की। रस पोषण, भाषा सौन्दर्य, उदात्त भाव निवेश आदि लक्षणों से उसका काव्य सफल कृति बना है। नाचन सोमन के बाद कवियों का ध्यान रामायण की ओर गया। फलतः 'भास्कर रामायण' और 'रंगनाथ रामायण' की रचना हुई। रंगनाथ रामायण की रचना गोनबुद्ध रेड्डि ने की। पर इसमें कवि ने वाल्मीकि से बहुत छूट ली है। भास्कर रामायण की रचना के दावेदार कई हैं। उसमे हुलक्किभास्कर की सरल-सुन्दर भाषा शैली है तो मल्लिकार्जुन भट्ट का प्रबंध कौशल है, रुद्रदेव की शब्दालंकारमयी शैली है तो अय्यलार्य का ओज है। इनमे से कौन असली रचयिता है यह अभी अनिर्णीत है।

श्रीनाथ कनकाभिषेक पाने वाले प्रौढ़ कवि थे। वैदुष्य उनकी रचनाओं मे भरा पड़ा है। काशीखण्डम्, भीमखण्डम्, हरिविलासमु और नैषधीयम् उनके पांडित्य के निदर्शन है। उनके वैदुष्य के निकष काशीखण्डम् और नैषधम् के विषय मे तो प्रसिद्ध है कि काशीखंडमयः पिण्डं नैषधं विद्व-दौषधम्। उसकी अन्य रचनाएं हैं 'शिवरात्रि माहात्म्य', 'मरुत्रात चरित्रं' और 'शालिवाहन सप्तशती'। वह 'कवि सार्वभौम' का विरुद धारण करता है।

भागवत की रचना में प्रवृत्त होने वाले कवियों में अग्रणी है: बम्मेर पौतनामात्य। पर वह भागवत को समाप्त नहीं कर पाया। उस मधुर काव्य को पूर्णता तक पहुंचाने वाले हैं वेलि गंडल नारय, गंगन एवं एल्चूरि सिंगना। पिल्ललमीर पिनवीर भद्र कवि ने 'शकुंतला-परिणयम्' तथा 'जैमिनी भारतम्' की रचना की।

कृष्णदेवराय के सभा कवियों का भी तेलुगु साहित्य को महान् अवदान है। अल्लसानि पेद्दन ने 'मनुचरित्र' की रचना की, नन्दि तिम्मन ने 'पारिजातापहरणम्' की, धूर्जटि ने 'कालहस्ती माहात्म्यम्' की, तेनालि राम कृष्ण ने 'पाडुरंग माहात्म्यम्' की तो रामराज भूषण ने 'वसुचरित्रंकार' की रचना की। संस्कृत के राघव पाण्डवीयम् के अनुसरण पर मूरन ने 'राघव पाण्डवीयम्' की रचना की। ताल्लपाक अन्नमाचार्य ने बत्तीस सहस्र पदों की रचना करके 'पद कविता पितामह' का विरुद पाया। कर्नाटक संगीत के महारथी त्यागराज और श्याम शास्त्री ने भी तेलुगु मे ही गीत कृतियां रचीं। त्यागराज ने तो 'नौका चरित्रम्' और 'प्रह्लाद चरित्रम्' की भी रचना की। उसी काल में वेंकट कृष्णप्प नायक ने अहल्या चरितम्, शेषं वेंकट पति ने ताराशशांक विजयम् तथा मुद्धपलनि ने 'राधिका सान्त्वनम्' की रचना की। महाकवि कूचिमंचि तिम्म कवि की 'लीलासुंदरी परिणयम्' रचना अद्भुत है।

अनेक शतक-स्तवनों की भी रचना हुई जिनमें प्रमुख ये हैं : धूर्जटि रचित काल हस्तीश्वर शतकं, मारुव वेंकप्पकृत भास्कर शतकं, कचर्ले गोपन्न कृत दाशरथी शतकम्, नारायण शतकम्, कृष्ण शतकम्, मदन गोपाल शतकम्, कुमारी शतकम्, सरस्वती शतकम्, नरसिंहशतकम्, कामेश्वरी शतकम्, चंद्रशेखर शतकम् आदि।

यक्षगान रचना तेलुगु साहित्य की एक विशिष्ट विद्या है। यह एक गायन युक्त प्रदर्शन है। प्रथम यक्षगान कृति 'सौभरि चरितम्' मानी जाती है। कंदुकुरि रुद्र विरचित 'सुग्रीव विजयम्' में रगडछंद के अतिरिक्त अनेक छंदों का प्रयोग है। 'विप्रनारायण चरित्रम्', अक्कमहादेवी चरित्रम्, 'विष्णु-माया विलासम्' आदि सभी रचनाएं मंच पर प्रदर्शित की जा सकती हैं।

आधुनिक काल मे तेलुगु में संस्कृत से अनुवाद भी प्रभूत मात्रा में हुआ। वीरेश लिंगम् ने अभिज्ञान शाकुंतलम् और मालविकाग्निमित्रम् का अनुवाद किया। वीरेश लिंगम् के विरोधी कविद्वय तिरुपति वेंकट कवुलु (दिवाकर्ले तिरुपति शास्त्री तथा चेल्लपल्लि वेंकट शास्त्री) ने देवी-भागवत पुराण, मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस, बाल रामायण आदि का अनुवाद किया। इन्होने पांच खंडों मे महाभारत को नाट्य रूप में लिखा। ये अवधानी कवि थे।

आधुनिक काल में साहित्य के क्षेत्र विस्तृत हुए हैं, नवीन कल्पनाओ का प्रकाशन हुआ है फिर भी विश्वनाथ सत्यनारायण जैसे महान साहित्यकार भी 'श्रीमद् रामायण कल्पवृक्षम्' जैसे महाकाव्य की रचना में प्रवृत्त होते हैं।

यों तेलुगु साहित्य का भी एक बहुत बड़ा भाग रामायण, महाभारत और पुराणों का उपजीवी है।

पंजाबी—पंजाबी का साहित्य उतना समृद्ध नहीं है जितना अन्य भारतीय भाषाओं का, क्योंकि इस क्षेत्र के सन्त महात्मा भी रचना के लिए उसी भाषा का प्रयोग करते थे जिसका प्रयोग एक विशाल क्षेत्र के सन्त करते थे। सिख गुरुओं की वाणी मे भी वही नीति अपनायी गयी। पंजाबी भाषा को पृथक् भाषा स्थापित करने का आग्रह उनका कभी नहीं था। मुसलमान कवियों ने इश्क मिजाजी मे अधिक रुचि ली है।

फिर भी पंजाबी शेष धारा से बिलकुल कटी हुई नहीं रही है। कालिदास के शकुंतला और विक्रमोर्वशीयम् के पंजाबी अनुवाद हुए हैं।

बंगला—बंगला साहित्य का आरंभ तो चर्यापदों से हुआ माना जाता है। जो वस्तुतः अपभ्रंश का ही अंतिम रूप दर्शित करता है। पर वंगीय साहित्य का वास्तविक आरंभ चंडीदास की 'श्रीकृष्ण-कीर्तन' नामक रचना से माना जाना चाहिए। इसकी रचना श्रीकृष्ण के दान, मान, प्रेम, विरह, मिलन जैसे विषयों को आधार बनाकर हुई थी। इस गीत संग्रह के बारह खंड हैं। चंडीदास के प्रेम काव्य मे राधा और कृष्ण के प्रेम की स्थूल लौकिक प्रेम कथा की बहुलता है फिर भी उसकी समाप्ति अध्यात्म, रूपक और उदात्त भावोत्कर्ष में हुई है। बंगला साहित्य का वास्तविक उदय तथाकथित 'मध्य युग' मे ही होता है जिसमें भव्य रससृष्टि और अपूर्व कौशल का सुरुचिपूर्ण समन्वय है। इस युग के काव्य को तीन प्रमुख धाराओं मे विभक्त मान सकते हैं। वे है—धार्मिकता, गेयता और शृंगारिकता। प्रथम धारा के अन्तर्गत शक्ति धर्मी काव्य या मंगल काव्य तथा इतिहास-गाथाओं की रचना हुई। वैष्णव काव्य में गेयता और शृंगारिकता का प्राधान्य रहा। वैष्णव गीति काव्य की मधुरता और रसमयता ने शाक्त पदावलियों को भी प्रभावित किया।

शक्ति धर्मी काव्यों का ही अन्य नाम मंगल काव्य है। इस कोटि के काव्य में लोक कल्याण की भावना से किसी एक देवी का कीर्ति गायन होता था। आराध्या देवियों में मनसा, चण्डी और अन्नदा मुख्य हैं। इस कोटि की रचनाओं में बारमास्या का प्रमुख स्थान है। मनसा भक्तों में मुकुन्दराम चक्रवर्ती प्रमुख कवि हैं तो अन्नदा भक्तों में भारतचंद्र का स्थान सर्वोपरि है। उस युग में प्रचलित विद्यासुन्दर की लौकिक प्रेम गाथा के श्रेष्ठ रचयिता भारतचंद्र ही थे।

इतिहास गाथाओं में 'कृत्तिवास रामायण' और काशीरामदास का 'महाभारत' प्रमुख है। कृत्तिवास ने सरस भाषा में रचना कर अक्षय कीर्ति अर्जित की।

गीत गोविन्द, श्रीकृष्ण कीर्तन और विद्यापति पदावली के अनुसरण पर बंगला मे राधाकृष्ण की प्रेमलीला और भक्ति भावना का प्रभूत गायन हुआ। इन भक्त-पदावलियों से बंगीय समाज इतना प्रभावित हुआ कि 'ब्रजबुलि' नाम से एक नवीन भाषा की ही रचना कर डाली गयी। यों उद्भूत हुई वैष्णव पदावली मे प्रकृति के विलक्षण सौन्दर्य, मानवीय प्रेम के संपूर्ण सुकुमार भाव और अतीन्द्रिय अध्यात्म रस की अपूर्व धारा प्रवाहित हुई। पदावली साहित्य में बंगला वाङ्मय का उदात्ततम रूप प्रकट हुआ। समस्त मधुर और कोमल अनुभूति, भाव विभोरता, जीवन दृष्टि, प्रेम की कोमलता सभी तत्व इस पदधारा मे प्रवाहित हुए। इस धारा के प्रमुख कवि गोविन्ददास, ज्ञानदास और चण्डीदास है। गोविन्ददास की रचना मे भावों की विभोरता के साथ कला सौष्ठव भी अद्भुत है। ज्ञानदास और चण्डीदास के काव्य मे वैष्णव भावधारा का अजस्र स्रोत और करुण हृदय का प्रबल उद्गार दृष्टिगोचर होता है। वैष्णव पदावली का बंगीय जनमानस पर इतना गंभीर प्रभाव हुआ कि अनन्त दास, बलराम दास, वासुदेव घोष जैसे हिन्दू भक्त कवियों तक ही पदगान सीमित नही रहा अपितु अनेक मुसलमान कवियों ने भी उसी तन्मयता और भाव विभोरता के साथ पद रचना की जिनमें दौलतकाजी, सैयद आलाओल आदि प्रमुख हैं।

सत्रहवी शती मे वैष्णव धारा कुछ क्षीण हुई तो शाक्त पदावलियो की रचना मे वृद्धि हुई। शाक्त पदावली के प्रतिष्ठाताओं मे रामप्रसाद प्रमुख हैं। रामप्रसाद द्वारा प्रवर्तित शक्त गीतों या श्यामा संगीत का प्रचार अद्यावधि अक्षुण्ण है। कमलाकान्त आदि अन्य अनेक कवियों ने भी श्यामा संगीत की रचना की।

चैतन्यदेव के आविर्भाव और तिरोभाव के पश्चात् चरित काव्य लेखन की परंपरा प्रारभ हुई। इस धारा में चैतन्य से पूर्व ही मालाधर वसु हो चुके थे जिनकी 'श्रीकृष्ण विजय' नामक रचना अनुपम है। उसकी चैतन्य ने अत्यधिक प्रशंसा की है। चैतन्य भक्त होते हुए भी भगवान् के तुल्य आराध्य बन गये और उनकी लोकोत्तर जीवन कथा को आश्रय बनाकर गोविन्ददास ने, 'कडचा' की, जयानंद ने 'चैतन्य मंगले' की, वृन्दावनदास ने 'श्री चैतन्य भागवत' की और कविराज गोस्वामी ने 'श्री चैतन्य चरितामृत' की रचना की। इन पुस्तकों का वर्ण्य विषय चैतन्य के जीवन तक ही सीमित नहीं है, गौड़ीय वैष्णव भक्ति और उसकी दार्शनिकता की भी उज्ज्वल अभिव्यक्ति हुई है।

सत्रहवी शती से बंगाल मे कविगान, पांचाली, तर्जा भटियाली आदि लोक संगीत की विविध धाराएं भी सवेग प्रवाहित हुई। इन धाराओं की सहज उद्भावना हुई थी। इनके रचयिता साधारण शिक्षित किन्तु प्रतिभा संपन्न कवि रहे हैं। अतः उनकी रचना में अकृत्रिम काव्यानुभूति के दर्शन होते हैं। इनमें कविगान

अधिक सशक्त तथा मोहक रहा है। कविगान वस्तुतः वैष्णव तथा शाक्त पदावली का ही लौकिक संस्करण है।

आधुनिक युग की काव्यधारा मे प्राचीन परंपरा से भिन्नता तो स्वाभाविक थी पर फिर भी कथानकों में प्राचीन परंपरा सर्वथा लुप्त नहीं हुई। काव्य क्षेत्र में नवयुग को प्रतिष्ठित करने वाले माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनादवध महाकाव्य का मूल रामायण में है तो 'तिलोत्तमा संभव' का पुराणों में। यों बंगला नवीन पथ पर प्रवृत्त होकर भी प्राचीन परंपरा को सर्वथा उच्छिन्न करने में प्रवृत्त नही हुई। प्राचीन वाङ्मय, विशेषकर मध्ययुग का वाङ्मय, तो मुख्यतः रामायण और पुराणों पर ही आश्रित है।

मराठी—इस साहित्य के प्राचीनतम कवि चक्रधर माने जाते हैं जो तेरहवीं शताब्दी में हुए। इनका पथ द्वैतवादी भक्ति का है। ये भागवत और भगवद् गीता को प्रमाण मानते है। चक्रधर के वचनों का संग्रह 'सूत्रपाठ' है। आदि कवयित्री महदंबा भी चक्रधर के संप्रदाय की थी जिसके 'धवले' (गीत) प्रसिद्ध हैं।

ज्ञानेश्वर महाराष्ट्र के सर्वोपरि संत हुए। इन्होंने गीता की पद्यबद्ध टीका लिखी जिसमें जितनी दर्शन तत्व की गहनता है उतनी ही साहित्य तत्व की सरसता भी है। नामदेव अन्य सन्त हैं जिनकी मराठी साहित्य को अपूर्व देन है। संस्कृत केवल पंडितों की भाषा होकर रह गयी थी, जनसामान्य के लिए दुर्बोध थी; अतः मराठी सन्तों ने अपने भाव प्रकाशन के लिए सर्वसाधारण के व्यवहार की मराठी भाषा को अपनाया। इन सन्तों की रचनाओं के विषय नाम माहात्म्य, सन्त माहात्म्य, विट्ठल माहात्म्य और पंढरी माहात्म्य हैं। इन पंथों में महानुभाव पंथ निवृत्तिवादी था अतः लोक प्रिय नहीं हो सका था। वारकरी पंथ अधिक व्यापक और प्रभावशाली सिद्ध हुआ क्योंकि उनकी वाणी सीधी, सहज और जन-जन तक पहुंचने वाली थी।

सोलहवीं शताब्दी में वारकरी और दत्त संप्रदाय ने उन्नति की। दासो दिगम्बर या दासो पंत ने 'गीतार्णव' नामक विशाल ग्रंथ की रचना की। एकनाथ में वारकरी और दत्त सम्प्रदायों का सुन्दर समन्वय है। एकनाथ की प्रसिद्ध रचना चतुःश्लोकी भागवत है जिसमें 1036 ओवियां हैं। एकनाथी भागवत में 20 हजार ओवियां है। 'रुक्मिणी-स्वयंवर' नामक आख्यान काव्य में 1700 ओवियां हैं। सबसे विशाल रचना है 'भावार्थ रामायण' जिसमें 40 हजार ओवियां हैं। इस के अतिरिक्त तीन-चार हजार अध्यात्म प्रकरण लिखे हैं और 300 भारुडें जो उलटबासी जैसी रचना है।

एकनाथ का दौहित्र मुक्तेश्वर हुआ। उसने वृत्तबद्ध रामायण की रचना की। उसने महाभारत का भी अनुवाद किया था यद्यपि आज केवल पांच पर्वों का

अनुवाद उपलब्ध है। राजवाडे ने मुक्तेश्वर को 'ऐतिह्य प्रतिभा का कवि' बताया है। संत तुकाराम ने 'अभंग' नामक छंद में रचना की और कोई चार हजार पद लिखे। उसकी भाषा सरल और प्रवाहमयी है। संतपंचक का अंतिम कवि रामदास है। उनकी रचना 'दासबोध' है। कविता मे ओजगुण भरा है।

मध्यकाल में पंत कवि और तंत कवि हुए। इन में पत कवि विद्वान् पंडित थे पर तंत कवि जन कवि थे जो इकतारे की तान के साथ अपनी रचना गाकर सुनाते थे। पत कवियों मे वामन पंडित प्रसिद्ध है जिसने गीता, गंगालहरी, भर्तृहरि के शतकत्रय आदि का समश्लोकी अनुवाद किया। इस कवि ने कृष्ण कथा के अनेक आख्यान लिखे और राम कथा पर भी श्लोकबद्ध रचना की। इनकी रचना में माधुर्य है और शब्दावली कोमल कान्त है। दूसरा पंत कवि है मोरोपंत जिसकी रचनाओं का विशाल भंडार है। उसकी रची 108 तो रामायण संबंधी कृतियां हैं जिनमें से कोई नब्बे आज भी उपलब्ध हैं। मंत्र भागवत, आर्या रामायण, आर्या भारत, केकावली आदि अन्य अनेक रचनाएं भी मोरोपत ने की, ऐसा माना जाता है। मध्य युग से ही साहित्यकार दो धाराओं मे विभक्त लगते हैं। एक मे वे हैं जो पांडित्य प्रदर्शन, वैद्धिक घटाटोप, वैदग्ध्य भंगी और ऊहा को कवित्व मानते हैं। दूसरे वे है जो जनसाधारण की भाषा और उक्ति की सरलता को ही महत्व देते है। इन दो प्रवृत्तियों के बीच बहुत कम समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

पर मराठी साहित्य भी इस बात का साक्षी है कि रामायण, महाभारत और पुराण ग्रंथ साहित्यकारों के प्रधान आधार रहे हैं। महाभारत का 'गीता' वाला अंश अधिक लेखकों को आकर्षित कर सका है।

मलयालम—मलयालम के क्षेत्र मे भी आरंभ मे तमिल ही का वाङ्मय रचा जाता था पर संस्कृत तथा प्राकृतों के प्रभाव से मलयालम का स्वतंत्र विकास हुआ। मलयालम की प्राचीनतम कृतियां पाट्टु अथवा गीत के रूप मे हैं। प्राप्त गीत काव्यों में बारहवी शताब्दी का रामचरितम् प्रमुख है। इसकी रचना वाल्मीकि रामायण के आधार पर हुई है। पर गेयता और भावसुकुमारता इसकी विशिष्टता है। इसी कोटि की एक अन्य रचना है 'रामकथा पाट्टु' जिसके रचयिता थे अय्यंपल्लि आशान।

आचार्य तुंचन के अनुकरण पर काव्य के क्षेत्र में कथकलि नृत्य का प्रवेश हुआ। 'केरलवर्मरामायण' इस क्षेत्र की एक श्रेष्ठ रचना है जिसके रचयिता कोट्टयम् केरल वर्मा थे। यह एक उत्कृष्ट रचना है। कथकलि वस्तुतः ऐसा नाट्य नृत्य है जिसमे संगीत, साहित्य, अभिनय, वादन आदि अनेक ललितकलाओं का एकत्र संगम होता है।

इस धारा का प्रथम कवि था कोट्टारकर तंपुरान्। उसने वाल्मीकि रामायण को आधार बना कर आठ कथाओं की रचना की। अधिकतर कथकलि काव्यों में

मणि प्रवाल शैली का प्रयोग है। संस्कृत पदों की बहुलता तो है ही। बीच-बीच में ऐसे श्लोक भी होते हैं जिनकी भाषा केवल संस्कृत होती है। ये रचनाएं मुख्यतः अभिनेयता की दृष्टि से हुईं अतः उनमे साहित्यिक तत्व यथेष्ट नहीं है। पर फिर भी कुछ ऐसी रचनाएं अवश्य हुई हैं जिन्हें कालजयी कह सकते हैं। इनमें कोट्ट-यत्तु तंपुरान् की ये रचनाएं सर्वविदित हैं: बकवध, कल्याण सौगंधिक, किर्मीर वध, कालकेयवध आदि जो पुराणाश्रित है। ये रचनाएं काव्य सौन्दर्य और अभिनेयता दोनों ही दृष्टियों से उत्तम हैं।

कथकलि काव्यों मे अद्‌भुत हैं महाभारत पर आश्रित 'नल चरितम्' जिसका रचयिता है उण्णयि वारियर। इस रचना मे अगाध पांडित्य और असाधारण कवित्व का क्षीरनीर सयोग है। उसे पढ़ कर सहृदय आस्वादन के लिए भरपूर सामग्री पाते हैं तो पंडित जन अपने ज्ञान परीक्षण के लिए कसोटी। इरियन तंपि, अश्विनी युवराज, विद्वान् कोयित्ते पुरान् आदि की कृतियां साहित्य रसाप्लावित और अभिनेयता युक्त हैं। इनके अनुकरण पर आधुनिक काल के कुछ कवियों ने भी आट्टकथाएं लिखी जिनमे पन्निशेरि ता।णु पिल्लै की रचना शकर विजयम उल्लेख योग्य है।

भक्ति काव्य और कथकलि काव्य अर्थहीनता की दिशा मे प्रवृत्त होता गया। फलतः सहज-सरल और ललित-मधुर पक्ष उपेक्षित हो गया। उसकी सशक्त प्रतिक्रिया कुंचन नंपियार की रचनाओं में हुई। उसने अपने हृदय के रोष को हास परिहास के आवरण मे गोपित करके व्यक्त किया। उसकी रचनाएं तुल्लल कथा नाम से अभिहित हैं। तुल्लल एक प्रकार के पौराणिक आख्यान काव्य हैं जो कथकलि की अपेक्षा द्रुततर गति से नृत्यबद्ध हो सकते हैं। नंपियार वस्तुतः हास्य का अवतार है।

एक अन्य प्रकार के गीत हैं वंचिप्पाट्टु। ये गीत नौकोत्सव मे गाये जाते है। इनमे रामपुरत्तु वारियर का 'कुचेल वृत्त' प्रसिद्ध है। यह कृष्ण सखा सुदामा के चरित्र पर आश्रित है और एक दीन की दशा का हृदय स्पर्शी चित्रण है। कहते हैं कि कवि की अपनी दशा सुदामा जैसी थी इसी कारण उसमे अनुभूति की तीव्रता तथा भावों की प्रबलता दृष्टिगोचर हो सकी।

आधुनिक कवियों मे कुमार आशान् की 'चिन्ता विष्टा' सीता के बीज वाल्मीकि रामायण मे हैं। जनकात्मजा के संभावित मनोभावों का सूत्र पकड़ कर कवि ने नारी जीवन के भव्य रूप का भव्यतर अंकन किया है। आशान् के सम-सामयिक वल्लतोल नारायण मेनन की रचनाएं इयत्ता और ईदृक्ता दोनों ही दृष्टियों से बेजोड़ हैं। उसने खंडकाव्य, गीतिकाव्य, महाकाव्य सभी कुछ लिखकर मां भारती का भंडार भरा है। उसका खंडकाव्य, 'बधनस्थ,अनिरुद्ध' तो जन-जन की वाणी से गेय हुआ है। वल्लतोल वस्तुतः असाधारण कवि है। वेण्णिकुलम्

गोपाल कुरुप ने रामचरित मानस का मलयालम में अनुवाद किया है जो उसकी अनुवाद क्षमता का निदर्शन है। आधुनिक युग के नाटकों में भी अच्युत मेनन का 'संगीत नैषध' नलकथा पर आश्रित है।

मलयालम के साहित्यकारों ने प्राचीन वाङ्मय के अनुवाद से भी अपने साहित्य की समृद्धि की है। पुराण, नाटक, महाभारत, रामायण मलयालम में अनूदित हुए। कुंजिकुट्टन तंपुरान ने सम्पूर्ण महाभारत का अनुवाद किया था। वल्लतोल ने तो ऋग्वेद तक से अनुवाद किया, रामायण का तो अनुवाद किया ही।

सार यह कि महास्तम्भों को आधार बनाने मे मलयालम भी पीछे नही है।

सिंधी—इस भाषा के प्राचीन साहित्य का बहुत कम भाग प्रकाश में आ पाया है। पर इसी क्षेत्र से राजस्थान गये चारणों ने भारतीय वाङ्मय के ज्ञान का जो परिचय दिया है और जिस अद्‌भुत कवि प्रतिभा का परिचय दिया है उससे सुतरां स्पष्ट है कि सिंध मे भी लोक भाषा मे उसी प्रकार की काव्य रचना की परंपरा रही है जिस प्रकार की शेष भारत में थी। सिंधी की लोकप्रिय वार्ताओं ससुई-पुन्हूँ, मूमल-राणों, उमर-मारुई, लीला-चनेसर, सुहणी-मेहार आदि देखने में चाहे फारसी प्रभाव की प्रेमकथा प्रतीत हों पर वस्तुतः ये अपभ्रंशों की उन अनेक लीलावती कथाओं की परंपरा की ही द्योतक है जो लीलावती कभी राम लीला की नायिका लीला ही थी। ये प्रेम कथाएं राजस्थानी लोकगीतों में भी उसी प्रकार मुखरित हुई हैं। चारण कवि राजस्थान मे आने से पूर्व सूरमा नरेशों को युद्ध में मर मिटने के लिए प्रेरित करते थे और उसके लिए रामायण, महाभारत, तारक-स्कंद युद्ध आदि का बहुत विस्तृत वर्णन किया करते थे। यही उनकी विरुद गायन परंपरा थी। 'विरुदाना' शब्द का प्रयोग युद्धोत्साह वर्धन के अर्थ में होता था। ये चारण-भाट सिंधुराज दोदो की वीर गाथा उसी शैली में गाया करते थे जिस शैली मे राम कथा और भारत कथा गाते थे।

पर केवल युद्ध के वर्णन नहीं, संतों की रचनाएं भी सिंधी में उसी प्रकार दृष्टिगोचर हुईं, जिस प्रकार हिन्दी में कबीर आदि की। दादूदयाल की सिंधी रचनाएं तो हैं ही, काजीकाजन जैसे मुस्लिम संतों की वाणी मे भी वैसी ही धारा है। शाहलतीफ की विचारधारा कबीर से मेल खाती है। सचल कवि ने सतगुरु की महिमा का गायन कबीर शैली में किया है। सामी की रचनाओं में 'राम' का स्मरण है। उसने सूरत, त्रिकुटी आदि हठ योग के शब्द भी प्रयुक्त किये हैं। भाई दलपत राय भी वेदान्ती कवि है। जहां तक सिंधी गद्य का प्रश्न है, यह माना जाता है कि दसवी शती में महाभारत की कथा सिंधी गद्य में लिखी गयी थी यद्यपि वह आज उपलब्ध नहीं है। स्पष्ट है कि सिंधी साहित्य भी देश के परंपरागत शेष साहित्य के साथ रहा है।

हिन्दी—हिन्दी साहित्य का कितना भाग चार महास्तंभों पर आश्रित है, इससे हिन्दी का सामान्य पाठक परिचित है। अतः उसे अति संक्षेप में ही प्रवृत्ति मात्र के रूप में बतायेंगे। चाहे आरंभिक काल के मैथिल कोकिल विद्यापति के पदों को लें, चाहे राम की बहुरिया कबीर के निर्गुण परक पदों को; चाहे जायसी की अखरावट परंपरा को लें चाहे तुलसी के राम कथा गायन को; चाहे सूर और अष्ट छाप के कवियों की कृष्ण भक्ति को लें चाहे रीतिकाल की राधा नायिका को, सर्वत्र रामायण, महाभारत और पुराण छाये हुए हैं।

आधुनिक काल में हरिश्चंद्र और जगन्नाथदास रत्नाकर जैसे व्रजभाषा के कवियों तक ही आकर परंपरा समाप्त नहीं होती, मैथिलीशरण गुप्त और राम चरित उपाध्याय भी राम कथा का गायन करते हैं। प्रिय प्रवास और कृष्णायन कृष्ण कथा के महाकाव्य तत्व का उद्घाटन करते हैं। यह परंपरा भी द्विवेदी काल में ही समाप्त नहीं होती। निराला राम की शक्ति पूजा का सजीव चित्र उपस्थित करते हैं तो रामकुमार वर्मा महाभारत के एकलव्य को चिरस्मरणीय बनाते हैं। भारती अंधे युग के दर्शन कराते हैं तो नागर जी उपन्यासों के माध्यम से नैमिषारण्य का स्मरण करते हैं। थोड़ा उलटा मुड़कर देखें तो आप विश्वास नहीं करेंगे कि राणाप्रताप की मृत नसों में वीरता का पुनः संचार करने वाले पृथ्वीराज 'बेली क्रिसन रुकमिणी' जैसी शृंगारी रचना करते हैं। जीवन भर शृंगारी काव्य गायन में रत रहने वाला पातुरी का गुरु केशव राम चंद्रिका भी लिखता है।

उर्दू—हिंदी की ही शैली उर्दू का साहित्य यद्यपि भारतीय धारा को अपनाकर कम चला है पर फिर भी पूरी तरह से कटा नहीं है। उसने फारसी काव्य को आदर्श माना है, वह भी तब के फारसी साहित्य को जब फारसी अदब अरबी के मार्ग पर चल चुका था, अपनी आत्मीयता बहुत कुछ खो चुका था। फिर भी उर्दू का पहला नाटक राधा कन्हैया का किस्सा माना जाता है। अन्य भी भक्ति परक रचनाएं हुई होंगी पर, फिर भी मानना होगा कि उसकी धारा शेष भारतीय परंपरा से भिन्न है। फारसी साहित्य की परंपरा कैसे बदली, इसका उल्लेख बाद में करेंगे।

इस अध्याय में हमारा उद्देश्य सब भारतीय भाषाओं के वाङ्मय का संक्षेप में परिचय देना नहीं था। हमने केवल उन रचनाओं का उल्लेख किया है जिनका किसी न किसी रूप में चार महास्तंभों से संबंध था। पर उस कोटि की रचनाओं का भी खोजपूर्ण और सर्वांगीण चित्रण हमारा उद्देश्य नहीं था। केवल कुछ उदाहरणों से हम यह सिद्ध करना चाहते थे कि समग्र भारतीय वाङ्मय में कुछ तत्त्व समान रूप से पाये जाते हैं। यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि जो वाङ्मय चार महास्तंभों पर आश्रित है उससे भिन्न कोई साहित्य है ही नहीं जो भारतीय साहित्य की एकता व्यक्त करे। वस्तुतः सभी भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्रों

का उद्भव स्थल एक ही है। अपितु समग्र भारतीय वाङ्मय में वर्णन शैलियां, उपमान आदि का अद्भुत रूप से साम्य है। इसका कारण समझने के लिए प्रथम अध्याय का अंतिम अंश देखना होगा जिसमें बताया गया है कि अक्षवाटों में कवन कर्म किस प्रकार प्रारंभ हुआ। वहां यह भी बताया गया है कि दो भगवानों और एक भगवती के गोलों पर कैसे चित्र बनाये जाते थे और उस समय मानवी अंगो के जो प्रतीक बने वे किस प्रकार भारतीय वाङ्मय में रूढ हुए। यही नहीं बाद में तो अक्षवाटों में मूर्तिकला का भी एक विचित्र विकास हुआ था जिसमें कमल के पत्तों, डंडियों और कमल गट्टों से विविध आकृतियां बनायी जाती थी। तभी तो उस परंपरा का कवि धड़ल्ले से कह देता है :

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटेशयानं बालं मुकुंदं मनसा स्मरामि ॥

इसे पढ़कर किसी भारतीय पाठक को रंच मात्र भी अटपटा नहीं लगता अपितु बिल्कुल स्वाभाविक लगता है। हमें तो यह भी प्रतीत होता है कि उपर्युक्त श्लोक मे 'वटस्य' शब्द भी किसी प्रतिलिपिकार ने वट-भक्ति के कारण कर दिया होगा अन्यथा वहां भी 'पद्मस्य' पाठ रहा होगा और इस प्रकार 'प' का वृत्यनुप्रास रहा होगा। कमल तो नेत्रों का भी उपमान रहा है और आज भी कमलनयन, पंकजनयन और पंकजाक्षन् तक खूब होते हैं। परन्तु कमल सभी अंगों का उपमान कैसे हुआ। यह जानने के लिए आपको एक बार पुनः प्रथम अध्याय के अक्षवाटों में पहुंचना होगा।

जब आप सिंहावलोकन के लिए तैयार हो ही गये हैं तो 'चन्द्रमुखी' को भी एक बार पुनः स्मरण कर लिया जाए। यह वही नायिका है जो हम सब की जननी है और जिस पर हम जन्म लेकर अंत में उसी की मिट्टी में मिल जाते है। वस्तुतः उसी का चित्र ऐसा बनता था कि उसमे मुख बिलकुल पूर्णिमा के चांद जैसा गोल बनाया जाता था। पर आज हमारा कवि इस चंद्रमुखी का ऐसा प्रेमी हो गया है कि उसे वैज्ञानिक सर्वथा विपरीत बात बताये तब भी उसकी सुनेगा नहीं। वैज्ञानिकों के अनुसार तो पराये प्रकाश से प्रकाशित होने वाले इस दर्पण तुल्य चंद्रमा के आधे भाग में सदा अंधेरा ही रहता है। जो भाग आपको दिखायी देता है उसमें भी ज्वालामुखियों के कारण बने मीलों गहरे गर्त हैं। सांस लेने को वायु भी नहीं है। पूर्णिमा से अमावस तक उसकी कलायें क्षीण से क्षीणतर होती जाती हैं तो अमावस से पूर्णिमा पर्यंत बढ़ती जाती हैं। सार यह कि उसमें कुछ भी मनो-मोहकता नहीं है। सर्वथा मृग तृष्णा है। इसीलिए उसे मृगांक भी कहा जाता रहा है। पर फिर भी भारतीय साहित्यकार के हृदय में उसका उपमानत्व मुख रूपी उपमेय के लिए ऐसा घर कर गया है कि वैज्ञानिक के तथ्य कथन को मानने

को हम कभी प्रस्तुत नहीं होंगे। यही नहीं आज के किसी भी कवि को ऐसी नायिका से भी कोई भय प्रतीत नहीं होता जिसके केशकलाप फुंकार मारते सर्प तुल्य हों, भ्रूविलास काट लेने वाले भ्रमर तुल्य हों, नेत्र फुदकती मीन या खंजन जैसे हों, अधरोष्ठ बिंबाफल जैसे बेस्वाद हों; नासिका शुक की सी नीचे को मुड़ी हो, दांत मोती जैसे गोल-गोल हों, कर्णफूल वृश्चिक के समान डंक मारने को आतुर हों, कंठ शंख जैसा विरूप हो, स्तनों का उभार हिमालय शृंगों जैसा हो, कटि देखते ही मानो सामने सिंह मुंह खोले खड़ा हो, टांगों के नाम पर हाथी की सूंड लटकती दीखती हो और भी पता नहीं क्या-क्या भयानक दृश्य उपस्थित हों। ये सभी दृश्य हमारे कवि के मन में भयानक रस की सृष्टि न करके शृंगार की ही सृष्टि करते रहे हैं। उसी की सृष्टि भविष्य में भी करते रहेंगे। इसमें किसी भी प्रकार का कोई दोष नहीं है। दीर्घ परंपराओं का बड़ा महत्व होता है और जिस चिन्तन की पांच-सात हजार वर्ष की परंपरा है उसे बनाये रखने में कोई हानि नहीं है। आज कितने ही भयंकर विनाशकारी युद्ध हों, कितने ही भीषण नरसंहार हों, हम तो 'राम-रावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' ही कहेंगे, कहते रहेंगे। जिन देशों की अपनी पुरानी परंपराएं हैं, वे अपनी परंपराओं का सगर्व स्मरण करते हैं। हमें भी स्मरण करना चाहिए, गर्व भी करना चाहिए।

हमें वेदना इस बात की है कि हमारे कुछ बंधु जो पांच-सात हजार वर्ष तक हमारे साथ जीते-मरते थे, हमारे सहदाय भागी थे, आज अपने पुराने दाय को सर्वथा भुला चुके हैं। ईरान-अफगानिस्तान-पाकिस्तान के हमारे सह रिक्थभागी देशों में जहां कभी हमारी नदियां प्रवाहित होती थीं आज सब सुखा दी गयी हैं और वहां विदेशी कुल्याओं का जल आ गया है। वही ईरान आज अरबी काव्य धारा का ही रसास्वाद करता है जहां कभी वेद वाणी की ही सगी बहिन अवेस्ता वाणी हुआ करती थी। वहां की कीर्ति गाथा शाहनामा के पाठक इसे विचित्र ही मानते होंगे कि रुस्तम के पिता जाल का पालन-पोषण पक्षियों ने किया था। पर यदि उन्हें उन पक्षियों की थोड़ी भी जानकारी चाहिए तो वह महाभारत में मिलेगी और पाणिनि के व्याकरण में मिलेगी। पाणिनि कुक्कुटागिरि नामक पर्वत शृंखला का उल्लेख करता है जो गंधार से ईरान तक विस्तृत थी। महाभारत बताता है कि खलनायक समझा जाने वाला शकुनि गंधार नरेश का पुत्र था और पिता के जीवित रहते भी उपरिश्येन वासियों का शासक था। वहां के निवासियों का संकेत-चिह्न श्येन नामक शकुनि था और इसलिए वे शकुनि कहलाते थे। उन्हीं का शासक शकुनि था जिसने अपनी बहिन गांधारी को समझाया था कि माना तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध तुम्हारा विवाह एक अंधे के साथ हुआ पर अब उसका मुंह तक न देखने की प्रतिज्ञा से क्या लाभ होगा। जब विवाह हो ही गया है तो पुत्र क्यों न उत्पन्न किये जाएं और राजमाता का गौरव क्यों न प्राप्त किया जाए।

युधिष्ठिर के जन्म के बाद कुंती को भावी राजमाता का गौरव मिला तभी गांधारी ने अपना विचार बदला था और वह धृतराष्ट्र की अंकशायिनी बनी थी। तो शकुनि जिनका राजा था, उन उपरिश्येन वासी शकुनियों ने ही रुस्तम के पिता जाल की रक्षा की थी और उसका पालन-पोषण किया था। पर हमें विश्वास है कि आज के शाहनामा के अध्येताओं को यह सब जानने में कोई रुचि नही होगी। वे तो यही मानेंगे कि वस्तुत: पक्षियो ने ही उसे पाला पोसा। पर समाज विज्ञान के सभी विद्यार्थी जानते है कि प्राचीन जातियों के संकेत चिह्न (टोटम) हुआ करते थे। कालिदास ने पार्वत्य उत्सव संकेत गणों का उल्लेख किया है। महाभारत ने सात उत्सव संकेत गण बताये है। शकुनि की परंपरा तो जोधपुर राज्य में भी थी जहां राज परिवार हो नहीं राठौड-मात्र चील की पूजा भवानी के रूप में करते थे। अस्तु, आज ईरान अपना अलग घर बसा चुका है, अफगानिस्तान भी और पाकिस्तान भी। यह उन्हें सोचना है कि वे जाल के रक्षक पक्षियों से परिचित हों या नहीं। हमे तो केवल यह बताना था कि शाहनामा भी हमारी परंपरा का एक अंग था।

इस अध्याय का संपूर्ण विवेचन इस बात की पुष्टि करने के लिए किया गया है कि देश के वाङ्मय में एकता के सूत्र अधिक हैं, पृथकता के कम। विदेशी लेखकों ने पृथक्ता के सूत्र गिनाने के लिए हमें इतिहास और भूगोल का नया ज्ञान कराया। यह बताया कि शंकराचार्य केरल के थे, भारत के नहीं। रामानुज तमिलनाडु के थे, भारत के नही। माघ गुजरात का था और जयदेव केवल उत्कल का। मुझे सदा याद रहती है 1956 की एक घटना जब मुझे सरकारी काम से राजधानी मे बदल रहे भुवनेश्वर जाना पड़ा था। वहां बेकार समझे जाने वाले कार्यालय भेजे जा चुके थे और उन्हीं में भाषा विभाग भी था। इसीलिए मुझे वहां जाने का तथा ओडिया के कई श्रेष्ठ साहित्यकारों से मिलने का अवसर मिला था। उनके साथ की चर्चा उल्लेखयोग्य है। वार्तालाप के रूप में दे रहा हूं।

वे—आपको जयदेव की भूमि कैसी लगी?

मैं—बहुत सुन्दर।

वे—क्यों?

मैं—क्योंकि वह मेरी भूमि भी है?

वे—क्या आप ओडिशा राज्य के हैं।

मैं—नही, मैं राजस्थान राज्य में जन्मा था।

वे—क्या आप जयदेव को राजस्थानी मानते हैं?

मैं—जी नही।

वे—तो फिर?

मैं—वह एक भारतीय था, मैं भी हूं। यदि आप अपनी निजी रचनाओं को

केवल ओडिशा की रखना चाहते हैं तो अवश्य रखें, पर जयदेव, विश्वनाथ जैसों को तो पूरे भारत का रहने दें। वे अब तक तो रहे हैं।

वे लोग कुछ-कुछ आश्वस्त होते से लगे तो मैंने पूछा—क्या आप जयपुर के राजा मानसिंह के विषय में कुछ जानते हैं।

वे—हां, इस नराधम ने अकबर की गुलामी का परिचय देने के लिए ओडिशा का मान मर्दन किया था।

मैं—पर क्या आप जानते हैं कि वह जयदेव की रचना को जयपुर ले गया था और उसने प्रत्येक पद के भाव की व्यंजना करने वाले चित्र बनवाये थे जिसकी एकमात्र प्रति जयपुर में है। जयदेव की वाणी उन चित्रों में सजीव हुई है।

वे—पर मानसिंह देशद्रोही तो था। उसने आपके ही राजस्थान के हिन्दू कुल सूर्य प्रताप को ग्रस्त करने में राहु का काम किया—एक मुसलमान के लिए।

मैं—आप इतिहास की दृष्टि से देखिए, टॉड की दृष्टि से नहीं। युद्ध हिन्दू और मुसलमान के बीच नहीं था, दिल्ली के बादशाह और चित्तौड़ के महाराणा के बीच था। यदि ऐसा न होता तो अकबर का प्रधान सेनापति मानसिंह न होता, प्रताप का प्रधान सेनापति बहलोल खां न होता।

वे—क्या टॉड ने गलत प्रस्तुत किया ?

मैं—हां, पर उसका तो कर्तव्य था। उदयपुर ने अंग्रेजों से संधि सबसे पहले की, जयपुर ने अंत में। उसे उदयपुर के गौरव की रक्षा करनी थी, जयपुर की निंदा करनी थी पर इससे बुरी बात यह कि हिन्दू-मुसलमानों को दो राष्ट्र सिद्ध करना था। उसने हिन्दू के मन में मुसलमान के प्रति घृणा और विद्वेष की भावना का उदय करने की दृष्टि से अपना ग्रंथ रचा था। उदयपुर की गौरवगाथा और जयपुर के कुकर्मों का उल्लेख तो बहाना मात्र था। मुख्य उद्देश्य तो ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करना था कि हिन्दू मुसलमानों को अपना शत्रु मानें और भारत अफगानिस्तान को विदेश मान ले, उसी पुण्य भूमि को जहां चारों वेदों की रचना हुई थी। टॉड और उसके बंधु-बांधवों ने इतिहास लिखे, भूगोल लिखे और बताया कि पुण्य भूमि भारत को पददलित करने विदेशी अफगान, ईरानी और तुर्क जिन प्रवेश द्वारों—खैबर और बोलन—से आते थे उन्हें हमने मूंद दिया है और अब उस मार्ग से म्लेच्छों के आक्रमण नहीं हो सकेंगे। हमें तो समझ में नहीं आता कि जब वहां अशोक का साम्राज्य था तब वह पवित्र भूमि कैसे थी और वहां का तक्षशिला जैसा अपूर्व विद्यापीठ कैसे भारत-पूज्य था, और वही भूमि सुबुक्तगीन की होते ही म्लेच्छभूमि कैसे हो गयी। पर अंग्रेज का निशाना सही लक्ष्य का भेदन करने में सफल हुआ और हमारा देश आज उसी भूमि को नहीं, पाणिनि की जन्म भूमि को भी म्लेच्छ भूमि मानता है जबकि पतंजलि कहता है कि पाणिनि व्याकरण इसलिए बना कि हम म्लेच्छों की तरह न बोलने लगें।

पर हमारे नेत्रों को अपनी आभा के चाकचिक्य से अभिभूत करने वाले स्वर्ण मृगों को द्विराष्ट्र सिद्धान्त की स्थापना मात्र से संतोष नहीं हुआ। उन्होंने यह भी बताया कि यदि विदेशी आक्रान्ताओं ने भारत-भूमि में पदार्पण करने की कृपा न की होती तो यहां साहित्य का उद्भव ही नही हुआ होता। हिन्दी का हर विद्वान् जारज गियर्सन का ऋणी प्रतीत होता है जिसने साहित्य के प्रवृत्ति-मूलक इतिहास लेखन की परंपरा को जन्म दिया और जिसके मार्ग को अपनाकर पंडित रामचंद्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास को वीरगाथा, भक्ति, रीति और आधुनिक युगों मे विभक्त कर सके। ग्रियर्सन ने हमें विश्वास दिलाया कि यदि विदेशियों की कृपा नहीं हुई होती तो यहां न चंदवरदाई पैदा होता न तुलसी, सूर और अष्ट छाप के कवि; न भूषण, मतिराम, देव और बिहारी होते; न आधुनिक साहित्य ही लिखा जाता। हमें विश्वविद्यालयों के आचार्य बताते हैं कि म्लेच्छ शहाबुद्दीन गौरी ने पुण्य भूमि भारत को पद दलित किया और अपने कुछ गुलाम यहां शासन करने को छोड़े तो भारत की भूमि ने चंदवरदाई आदि को जन्म दिया कलम चलाने के लिए ओर पृथ्वीराज जैसों को तलवार उठाने के लिए। इन म्लेच्छ आक्रान्ताओं ने भारत की सोई वीरता को चाहे न जगाया हो पर भाट चारणों को अवश्य वह शक्ति दी कि वे वीरगाथाओं की रचना में प्रवृत्त हुए। आज चाहे हम यह जान गए हैं कि वीरगाथा की प्रवृत्ति की पुष्टि करने वाली ये रचनाएं परवर्ती हैं पर उनको प्रवृत्त कराने का श्रेय तो मोहम्मद गौरी और उसके गुलामो को ही है। उनके न आने पर कदाचित् हिन्दी साहित्य ही जन्म न लेता बस थोड़े से जैन लेखक अपभ्रंश में रास लिखते रहते जिनमे जैन संतों के चरित्र होते!

विदेशी विद्वानों ने हमे यह रहस्य भी बताया कि विदेशी अफगानों ने भारत को कुचला, पद दलित किया और फलतः उत्पन्न हुआ हिन्दी का साहित्य और उसका वीरगाथा काल। मरी भाषा संस्कृत में कहां शक्ति थी विदेशियों से लोहा बजाने की! पर आने वाले विदेशी ऐसे दुर्दान्त थे कि अपनी नसों मे विदेशी रक्त बहाते हुए यहां की जनता का भी अकारण रक्त बहाते रहे। गुलामों के बाद खलजियों ने बहाया, फिर तुगलकों ने, फिर सैयदों ने और फिर लोदियो ने। इन सबने सिद्ध कर दिया कि यहा की भूमि में वीरता का पौधा पनप ही नहीं सकता, उसे सींचने के लिए तो विदेशी रक्त का ही आयात करना होगा। बस दुखी भारत को लगा कि भगवान् कदाचित् रक्षा करे और पैदा हुए कबीर, जायसी, तुलसी और अन्य अनेक। उन्होंने मचा दी पुकार भगवान् भगवान् की। भगवान् तो कदाचित् बुढापे के कारण उच्चैःश्रवा हो गया था। पर कोई बात नही, अति उत्कृष्ट भक्ति काव्य की धारा तो प्रवाहित हो ही गयी। हम ऋणी हैं विदेशी रक्त को अपनी धमनियों में प्रवाहित करने वाले खलजियों, सैयदों और लोदियों के जिन्होंने हिन्दी साहित्य को अपूर्व रत्न देने की सुव्यवस्था करवा दी, अन्यथा

बनते रहे होते जैनों के बाहुबलीरास और भाषा रही होती अपभ्रंश।

तब फरगना से चलकर आया एक विदेशी बाबर और उसने बताया कि जो यहां अफगान रक्त लेकर आ बसे थे उनका रक्त विकृत हो गया है अतः शुद्ध विदेशी रक्त लेकर हम आये हैं। अब हम करेंगे देश का उद्धार। मुगलों ने देश का उद्धार किया। स्वर्णयुग आया और भारत का नागरिक जान गया कि भगवान भी मिल गया है विदेशी बादशाहों-नवाबों के साथ। उन्होंने भगवान को छोड़ा तो नहीं पर बना दिया एक नवाब जो सोलह हजार एक सौ आठ रानियों को छोड़ कर भाग जाता था और मिलता था परायी राधिका के पास—पायौ पलोटतो राधिका पायन। फिर तो बस नवाब बने भगवान् की ही गरिमा गायी जाने लगी जो पल में राजा को रंक बना सकता था और रंक को राजा। पर उसे अवकाश कहां था इन मूढ़ लोगों के लिए। वह तो रघुवंश के *अंतिम राजा अग्निवर्ण* की तरह आठों याम नारी पूजा में ही निरत रहता था और नायिकाओं की चोलियों में अपनी गेंद ढूंढता रहता था। इसीलिए हमारे इतिहासविद् बताते हैं कि रीति बद्ध रचना करने वाले चिन्तामणि, मतिराम, देव, बिहारी और पद्माकर उस नवाब के गुणगान में प्रवृत्त रहे और उसकी शृंगारी लीलाओं का गायन कर अपना ऐहिक और आमुष्मिक जीवन सुधारते रहे।

पर विदेशियों के हाथों भारत की जनता का रक्त प्रवाह रुका न था और यह दर्द देखा नहीं गया यूरोप के पश्चिमी कोने पर बसे कुछ द्वीप पुंजों के आर्य बन्धुओं से। वे आये उद्धार करने। उन्होंने शान्ति की स्थापना की, दुष्टों का दमन किया। वे वस्तुतः *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्* आये थे उन्होंने सोई भूमि को जगाया। उसके अज्ञानांधकार से आवृत नेत्रों को विदेशी अंजन से सुदर्शन बनाया और यहां के लेखकों में भी अनुकरण करते-करते वह प्रतिभा कदाचित् आने लगी जो यूरोप के महान् साहित्यकारों में थी। यहां गद्य भी लिखा जाने लगा, पद्य में भी यूरोप के वाद आने लगे और उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, जीवन चरित्र, आत्मकथा, निबंध, पत्रकारिता और पता नहीं क्या-क्या कलाबाजियां हम सीख गये इन गुरुओं की कृपा से। आज हमारा साहित्य यदि समृद्ध है तो इन्हीं विदेशी कृपालुओं *की करुण दृष्टि के फलस्वरूप, अन्यथा यहां* या तो मरी भाषा संस्कृत होती, या अपभ्रंश। सचमुच हिन्दी का जो विशाल साहित्य आज वट वृक्ष बन गया है उसका बीज तो विदेश से ही आया, यदि विश्वास न हो तो पूछ लें ग्रियर्सन से और देख लें प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाले सैंकड़ों शोध प्रबंध!

ग्रियर्सन ने हमें यह बताने की कृपा की कि ईसा की आरंभिक शताब्दियों में ही यूरोप के कुछ व्यापारी दक्षिण भारत आ गये थे और उन्होंने अपने क्रुष्ट को ही कृष्ण बनाकर हमें दे दिया था। उसी के उपदेश दक्षिण भारत में भक्ति का

उदय कर सके जो विदेशियों से पीडित भारतीय जनता को सहारा देने उत्तर भारत मे भी पहुंची। यदि ईसा की आरंभिक शताब्दियों में विदेशी व्यापारी कृष्ट का उपदेश न लाते, भक्ति का उपदेश न दे जाते तो पूरा देश ठूठ का ठूंठ रह जाता और भक्ति शून्य इस भारत की रक्षा भगवान् भी न करता। यह तो भगवान् को बुढापे के कारण थोडा देर से आर्तनाद सुनाई दिया अन्यथा हमारा उद्धार करने वाले कृपालुओं को यूरोप से भेजने की कृपा थोड़ा पहले भी कर सकता था। ये है हमारे विद्वानों के विचार !

कुछ लोगों को चिन्ता है कि विदेशी तो चले गये। हम एकसूत्रता में आबद्ध कैसे रह सकेंगे ? चिन्ता न करें, वे तो हमारे घट-घट मे बसे हैं। हम सदा सुरक्षित हैं। हमारे विश्वविद्यालयों मे आज भी उन्ही के शिष्य विराज रहे हैं जिनके विषय मे वे सगर्व कह सकते है कि 'सर्वतो जयमिच्छेत पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्। हमारे देश का चिन्तक वर्ग वही सब सोच पाता है जो विदेशी विद्वान् हमें सोचने की अनुमति देते हैं। यह तो मेरी दुर्मति है कि अपनी प्राचीन परपराओं का उल्लेख किये बिना नहीं रहा गया। पर मुझे विश्वास है कि परनाला वही गिरता रहेगा जहां गिरता आया है क्योंकि हम सब कुछ 'इम्पोर्टेड' ही चाहते हैं। देसी पर हमारा विश्वास ही नही है।

इस अध्याय में हमने भारतीय साहित्य में विद्यमान एकता के सूत्रों को पहचानने का पूरा यत्न किया है। विदेशी समीक्षकों के अन्तस्तल मे छिपी घातक भावना का भी रहस्योद्घाटन करने का यत्न किया है। देखना है कि हमारा यह प्रयत्न अरण्य रोदन ही रह जाता है या यह हमारे पाठको में अपने विशाल वाङ्मय के प्रति आत्मीयता भी उत्पन्न कर पाता है। यदि दस पाठक भी काबुल-कंधार, बलख-ददकशां और फरगना को अपना मान सके; गुलामों, खलजियों, तुगलकों, मुगलों को इसी देश का मान सके तो यह प्रयत्न सार्थक मानूंगा।

काव्य-शास्त्र-विनोदेन

विगत अध्यायों मे हमने देखा कि भारत का वाङ्मय चाहे वह वेदों का वाङ्मय हो, चाहे शास्त्रों का; चाहे आस्तिक दर्शन हों चाहे नास्तिक; चाहे रामायण-महाभारत जैसे आर्ष काव्य हो चाहे पुराण-बड्ढ कहा जैसी वृद्धकथाएं और चाहे उन पर आश्रित ललित साहित्य हो या उस साहित्य के निर्माता का मार्गदर्शक काव्य शास्त्र, सर्वत्र दिव्यदृष्टि का विषय ओत-प्रोत है। ऐसा प्रतीत होता है मानो रचना का उद्देश्य शास्त्र का ज्ञान कराना है, काव्य का रसास्वादन नही। वस्तुत: ऐसी बात नहीं है। उद्देश्य दोनों ही हैं। उद्देश्य है काव्य का रसास्वादन कराते हुए कठिन शास्त्रीय विषय में रुचि बनाये रखना। हमने उर्दू के विषय मे फारसी काव्य के प्रभाव का उल्लेख करते हुए कदाचित् यह कहा है कि वह वाङ्मय भारत की सामान्य धारा से कटा हुआ है। पर फारस की भी मसनवी काव्य शैली पूर्णत: भारतीय परंपरा की लगती है जहां लौकिक प्रेम गाथा के माध्यम से आत्मा और परमात्मा के परस्पर संबंधों का उल्लेख होता है। हमारा वाङ्मय स्पष्ट कहता है कि गुरु के बिना ज्ञान नही मिल सकता। यही चिन्तन सूफी काव्य धारा का भी है। जायसी आदि ने अपने पात्रों के प्रतीकवाद को स्पष्ट करने का यत्न भी किया है पर हमारी वास्तविक परंपरा स्वयं रचना में प्रतीकों को स्पष्ट करने की नही रही है। वह तो गुरु के मुख से ही स्पष्टीकरण की रही है। गुरुओं का सिद्धान्त वाक्य रहा है कि पात्र को ही वास्तविक ज्ञान देंगे, अपात्र को नही। पात्रत्व सिद्ध करना दुष्कर काम था। विदेशी शिष्य दुरुपयोग के लिए विद्यार्जन करने अधिक आते थे। अत: गुरुजनों ने धीरे-धीरे हाथ खींचना आरम्भ कर दिया। वे कृपण होते गये। फलत: काव्य में निहित शास्त्र ज्ञान प्राय: लुप्त होता चला गया। काव्य और शास्त्र दोनों के सहस्रों महत्त्वपूर्ण ग्रंथ आज दुर्लभ ही नहीं, अलभ्य हो गए लगते हैं।

काव्य और शास्त्र दोनों मे यदि मूलभूत कथ्य एक है तो फिर दोनों में अंतर

क्या है, यह सहज प्रश्न है। दोनों में अंतर केवल शैली का है। शास्त्र अभिधा की नीरस शैली में तथ्य निरूपण मात्र कर देता है। काव्य उसे व्यंजना प्रधान शैली में अभिव्यक्त कर हृदयंगम करवाता है। उसमें उक्ति का ऐसा वैचित्र्य होता है, ऐसी वैदग्ध्यभंगीभणिति होती है कि जब वह हृदय में लगती है तो शिरोघूर्णन को विवश कर देती है। शास्त्र पूर्णतः बुद्धि का विषय होता है। मस्तिष्क के संग्रहालय में ज्ञान राशि का संचय बढ़ाना मात्र उसका कर्त्तव्य होता है यद्यपि सभी शास्त्र चतुर्वर्ग फल प्राप्ति का आश्वासन देते हैं। काव्य का परम लक्ष्य तो बुद्धि क्षेत्र में प्रविष्ट होकर ज्ञान-भंडार की वृद्धि करना होता है पर उसका मार्ग हृदय से होकर है। पहले ब्रह्मरंध्र का भेदन होता है तब ब्रह्म की प्राप्ति होती है। विज्ञान का ऋजु मार्ग छोड़कर काव्य का वक्रमार्ग इसलिए अपनाया गया कि अध्येता की रुचि बनी रहे। वह केवल नीरस विवेचन से ऊब कर विरत न हो जाए। मम्मट ने इसी प्रयोजन को 'कान्तासंमिततयोपदेशेयुजे' कहा है।

भारतीय वाङ्मय की एक विशेष बात यह है कि यद्यपि शास्त्र अभिधा-प्रधान होता है और काव्य व्यंजना-प्रधान, फिर भी जिस प्रकार काव्य का लक्ष्य ज्ञान को रोचक बना कर हृदयंगम कराना है उसी प्रकार शास्त्र का लक्ष्य अभिधा प्रधान निरूपण होते हुए भी उक्ति वैचित्र्य या वाग्वैदग्ध्य को पूरी तरह तिलांजलि देना नहीं है। शास्त्रीय ग्रंथों में भी उक्ति वैचित्र्य या वैदग्ध्य-भंगी-भणिति के दर्शन हो ही जाते हैं, वहा भी ऐसी शैली मिल ही जाएगी जो हृदय को झकझोर दे। काव्य के माध्यम से शास्त्रीय विषय का कैसे निरूपण हुआ यह तो विगत अध्यायों मे प्रतिपादित हो ही चुका है। इस अध्याय में बताएंगे कि अभिधाप्रधान शास्त्रीय ग्रंथों में काव्य तत्त्व का विनिवेश कहां तक हुआ है। हमारे शास्त्र भी केवल नीरस विवेचनों से नही भरे है। उनमें भी मर्मस्पर्शी उक्तियां मिलेंगी। दर्शन शास्त्र मे तो प्रायः उक्ति वैचित्र्य होता ही है और उनकी सूक्तियां तो कबीर आदि के काव्य में भी मिल जाती है अतः दर्शन के उदाहरण न चुनकर ऐसे शास्त्रों के उदाहरण चुनेंगे जो पूरी तरह नीरस माने जाते हैं; यथा : व्याकरण, धर्मशास्त्र, गणित, आयुर्वेद और ज्योतिष।

नीरस सूत्र शैली वाले व्याकरण से ही आरंभ करें। व्याकरण का एक नीरस प्रकरण है 'कारक'। उसका निरूपण देखें। यहां वे अर्थ नही देंगे जो व्याकरण के छात्रों को ज्ञात हैं। सूत्रों से जो अन्य रोचक अर्थ प्रकट होते हैं वे ही लेंगे। कर्त्ता की परिभाषा है : स्वतंत्रः कर्त्ता—अर्थात् कर्त्ता वही जो मनमानी कर सके।

कर्तुरीप्सिततमं कर्म—अर्थात् जिसे कर्त्ता सदा और अधिकतम करना चाहे वही कर्म।

अकथितं च—अर्थात् बिना कहे ही कर दो तो मानें कि कर्म किया।

साधकतमं करणम्—अर्थात् करण वही जिससे अधिकतम काम बने। कारक के इन सभी सूत्रों में कुछ न कुछ उक्ति वैचित्र्य है।

अब लीजिए विभक्ति प्रकरण। उसका चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग से संबंधित अंश पहले लेंगे।

चतुर्थी सम्प्रदाने—अर्थात् किसी को देना ही पड़ जाए तो दे दो चतुर्थी विभक्ति (अर्थात् चौथाई टुकड़ा)।

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः—किसी का मन चल जाए तो उसे भी दे दो चतुर्थी विभक्ति (चौथाई टुकड़ा) ताकि नजर न लगे।

यं प्रति कोपः—अर्थात् यदि किसी पर गुस्सा आ जाए तो उसको कर दो चतुर्थी विभक्ति (चार टुकड़े)।

षष्ठी शेषे—और अंत में याद दिला दो छठी का दूध।

अब समास प्रकरण लेते हैं।

समसनं समासः—साथ-साथ बैठना ही सही बैठना है। अर्थात् मेल मिलाप से रहना ही सही मार्ग है।

चार्थे द्वन्द्वः—'और' चाहिए तो संघर्ष (द्वन्द्व) करना ही पड़ेगा।

संख्यापूर्वो द्विगुः—(अपनी संपत्ति की) संख्या तब गिनो जब उसे दुगुना कर लो।

एक वैयाकरण ने तो सभी समासों को लेकर श्लोक ही बना डाला है :

द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे सर्वदाव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाऽहं बहुव्रीही स्याम्॥

अर्थात् हम पति-पत्नी दो हैं। घर में दो गायें भी हैं। मेरे घर में व्यय करने को कभी कुछ होता ही नहीं। हे पुरुष कुछ ऐसा जुगाड़ करो कि मेरे घर में ढेरों व्रीही धान्य हो जाए। यदि गुरुजन सभी सूत्रों को इसी प्रकार दूसरे रोचक अर्थ के साथ पढ़ाने लग जाएं तो छात्र न सूत्र भूलेगा न उसका अर्थ। सूत्रकारों ने अपने सूत्रों में ऐसी रोचकता के लिए, अर्थात् वैदग्ध्य-भंगी-भणिति के लिए, गुंजाइश रखी है।

अब लेते हैं धर्मशास्त्र अर्थात् विधि वाङ्मय। यह वाङ्मय भी बहुत नीरस होता है। बहुत लंबे-लंबे वाक्य, बहुत ही नीरस विषय, बहुत ही कष्टकर विवेचन होता है, विधि ग्रंथों में। पर भारतीय वाङ्मय में देखिए कैसी रोचक उक्तियां हैं। धर्मसूत्रकार आपस्तम्ब मानते हैं कि विवाह इसलिए किया जाता है कि पत्नी संतान पैदा कर सकेगी और धर्मकृत्यों के सम्पादन में पति को सहयोग दे सकेगी। अतः उनका आदेश है कि यदि ये दोनों कार्य सम्पादन करने में सहयोग देने वाली पत्नी मिल गयी हो तो दूसरा विवाह करना सर्वथा अनुचित है; पर यदि वह इन दो में से कोई एक भी काम संपादित करने में असमर्थ हो तो दूसरा विवाह शीघ्र कर लिया जाए क्योंकि विवाह का उद्देश्य ही ये दो कार्य संपादित करना है। अब

देखिए आपस्तम्ब ने इस इतने बड़े भाव को कैसे मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया है : धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत, अन्यतरस्याभावे प्रागग्न्याधेयात् । अर्थात् यदि पत्नी धर्म प्रजा संपन्न हो तो दूसरी मत लाओ, पर यदि इनमें से किसी एक भी गुण का अभाव हो तो संध्या वंदना बाद मे करो, पहले दूसरी पत्नी लाओ।

सन् 1956 में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम बना । छोटा सा अधिनियम है पर बहुत ही नीरस भाषा और अंत में दे दी गई हैं लंबी सूचियां जिनमें बताया गया है कि उत्तराधिकार का क्रम क्या होगा । उस नीरस पुस्तका को पढ़ने में वही रुचि लेगा जिसे उत्तराधिकार पाना हो या इस काम के लिए किसी ग्राहक को विधिक परामर्श देना हो । वह विधेयक रूप मे जब संसद् में प्रस्तुत हुआ तो बहुत लंबी बहस चली थी। बहुत बुरी तरह कोसा गया था स्मृतिकारों को जिन्हें हत्यारे तक बताया गया था जो सगी बेटी को भी बाप के धन से वंचित करते है । लगता गया था विधि मे बड़ा भारी परिवर्तन होगा पर वस्तुतः नगण्य-सा अंतर हुआ। हां, यह जरूर देखा गया कि उन लंबी बहसों मे जिन महर्षियों के विरुद्ध विष उगला था उन अभागों ने बत्तीस अक्षर के एक छोटे से श्लोक में जितनी मार्मिक बात कह दी थी उतनी मार्मिकता से इतनी लंबी बहस में कोई नहीं कहा पाया । स्मृति वचन इस प्रकार है—

आत्मा वै जायते पुत्रो यथा पुत्रस्तथा सुता ।
तस्यामात्मनि जीवन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ।

व्यक्ति स्वयं ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है । जैसा पुत्र होता है वैसी ही पुत्री भी होती है । उस पुत्री रूपी आत्मा के जीते जी पिता की संपत्ति पर किसी और का क्या अधिकार ? ध्यान रहे यह उन्ही स्मृतिकारों का वचन है जिन पर लंबी बहस में गालियों की बौछार तो की गयी थी पर इतना मार्मिक प्रतिपादन किसी वक्ता की वाणी से नही हो पाया था ।

फिर भी यह सच है कि कुटुंब की संपत्ति में केवल पुत्र का अधिकार था, पुत्री का नहीं था और आज भी नही है; 1956 के अधिनियम के बाद भी । बात यह है कि स्मृतिकारो की जो विवशता थी, वही विवशता आज भी है । कुटुंब की संपत्ति मे आज भी पुत्री का अधिकार नही है केवल पुत्र का है क्योकि इस स्थिति मे परिवर्तन करने के लिए पूरी समाज व्यवस्था में उलट फेर करना होगा । स्मृतिकारों के सामने स्थिति यह थी कि संपत्ति कुटुंब की होती थी किसी व्यक्ति की नही । जो व्यक्ति आज उपयोग कर रहा है, वह इसलिए कि वह उस कुटुंब का सदस्य है । कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य को उसकी संपत्ति में जन्मते ही अधिकार हो जाता है; नहीं नहीं, गर्भ में आते ही हो जाता है । स्मृतियों मे स्पष्ट

व्यवस्था है कि यदि विभाजन के समय किसी स्त्री के गर्भ में बच्चा है तो उसके लिए विभाग की व्यवस्था की जाए ताकि उसे पैदा होने पर किसी का मोहताज न होना पड़े। फिर भी पुत्री का अधिकार इसलिए नही कि वह समाज की व्यवस्था के अनुसार विवाह के पश्चात् अन्य कुटुंब की सदस्या हो जाएगी। उस अन्य कुटुंब का इस कुटुंब की सम्पत्ति मे कैसे अधिकार हो सकता है। यही थी स्मृतिकारों की विवशता। यह आज भी वैसी ही है। कुटुंब की संपदा आज भी केवल पुत्रों को मिलती है। हां, भरण-पोषण या अनुरक्षण का अधिकार महिलाओं का भी है। हमने स्वतंत्रता के पश्चात् इतनी ही प्रगति की है कि देश के जिन भागों मे पुत्री विवाह के बाद भी अपने पिता के घर की सदस्या रहती थी और उसी के माध्यम से संपत्ति विनियुक्त होती थी उन क्षेत्रों में भी अब वहां की नारी उस अधिकार से वंचित हो गयी है। केरल की मरुमक्कत्तायं विधि और मंगलूरु की अलिय संतान विधि में उत्तराधिकार नारी के माध्यम से ही होता था पर आज वे विधियां निरस्त हो गयी हैं। यह है हमारे शासन द्वारा नारी के हितों की रक्षा! जो सर्वथा स्वाभाविक विधि थी उसे समाप्त कर दिया गया है। वस्तुतः मातृक समाज व्यवस्था ही स्वाभाविक है क्योंकि मातृत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है, पितृत्व तो केवल अनुमानाश्रित होता है। पर स्वाभाविक नियम को मानने वाली दोनों दाक्षिणात्य विधियां प्रगतिशील भारत मे समाप्त हो गयी हैं! अब देखिए नारी को मिला क्या है?

व्यक्ति की कौटुम्बिक संपत्ति के विषय में विधि यथावत् है। व्यक्ति की दूसरी संपत्ति होती है स्वार्जित। उस पर व्यक्ति के जीवन काल में उसका अनन्य अधिकार होता है। वह चाहे तो उसे दान कर दे, चाहे तो उसे किसी और को दे दे, चाहे तो अपने कुटुंब को पूर्णतः वंचित कर दे। उसे पहले भी स्वार्जित संपत्ति पर अनन्य अधिकार था। हां, भरण-पोषण आदि के दायित्व थे। आज भी उस विधि में कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ है, बस भरण-पोषण का दायित्व कुछ बढ़ गया है।

एक परिवर्तन हुआ है स्वार्जित संपत्ति के अधिकार में। पहले अर्जक का जीवन समाप्त होते ही वह संपत्ति कुटुंब की हो जाती थी; अब वह कुटुंब की नहीं होती: केवल मृतक के दायादों की होती है और उनमें पुत्री का भी उतना ही अधिकार होता है जितना पुत्र का। पहले पिता जीवन काल मे यथा रुचि पुत्री को भी दे सकता था, पुत्र को भी; पर उसके मरने पर वह संपत्ति कुटुंब की हो जाती थी। अब वह कुटुंब की संपत्ति से पृथक् बनी रहती है उसका पृथक् उत्तराधिकार होता है।

क्योंकि समाज व्यवस्था के कारण कुटुम्ब की संपत्ति मे स्त्री को अधिकार नही था; अतः उसके अनुरक्षण की और भरण-पोषण की व्यवस्था आवश्यक थी।

स्मृतिकारों ने इसका पूरा ध्यान रखा और दायित्व निर्धारित किया। इसी प्रसंग में मनु द्वारा दी गयी यह व्यवस्था है जिसके कारण मनु के विरुद्ध, बिना प्रसंग समझे, विष उगला जाता है। मनु ने स्पष्ट कहा था—कुमारी रहे तब तक पिता अनुरक्षण करे, विवाह के पश्चात् उसका पति करे और पति न रहे तो पुत्र करें पर उसका अनुरक्षण, भरण-पोषण, अवश्य हो। उसे भाग्य भरोसे न छोड़ा जाए—

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
मृते भर्तरि पुत्राश्च, न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।

अंतिम चरण का यही अर्थ है कि स्त्री को अपने भाग्य के भरोसे न छोड़ा जाए। उसके भरण-पोषण का जिनका दायित्व है, वे अवश्य करें। यह व्यवस्था आवश्यक थी क्योंकि किसी भी कुटुंब की स्थायी सदस्य न होने के कारण स्त्री दोनों ही परिवारों की संपत्ति से वंचित थी। किस भावना से मनु ने व्यवस्था दी थी और उसका क्या अर्थ किया गया, मनु विरोधियों द्वारा? किसी ने यह सोचने की भी आवश्यकता नहीं समझी कि जो मनु एक सांस में, 'यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' कहता है वही दूसरी सांस में नारी को केवल दंडाधिकारिणी बना कर कैसे छोड़ देगा। विधि ग्रंथों का एक संगति सिद्धान्त होता है। एक ही ग्रंथ में दो परस्पर विरोधी नियम नहीं दिए जाते। नियमों का अपवाद तो हो सकता है पर परस्पर विरोध नहीं और यदि कहीं विरोध हो गया हो तो उसके भी समाधान की व्यवस्था है कि विप्रतिषेधे परं कार्यम् अर्थात् परस्पर विरोध हो तो परवर्ती नियम ही प्रभावी होगा। अर्थ संगति का, नियमों के परस्पर सामंजस्य का यह सिद्धान्त भारतीय स्मृतियों पर, निबंधों पर, सूत्रों पर सर्वत्र लागू होता है।

विधि व्यवस्थाओं के उल्लेख में उक्ति वैचित्र्य की तो बहुत कम गुंजाइश होती है पर फिर भी भारतीय विधिग्रंथों में अनेक उक्तियां मिलेंगी जो बहुत ही सटीक होती हैं। ऊपर 'न स्वातंत्र्यमर्हति' का उचित वैभव देखे बिना अनर्थ करने वालों की क्या चिकित्सा हो सकती है। वे तो 'स्वातंत्र्य' का और कुछ अर्थ ही नहीं जानते। वस्तुत: हमारी पीढ़ी के भारत ने स्वातंत्र्य देखा ही कहां है, कुछ नेताओं की मनमानी ही अब तक तो देखने को मिली है। स्मृतिकारों ने तो राजा को भी स्वेच्छाचार का अधिकार नहीं दिया था। यूरोप की तरह 'राजा कोई भूल नहीं करता' का सिद्धान्त किसी स्मृतिकार ने नहीं माना। शासक पर सदा नकेल रही। वह तो अभी स्वेच्छाचारी हुआ है।

गणित तीसरा विषय है जो नीरस सूत्रों से भरा होता है पर उसे सरस बनाने का कैसा अद्भुत प्रयत्न गणितकारों ने किया है; द्रष्टव्य हैं लीलावती के कुछ प्रश्न—

अमलकमलराशेस्त्र्यंशपंचांशषष्ठै-
स्त्रिनयनहरिसूर्या येन तुर्येण चार्या।
गुरुपदमय षड्भिः पूजितं शेषपद्मैः
सकलकमलसंख्यां क्षिप्रमाख्याहि तस्य।

एक शिष्य कमल पुष्पों का चय लाया। उसमें से तीसरा भाग शिव को, पांचवां भाग हरि को, छठा भाग सूर्य को समर्पित किया। चौथा भाग गुरुपत्नी को समर्पित किया और शेष छः कमलों से गुरु चरणों की वंदना की। बताओ कितने कमल थे ?

हारस्तारस्तरुण्या निधुवनकलहे मौक्तिकानां विशीर्णो।
भूमौ यातस्त्रिभागः शयनतलगतः पंचमांशोऽस्य दृष्टः॥
प्राप्तः षष्ठः सुकेश्या गणक दशमकः संगृहीतः प्रियेण।
दृष्टं षट्कं च सूत्रे कथय कतिपयैर्मौक्तिकैरेषः हारः॥

काम क्रीड़ा के समय तरुणी के स्तनों पर पहना मोतियों का हार टूटा। मोतियों का एक तिहाई भाग पृथ्वी पर गया, पांचवां भाग पलंग के नीचे चला गया, छठा भाग तरुणी स्वयं ढूंढ लायी और दसवां भाग प्रेमी को मिला। छः मोती धागे में रह गये थे। बताओ कितने मोतियों का हार था ?

पद्माक्ष्या प्रियकल्पिताद्वसुलवा भूपाललाटीकृताः।
यच्छेषात् त्रिगुणाद्रिभागरचितान्यस्ता स्तनान्तः स्रजि॥
शेषार्धं भुजालयोर्मणिगणः शेषाब्धिकस्त्र्याहतः।
काञ्च्यात्मा मणिराशिमाशु वद मे वेण्यां हि यत् षोडश॥

एक पद्माक्षी को उसके प्रेमी ने कुछ मणियां लाकर दीं। उसने उनके आठवें भाग से ललाट का आभूषण बनवाया। शेष के 3/7 भाग से स्तनों की माला बनवायी। शेष के आधे से भुजबंध बनवाया। शेष का 3/4 भाग कांची में लगाया। 16 मणियां वेणी में लगायी। बताओ कुल कितनी थीं ?

पंचांशोऽलिकुलात्कदम्ब मगमत् त्र्यंशं शिलीन्ध्रं तयोः।
विश्लेषत्रिगुणो मृगाक्षि कुटजं दोलायमानोऽपरः॥
कान्ते केतकमालतीपरिमलप्राप्तैककालप्रियां।
दूताहूत इतस्ततो भ्रमति खे भृंगोलिसंख्यां वद॥

भँवरों का एक कुल पुष्पों का रसपान करने गया। उनका पंचमांश कदंब वृक्ष पर गया। तीसरा अंश शिलीन्ध्र पर गया। उन दोनों के अन्तर का तीन गुना भाग मृगाक्षि के, कुटज पर मंडराया। शेष एक को दूत भेज कर कामातुरा रानी ने वापस बुलवा लिया जो रास्ते में है। बताओ कुल भँवरे कितने थे ?

इन प्रश्नों में उक्ति-वैचित्र्य चाहे न हो पर लेखक की कल्पना कुशलता, मधुर शब्द चयन और मनोहारी अभिव्यक्ति तो है ही; वैज्ञानिक ज्ञान भी है।

अब लीजिए गणित ज्योतिष के ग्रंथ का नमूना—

उत्फुल्लन्नवमल्लिकापरिमलभ्रान्तभ्रमद्भ्रामरे
रे पान्था, कथमन्यथानि भवतां चेतांसि चैत्रोत्सवे ।।
मन्दान्दोलितचूतनूतनघनस्फारस्फुरत् पल्लवै-
रुद्वेल्लन्नववल्लरीष्विति लपन्त्युच्चैः कलं कोकिलाः ।।

स्वकुसुमैर्मलिनामिव मालती-
मवहसन्ति वसन्तजमल्लिकाः ।।
उपवनं विनिवारयतीव ताः-
किसलयैर्मलयानिलकंपितैः ।।
विधाय सौधं तृणकुण्डमण्डपे
प्रसिच्यमाने सलिलैः समन्ततः ।।
शुक्रे रमन्ते विरलं विलासिनः
[illegible] ।।

शुचौ रतिस्वेदगलज्जलालसाः ।।
मदनदहनखिन्नामागतेप्येत्यकाले
परिमलवहलानां मालतीनां नदीनाम् ।।
अदयदयित सिंचस्यात्मदृग्वारिणा किं
परिमलवहलानां मालतीनां नदीनाम् ।।
उच्चैर्विरौति हि मयूरकुलं यदम्बु
मन्दं कदम्बमकरन्दविमिश्रितश्च ।।
वातः प्रवाति पतिरेति न तेन मन्ये
निर्घ्राणनिर्घृण विकर्णविहुत्वमस्य ।।
एवं विधं विरहिणी विरहेण खिन्ना
यातं चिराय दयितं गगने घनतौं ।।
मत्वा प्रियं तमदयं हृदयं प्रविष्टं
ब्रूते सपेशलमलं परिहासमिश्रम् ।।
स्वतनुजवनराज्या पुष्पवन्त्याश्लिपन्त्या
ह्यनुचितकृतसंगोस्मीति शैलोनुतप्तः ।।

निशि शशिकरचंचन्निर्भरैरश्रुकल्पैः
शरदि हृदिजखेदस्वेदवान् रोदितीव ॥
सहस्यकाले बहुशस्यमालिनीं
चितामवश्यायकमौक्तिकोत्करैः ॥
प्रहृष्टपुष्टाखिलगोकुलामिलां
विलोक्य हृष्यन्त्यधिकं कृपीवलाः ॥
अरुणनीलनिमीलितपल्लवं
प्रचुरफुल्लसमुल्लसनैः श्रियम् ॥
वहति कांचनकांचनकानने
नवतरां नितरां शिशिरागमे ॥
अपटुतिग्ममरीचिमरीचिभि
र्नहि तथा शिशिरे शिशिरक्षतिः ।
निशि यथोष्मलपीनघनस्तनो
भुजनिपीडनतः स्वपतां नृणाम् ॥
सरसमभिलपन्ती सत्कवीनां विदग्धा
नवरतरमणीया भारती कामितार्थम् ॥
न हरति हृदयं वा कस्य सा सानुरागा
नवरतरमणीया भारती कामितार्थम् ॥
न भवति हृतचित्तो वाचमाकर्ण्य रम्यां
परभृतसरसाम्ना कोमलां सत्कवीनां ॥
सततमुपगतानां सांबुजैर्वा पयोभिः
परभृतसरसाम्ना कोमलां सत्कवीनाम् ॥

ऐसी सुन्दर कवित्वमय रचनाएं ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रंथ में देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ये शास्त्रकार शास्त्र की क्षति करते होंगे। न यह बात है कि ऐसी कवित्व प्रदर्शन की क्षमता केवल संस्कृत में थी। मारवाड़ी मिश्रित हिन्दी रचनाओं मे भी ऐसे उक्ति वैचित्र्य मिलेंगे। वयोवृद्ध ज्योतिर्विद गिरधारी लाल की 'रामकुमार विलास' नामक फलित ज्योतिष की पुस्तक के भी कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं। आठवें भाव में चंद्र हो तो यह फल होगा—

बनी ही रहे घर सभा वैद्य की, क्वाथ मुद्गों का पानी उबलता रहे।
रोग चलता रहे वैद्य पलता रहे, उसके शत्रु अकारण ही बनते रहें ॥
यात्रा होवे कठिन और बहुकाल से मात्रा मृगनाभि खाने से जीता रहे।
कर्ज लेता रहे और देता रहे चंद्र का रंध्र घर से जो नाता रहे ॥

अब देखिए दशम भाव में शनि का फल और ज्योतिषी का उक्ति वैचित्र्य :

अजा मात कर दे या भुजा बाप कर दे, दशम घर में छाया सुवन जो रहे।
घमंडी वड़ा होवे नर वालका, पाप की गांठड़ी बांधता ही रहे।

माता की मृत्यु हो या पिता की—न कह कर कवि ज्योतिषी ने कहा 'अजा मात कर दे, या भुजा बाप कर दे।' यदि मां मर जाती है तो बच्चा बकरी के दूध से पलता है, यदि बाप मर जाता है तो अपने ही भुजबल की कमाई पर आश्रित हो जाता है। यों कवि ज्योतिषी ने एक साधारण सी बात को चमत्कार पूर्ण शब्दों में कह दिया है।

आयुर्वेद ग्रंथों में भी भरपूर उक्ति वैचित्र्य उपलब्ध होते हैं। डा० बाबूरामजी सक्सेना ने चरक संहिता की सूक्तियों का एक संग्रह तैयार करवाया था। पता नहीं उसका प्रकाशन हुआ या नहीं। लोलिम्बराज का वैद्य जीवन भी कवित्वपूर्ण रचना है। वैद्य के लिए बंगाल में तो सामान्यत: प्रचलित शब्द ही 'कविराज' है। कदाचित् कोई श्रेष्ठ वैद्य बहुत उच्च कोटि का कवि भी रहा होगा। जयपुर के वैद्य रामकृष्ण ने तो 'जयपुर-विलास' तथा 'रामकृष्ण विलोम काव्य' जैसी काव्य रचनाएं की हैं। पर वे आयुर्वेद के ग्रंथ नहीं हैं।

आयुर्वेद के शास्त्रीय विवेचन से पूर्ण एक संस्कृत नाटक है आनंदरायकृत 'जीवानन्दम्' जिसमें नाटक के पात्र अनेक रोग हैं। वे 'जीव' रूपी नायक के शरीर रूपी पुर को ध्वस्त करने के लिए अपने राजा 'राजयक्ष्मा' की ओर से लड़ते हैं। वे अपना परिचय कैसे देते हैं उसके कुछ नमूने देखिए। सेनापति पाण्डु पूछता है कि क्या हमारे राजा की पराजय संभव है तो सन्निपात का उत्तर है—

सन्निपात:—अस्मादृशेषु बलशालिषु सैनिकेषु
राजन्नलं प्रभुपराभवचिन्तया ते।
स्यात् किं वसन्तदिवसेषु विसृत्वरेषु
पद्माकरस्य तुहिनाभिभवप्रसक्तिः॥

कति कत्यस्मदीयाः सैनिकाः। तत्रैकैकस्य पराक्रमवतो युद्धाय न पर्याप्तमखिलशत्रुसैन्यम्। किं पुनः सर्वेषाम्। श्रूयन्तां तावदस्मदीयाः।

अष्टौ कुष्ठा दश च बलिनः प्लीहगुल्मास्तथाष्टौ
षट् चोन्मादा वसति दशकं पंचकं च व्रणानाम्।
अर्शोभेदाः षडतिगतयो विंशतिश्च प्रमेहाः
कृच्छ्राश्मर्यो दश दश पुनः सन्ति सप्तातिसाराः।

(सन्निपात कहते हैं—पाण्डु, हम जैसे बलशाली सैनिकों के होते हुए आपको पराजय की चिन्ता क्यों हुई? क्या वसन्त के बढ़ते हुए दिनों में पद्माकर को तुहिन की बाधा हो सकती है। सोचिए तो सही, कैसे-कैसे सैनिक है हमारे! शत्रुओं की तो पूरी सेना इन में से एक-एक का भी सामना करने में समर्थ नहीं है। सब का तो सामना करने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी सुनिए कौन-कौन हैं

हमारे सैनिक ? हमारे पास अठारह प्रकार के तो प्रबल कुष्ठ हैं; चार प्लीहा रोग और चार गुल्म रोग, इस प्रकार आठ प्लीहगुल्म रोग हैं; छः छः प्रकार के उन्माद हैं; पन्द्रह प्रकार के व्रण हैं; छः अतिगामी अर्पमंद है; बीस प्रकार के प्रमेह हैं; दश प्रकार के मूत्र कृच्छ्र हैं; दश प्रकार के ही अश्मरी रोग हैं और सात प्रकार के अतिसार हैं।)

तब सेनापति पाण्डु एक-एक सैनिक से पूछता है कि आपके क्या विचार हैं। उनके उत्तर भी पठनीय हैं—

कार्या न चेतसि कुमार कदापि चिन्ता
स्थास्यन्ति के वद पुरः प्रतिगर्जतां नः ॥
शत्रोः प्रविश्य पुरमीक्षितुमप्ययोग्यं
कुर्मो वयं तनुभृतामतिकुत्सनीयम् ॥

(कुष्ठ बोले कि हे पाण्डुकुमार, कोई चिन्ता न करो। हम जब गर्जना करते हुए आक्रमण करेंगे तो हमारे सामने कोई न टिकेगा। हम तो शत्रु के शरीर रूपी पुर को ऐसा कुत्सनीय बना देंगे कि कोई देखना भी नहीं चाहेगा।) तब उन्माद कहते हैं कि हे पाण्डुकुमार, और किसी सैनिक को भेजने की आवश्यकता नहीं हम ही बहुत हैं—

कोपाध्मातककुत्स्थ पुंगवकरव्याकृष्टगर्जद्धनु
र्ज्या निर्गत्वरमार्गणानलशिखादीने नदीने भृशम्।
पाठीनान् कमठैःसमं विलुठतः सर्वेऽनुकुर्वन्तु ते
शार्दूला इव शंबरान् सरभसं यान्ह्य गृह्णीमहे।

(हम जब शत्रु पर आक्रमण करेंगे तो वे पगला कर उसी प्रकार इधर-उधर भागेंगे जिस प्रकार शार्दूल के सामने शम्बर हरिण भागते हैं अथवा जैसे समुद्र पर कुपित हुए राम के धनुष खींचने पर उनके बाण रूपी अग्नि के सामने दीन हुए समुद्र के पाठीन-कमठ आदि इधर उधर भागे थे।) तब व्रण सम्मति देते हैं कि हमें पहले पुर (शरीर) को घेर लेना चाहिए। उसके पीड़ित होने पर जीव की अन्तर्मुखता (भगवद् भक्ति) भी शिथिल हो जाएगी। अतः

प्रचण्डमदपाण्डवप्रहितकाण्डवर्गत्रुटत्
तरक्षुकरिकेसरिप्रियकशल्यशार्दूलकम्।
अरण्यमिव खाण्डवं घनसरण्यतीतद्रुम
व्रजं दहनहेतवः पुरमरेर्दहामो वयम् ॥

(प्रचण्ड मद वाले पाण्डव (अर्जुन) के बाण समूह से नष्ट होते तरक्षु-करि-केसरी-प्रियक-शार्दूल आदि प्राणियों वाले तथा मेघों तक ऊंचे वृक्षों वाले खाण्डव वन को जैसे जला दिया था उसी प्रकार हम शत्रु के शरीर रूपी पुर को जला

देंगे।) तब अर्श बोले कि व्रणों की सम्मति हमें भी ठीक लगती है। हम तो शरीर के मूलद्वार ही रोक लेंगे और—

गृह्णीयाम व्यथयितुमरेस्तत्पुरं येन सर्वे
व्याघ्राकृष्टा इव हि पशवः प्राणिनो ऽस्मद्गृहीताः।
स्यातुं गन्तुं शयितुमशितुं पातुमाभाषितुं वा
नापेक्षन्ते मनसि दधतो दुःखमात्रानुभूतिम्॥

(हम जीव रूपी शत्रु के शरीर रूपी पुर को पीडित करने के लिए इस प्रकार घेर लें कि हमारी पकड़ में आये प्राणी व्याघ्राकृष्ट पशुओं की तरह केवल मन में दुःख का अनुभव करें और उन्हें चलने, रुकने, सोने, खाने, पीने यहां तक कि बोलने तक की इच्छा न रह जाए।)

तब प्रमेह बोले कि हमारे होते अन्य सब को भेजने की आवश्यकता ही क्या है। हम ही बहुत है। इसलिए हमारी बात सुनिए—

प्रस्नावाख्यां परिणतिमसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जा
स्वातन्त्र्यवन्तो वयमनुदिनं तत्पुरं शोषयामः।
क्वान्तर्वक्त्रो भवतु विधुरीभूय जीवः क्व मंत्री
तत्साहाय्यं कलयतु भवांस्तद्विपादं जहातु॥

(असृक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा आदि सब को मूत्रमार्ग मे प्रस्तुत करके हम उस शरीर रूपी नगर का शोषण कर देंगे। तब न तो वह जीव अन्तर्मुख रह पायेगा और न उसका मंत्री (ज्ञान शर्मा) ही उसकी कोई सहायता कर पायेगा। अतः आप सब चिन्ताएं छोडिए।)

अतीसार कहते हैं कि हम तो स्वामी के भुज प्रताप को दिखाते हुए विजय पा लेंगे। इसमें आश्चर्य क्या। अतः हमें जो निवेदन करना है उसे स्वामी सुनें—

नेत्रं मज्जयितुं मुखं ग्लपयितुं जत्रुद्वयं व्यंजितुम्
पार्श्वास्थ्नां गणनीयतां गमयितु सत्वं भृशं लुठितुम्।
सप्तत्वेऽपि निजे स्थिते घटयितुं पंचत्वमेवांगिनाम्
शक्तान्नः प्रहिणोपि यत्र तरसा तत् साधयामो वयम्।

(हम नेत्रों को धंसाने मे, मुंह को म्लान करने मे दोनों जत्रुओं को स्पष्ट दिखाने मे पर्शुकाओं को अलग-अलग गिनने योग्य बनाने में, शारीरिक सत्व को नष्ट करने में समर्थ है और हम तो है भी सात, जब कि हमें शत्रु का केवल पंचत्व घटित करना है। अतः हमें भेजिए, हम आपका काम शीघ्र सम्पन्न करेंगे।)

जीवराज को विज्ञान मंत्री द्वारा दी गयी शत्रु सेना की जानकारी इस प्रकार है—

मन्दाग्न्युत्थोदरस्थामयसुहृद उदावर्त्तभेदा अशीति
र्वातोत्था पित्तजा विंशति युगगणिता विंशतिश्लेष्मजाश्च।

चत्वारोऽक्ष्णोर्वसन्तो नवतिरपि चतुस्सप्ततिर्वक्त्रनिष्ठाः
मूर्धस्थाः पंक्तिसंख्याः क्रिमि गदनिवहोऽप्यस्ति नैके च शोफाः ॥

(मन्दाग्नि-जनित, उदरस्थ, उदावर्तादि अस्सी प्रकार के वातज रोग हैं, चालीस पित्तज रोग हैं और बीस श्लेष्मज रोग हैं। चौरानवे नेत्र रोग हैं, चौहत्तर मुखरोग हैं, दस मूर्धा के रोग हैं, क्रिमिजन्य रोगों का तो बड़ा समूह है, शोफ भी अनेक हैं।)

इन रोगों की सेना के आक्रमण से जीवराज की क्या दशा हुई सो देखें। वह स्वयं अपनी दशा का वर्णन कर रहा है :

गात्रं मे परितप्यते पदयुगं शक्नोति न स्पन्दितुम्
स्तब्धं चोरुयुगं भुजौ च भजतः कंपं मुखं शुष्यति।
नास्त्यक्ष्णोर्विषयग्रहः श्रवणयोरप्येवमेव त्वचोऽ
प्यन्यत् किं चलतीव हृन्निजपदादाशा भ्रमन्तीव च ॥

(शरीर तप रहा है, दोनों पैर चलने में असमर्थ हैं, उरुयुगल स्तब्ध हो गया है, हाथ कांप रहे हैं, मुंह सूख रहा है; आंख, कान और त्वक् इन्द्रियों ने अपना काम बंद कर दिया है, हृदय ने अपना स्थान छोड़ दिया है और दिशाएं घूमती सी लग रही हैं।)

अब जीवराज के मंत्री ने आमय सेना के सांमुख्य के लिए क्या किया, सो देखिए।

भूपतिरससिन्दूरज्वरांकुशानंदभैरवैः साकम्।
चिन्तामणिश्च शत्रू न् राजमृगांकश्च जेतुमुद्युंक्ते ॥
कृतसिद्धरसेश्वरःपुरस्तात् करमालंब्य च वात राक्षसस्य।
समरांगणमेति पूर्णचन्द्रोदय एषोग्निकुमार दर्शिताध्वा ॥
प्रतापलंकेश्वर एष पश्य प्रतापयत्यत्र निजप्रतापात्।
गदान्धनुर्वातमुखानशेषान् लंकेशवच्छत्रुभिरप्रसह्यः ॥

वसन्तकुसुमाकरः सरभसं विधत्ते रणं
सुवर्णरसभूपतिर्वशयते रुजां मण्डलम्।
प्रसह्य बडवानलाभिधमिदं च चूर्णं जवाद्
विशोषयति सर्वतः प्रबलमग्निमान्द्यार्णवम्।

सुदर्शनंचक्रमिवामरारीन् सुदर्शनंचूर्णमिदं रणाग्रे।
निहन्ति जीर्णज्वरमाशु पित्तजन्यारुजश्चूर्णयति प्रसह्य ॥
प्रबलानिलसंकुलितं गदगहनं दुरवगाढ़मन्येन।
हन्ति घुरि तीक्ष्णसारो वातकुठारः समूलमुन्मूल्य ॥

असकृत् स्खलतः किंचिद्गतिमान्द्यविधायिनः ।
प्रमेहान्माद्यतो हन्ति मेहकुंजरकेसरी ॥
गतिमंथरताधायि वर्ष्मवैपुल्यशालिनः ।
सर्वान् वातगजान् हन्ति वातविध्वंसनो हरिः ॥

(रसभूपति ने रससिन्दूर, ज्वरांकुश, आनद भैरव, आरोग्य-चिन्तामणि रस और राजमृगाक को साथ लेकर शत्रु विजय के लिए प्रयाण किया। पूर्णचन्द्रोदय रस युद्ध भूमि मे आगे बढा तो उसके आगे आगे सिद्धरमेश्वर चला। वह वातराक्षस नामक औषध का हाथ पकड़कर चला। अग्नि कुमार उसका मार्गदर्शन कर रहा था। यह देखो प्रतापलंकेश्वर नामक औषध जो अपने प्रताप से धनुर्वातादि रोगों को जला रहा है। इसका प्रताप रावण तुल्य है जिसके सामने कोई टिक नहीं सकता। वसन्त कुसुमाकर रस प्रबल युद्ध कर रहा है। सुवर्ण रसराज रोगों की मंडली को वश में कर रहा है। यह बडवानल नामक चूर्ण तो अग्निमांद्यरूपी समुद्र को बडवानल के समान शोषित कर रहा है। सुदर्शन चक्र जिस प्रकार देवारियों को नष्ट करता है उसी प्रकार यह सुदर्शन चूर्ण जीर्णज्वर को तथा पित्तज रोगो को शीघ्र नष्ट करता है। तीक्ष्ण धार वाली वात कुठार नामक औषध अन्य साधनों से दुरवगाढ रोग रूपी गहन वन को समूल काट डालती है जो प्रवल वात्याचक्र में भी नही हिलता। मेहकुंजर केसरी नामक औषध सगर्व धीरे-धीरे चलने वाले और गति को मंद करने वाले प्रमेहों को मार रही है। यह वात-विध्वंसन रस उन सब वातगजों को मार डालता है जो गति को मंथर और शरीर को स्थूल बनाते हैं।) (गज की मंथर गति और स्थूलता की तुलना वात रोगजन्य गतिमाद्य और शरीर के मोटापे से की गयी है।)

यों जीवराज अपने विज्ञानमंत्री के बल से और शिव की भक्ति से तथा योग से एवं उपर्युक्त औषधों के सेवन से सफल होता है। उसके समस्त शत्रु समूह नष्ट हो जाते हैं और वह सुख से रहता है—

विज्ञानमंत्रिबलतः शिवयोश्च भक्त्या
योगैश्च जीवनृपतिः समवाप्यसिद्धिम् ।
सिद्धौषधानि च तयोर्दययाधिगत्य
निर्धूतवैरिनिवहः सुखमश्नुतेन्ते ॥

मखीकृत जीवानन्दम् नाटक के पात्रों का संक्षेप में परिचय सपादक श्री दुरैस्वामी ने सारसंग्रह रूप मे इस प्रकार दिया है—

जीवात्मा नाटकेस्मिन् भवति नरपतिर्नायकश्चास्य पत्नी
बुद्धिर्विज्ञान शर्मा भवति सुसचिवः पत्तनं मर्त्यदेहः ।
श्रद्धाभक्तिश्च शैवी स्मृतिरपि सततं धारणा सत्वयुक्ता
प्राध्वं राजानमन्वेत्यथ भयमुपयात्यस्य यक्ष्मास्य शत्रोः ॥

यक्ष्माणं तं विपूची स्वयमनुविदधे गेहिनी यस्य पाण्डुर्
मंत्रीतद्यौवराज्येऽप्यधिकृतपुरुषः सज्वरश्चातिसारः ।
ग्रन्थ्युन्मादप्रमेहप्रभृतिगदगणाश्चापरे यक्ष्मपक्षे
स्थित्वा जीवस्य राज्ञः पुरमनवरतं क्लेशयन्ति प्रसह्य ॥

(इस नाटक में जीवात्मा नायक और राजा है, बुद्धि उसकी पत्नी हैं; विज्ञान शर्मा उसका श्रेष्ठ मंत्री है; मर्त्यशरीर उसका नगर है, शिव की भक्ति, श्रद्धा और सतत स्मृति रूपी सतोगुणी धारणा राजपत्नी की सखी है जो राजा के पीछे चलती है और उसके यक्ष्मा नामक शत्रु से भीत होती है। दूसरी ओर प्रतिनायक यक्ष्मा है जिसकी पत्नी विपूची है। उसका मन्त्री पाण्डु रोग है। वही युवराज भी है। ज्वर और अतिसार उसके सेनाधिकारी है। उसके अन्य सहयोगी ग्रन्थी, उन्माद, प्रमेह प्रभृति रोग हैं। ये सब राजा के शरीर रूपी पुर को सदा सताते हैं।

इस नाटक मे एक ओर रूपकीय रसवत्ता है तो दूसरी ओर आयुर्वेद के शास्त्रीय ज्ञान का वैज्ञानिक प्रतिपादन। कौन रोग शरीर पर कैसा प्रभाव करते हैं और किस औषध से उनका उपचार संभव है—इसका समुचित प्रतिपादन इस नाटक के माध्यम से हुआ है। लगता है आनंदराय मखी एकत: रससिद्ध कविराज (वैद्य) है तो अपरत: रससिद्ध कवीश्वर। ऐसे अन्य भी शास्त्रीय ग्रंथ होंगे। पर नमूने के लिए कुछ ही लिये गये है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि भारत मे काव्य और शास्त्र दोनों ही का प्रभूत वाङ्मय विरचित हुआ जिसे विश्व के उत्कृष्ट साहित्य में स्थान मिलना चाहिए। पर उसका 'यथोपयुक्त' मूल्यांकन नही हो पाया। दोष हमारा ही है। हम सभी वस्तुएं विदेशियों की दृष्टि से देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। अपनी दृष्टि की तो बात करना ही उचित नही समझते। पर हमारे प्राचीन समृद्ध वाङ्मय का उचित मूल्यांकन तभी हो पायेगा जब दिव्यदृष्टि से देख सकेंगे। आशा है भावी भारत मे ऐसे गुरु उत्पन्न होंगे जो ज्ञानांजन शलाका से शिष्यों के नेत्र उन्मीलित करेंगे! अभी तो ऐसे गुरु दिखाई देते नही जिनके लिए कह सकें कि :

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

तस्मै देवाय

आज से ठीक एक शताब्दी पूर्व की घटना। स्थान राजस्थान के शेखावाटी अंचल का जसरापुर नाम का यशस्वी ग्राम। संवत् 1944 के माघ मास के कृष्ण पक्ष की सप्तमी तिथि। उस दिन उस ग्राम मे पंडित रामदयालु जी के घर पुत्र रत्न का जन्म हुआ। नाम रखा गया झाबरमल्ल। यही बालक एक महामानव बनेगा, यह तब नहीं सोचा था किसी ने। बालक पिता के साथ कलकत्ते चला गया। महामहोपाध्याय गणनाथ सेन के टोले में आयुर्वेद की शिक्षा पायी। पर क्षेत्र चुना पत्रकारिता। उस समय देश में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष बल पकड़ रहा था। इस संघर्ष में पत्रकारिता का प्रचुर योगदान था। तब पत्रकारिता मिशन थी, व्यवसाय नहीं। स्वल्पवय में ही आयुर्वेद का वह विद्वान् पत्रकार बन गया। कभी ज्ञानोदय का संपादन किया, कभी भारत का, कभी मारवाडी का, तो कभी कलकत्ता समाचार का और अंत में हिंदू संसार का। संपादन का आरंभ हुआ कलकत्ते से, वहां से पहुंचे बंबई, बंबई से नागपुर होते हुए वापस कलकत्ता और कलकत्ते से दिल्ली। संपादक के ये पत्र आदर्श पत्र थे। उनके संपादकीय उस युग की राजनीति का सच्चा इतिहास प्रस्तुत करते हैं और संपादक के मन में छिपे राष्ट्रीयता के भाव को उजागर करते है।

कारणवश संपादन कर्म से विरत होना पड़ा। शेखावाटी के ग्रामीण अंचल में ही पुनः पहुंचना पड़ा। संपादन करते हुए ही एक अन्य शौक पाल लिया था इतिहास लेखन का। खेतड़ी और सीकर के इतिहास प्रकाशित हो चुके थे। संपूर्ण शेखावाटी के इतिहास की सामग्री का संकलन हो चुका था। शेखावाटी के कवियों का परिचय लिखा गया, विद्वानों-महात्माओं के इतिवृत्त लिखे गये। खेद है कि वह बहुत कम सामग्री प्रकाश में आ पायी। तीसरा शौक था साहित्य सेवा का। हिन्दी और संस्कृत के साहित्य की समीक्षा करने वाले लेख यत्र-तत्र सर्वत्र प्रकाशित हुए। चौथा शौक था भूले-बिसरे महापुरुषों का पुनरुद्धार। बालमुकुन्द

गुप्त स्मृति ग्रंथ, माधव मिश्र और चंद्रधर गुलेरी के साहित्य का सुष्ठु सम्पादन और अनेक अज्ञात विद्वानों का पुनरुद्धार। पचानवे वर्ष का सुदीर्घ आयुष्य पाया और अन्त समय तक साहित्य साधना वर्तमान रही।

ऐसे महापुरुष के नाम और कर्म की गरिमा का परिचय मुझे बचपन में ही मिला था। इतिहास के ग्रंथ और कलकत्ता समाचार की पुरानी फाइलें घर पर देखने को मिली थी। पर बीच की सुदीर्घ अवधि में उनकी कोई विशेष सूचना नहीं थी। दर्शन का सौभाग्य भी नहीं मिला था। 1975 के प्रारंभ में जयपुर के विद्वान् बंधुवर कलानाथ शास्त्री जी से विदित हुआ कि पंडित जी जयपुर में विराजते हैं। मन में दर्शन की इच्छा हुई। पर अवसर आया उस वर्ष के अंतिम चरण में। राजस्थान मंच नामक दिल्ली स्थित राजस्थानियों की एक संस्था है। उसका एक दल जयपुर-अजमेर अंचल की यात्रा पर गया। दल में मैं भी था। तभी जयपुर में शास्त्री जी ने पंडित जी से समय ले लिया। उनके साथ मैं भी गया, भाई चित्रेश गोस्वामी और अनजान भी सपत्नीक साथ गये। पंडित जी के दिव्य दर्शन कर लगा कि किसी महर्षि के आश्रम में दर्शन किये हैं। तीनों ही के मन में एक संकल्प सा हुआ। दिल्ली लौटने पर यात्रा का लेखा-जोखा लेने के लिए मंच की बैठक हुई। उसमें सर्व सम्मति से निर्णय हुआ कि पंडित जी को एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया जाए। निर्णय की सूचना पंडित जी के दो भक्तों पं० त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी और डा० ज्ञान प्रकाश पिलानिया को मिली। दोनों गद्गद हुए और सहायता के लिए तैयार भी। चतुर्वेदी जी ने मंच के प्रतिनिधियों को राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री हरिदेव जी जोशी से मिलवाया। जोशी जी ने पूर्ण सहयोग दिया। साढे छः सौ पृष्ठों का अभिनन्दन ग्रंथ तैयार हुआ और उस समय-राष्ट्रपति का कार्यवहन करते हुए भी महामहिम जत्ती महोदय ने उस ग्रंथ को अपने हाथ से समर्पित करने के लिए समय निकाला। उसके बाद पंडित जी को जयपुर में दूसरा ग्रंथ भेंट हुआ। साहित्यवाचस्पति का सम्मान मिला। पद्म-भूषण का अलंकरण मिला। उत्तर प्रदेश सरकार ने साहित्य सेवा का सम्मान किया। आज से पांच वर्ष पूर्व पंडित जी ब्रह्म में लीन हो गये।

विगत माघ मास में पंडित जी के जन्म का शताब्द पूरा हुआ पर शताब्दी वर्ष में उन्हें लोगों ने याद नहीं किया। मंच के लोग आरंभ में जयपुर गये थे। पंडित जी का चित्र लाए थे। वर्ष भर कार्यक्रम करने का वचन देकर आये थे पर कुछ नहीं किया। कदाचित् 'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः' का सिद्धान्त अपना बैठे। मुझे असीम वेदना हुई। मार्च के प्रथम दिन ही जम्मू चला आया था। यहीं एक पुस्तक लिखने की प्रेरणा हुई जो पंडित जी की स्मृति को समर्पित की जाए। उसी का परिणाम यह छोटी सी पुस्तिका है। वर्ष 2044 की समाप्ति के दिन यह

काम भी समाप्त हुआ; यह 'समर्पण' भी लिखा गया। यह कथा है इस पुस्तिका की।

पंडित जी ब्रह्म में लीन हो गये। पर यह ब्रह्म कौन है? आकाश का पिता समझिए ब्रह्म को। जब आकाश 'तमोभूतमिदं सर्वम्' था तब ब्रह्म था। उसकी माया शक्ति से ईषत् प्रकाश उत्पन्न हुआ तो यही आकाश कहलाया। अनेक कल्प तक आकाश ही रहा। तब उसमें वायु तत्व उत्पन्न हुआ अनेक गैसों के रूप में। अनेक कल्प तक गैसों का परस्पर घात-प्रतिघात होता रहा। तब आकाश मे अनन्त कोटि ज्योतिपिण्ड उत्पन्न हुए। ये अनंत कोटि टोलियों में बट गये जिन्हें ब्रह्माण्ड कहा गया। ब्रह्माण्ड के तारे ब्रह्माण्ड के केन्द्र विन्दु की परिक्रमा करते है। हमारे ब्रह्मांण्ड का, आकाश गगा का, एक छोटा सा तारा सूर्य है जो ब्रह्माण्ड केन्द्र की एक परिक्रमा एक कल्प वर्षों में पूरी करता है। सूर्य ब्रह्माण्ड के एक छोटे से कोने में सपरिवार पड़ा रहता है। नही नही, परिक्रमा करता है, एक परिक्रमा एक कल्प वर्षों में। उस सूर्य के परिवार का एक छोटा सदस्य है हमारी भूमि। यह सूर्य की परिक्रमा करती रहती है। उसकी परिक्रमा मे लगने वाले समय को 'वर्ष' या 'संवत्सर' कहते हैं। पृथ्वी का एक उपग्रह है चंद्रमा। वह *परिक्रमा करता है पृथ्वी की। उसकी परिक्रमा पूरी होती है—एक मास मे।* इन ज्योति पिंडों ने मानव का मन सदा झकझोरा है। उनके विषय की जिज्ञासा ही संपूर्ण ज्ञान का उत्स रही है।

पृथ्वी-सूर्य का एक संबंध है अयन का। उत्तर और दक्षिण के दो अयन एक वर्ष मे पूरे होते हैं। सूर्य (राम) के अयन की यह कथा रामायण बनी। पृथ्वी को भूमध्य रेखा दो बराबर गोलार्धों में विभक्त करती है—उत्तर गोल और दक्षिण गोल। इन गोलों की कथा महाभारत कथा बनी। अनेक तारों की कथा पुराणों का कारण बनी। उदाहरण के लिए ध्रुव को लें। भागवत पुराण मे कहा है उसने छत्तीस हजार वर्ष राज्य किया। वह एक राशि पर तीन हजार वर्ष रहता है यों बारह राशियो पर छत्तीस-हजार वर्ष राज्य करता है। उसकी पत्नी है 'भ्रमि' (परिक्रमा)। उसने दो पुत्र उत्पन्न किये कल्प और वत्सर। पहला सूर्य के चक्करों से संबंधित है, दूसरा पृथ्वी के। वत्सर की पत्नी स्वर्वीथी (अयन) ने छः पुत्र (ऋतुओं) को जन्म दिया। छठे पुत्र की दो रानियां थी प्रभा और दोषा। प्रभा के तीन पुत्र : प्रात, माध्यंदिन, सायं; दोषा के भी तीन : प्रदोष, निशिथ और व्युष्ट। ऐसे ही अनेक तारों के परिचय हैं, पुराणों में। एक बोली में भी इस *विषय का विस्तार से प्रतिपादन हुआ था। ग्रंथ का नाम था बड्ढकहा (वृद्धकथा)* वह आज उपलब्ध नहीं है। पर उस पर आधारित साहित्य उपलब्ध है। उसका संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर भी उपलब्ध है। यों रामायण, महाभारत, पुराण और बड्ढकहा—ये चार महास्तंभ हैं जिन पर भारतीय वाङ्मय भवन का विशाल भाग

अवस्थित है। इसीलिए समग्र भारतीय वाङ्मय में एक अपूर्व एकसूत्रता है।

भारतीय वाङ्मय की इस एकसूत्रता ने एक विशाल भारत राष्ट्र को एकसूत्रता में आबद्ध रखा। विदेशी शासकों ने हमें बताया कि वे जब यहां पधारे तब राष्ट्र था ही नहीं। छोटे-छोटे भूखण्ड थे जिनके छोटे-छोटे राजा थे। हमने इसे एक विशाल राज्य बनाया। इसे एक राष्ट्र का स्वरूप दिया। उन्होंने यह भी कहा कि भारत का कोई इतिहास ही नहीं था। मुसलमान शासकों ने तवारीखें लिखवाई थी जिनमें केवल शासक पक्ष का उल्लेख होता था। हमने व्यापक इतिहास बनाया। ईसा से भी सवा तीन सौ वर्ष पहले तक का नियमित इतिहास हमने लिख दिया। हमारी कृपा से आज भारत का अढ़ाई हजार वर्ष का इतिहास उपलब्ध हो गया। यों हमी ने भारत को ज्ञान-विज्ञान दिया। हमी ने चांद-तारे-सूर्य के रहस्य का उद्घाटन किया। पुराणों के गपोड उपाख्यान तो उनके वंशों की कथा बताते हैं। हमने भारत को अन्धविश्वास से उबारा।

विदेशी शासकों का यह दावा सही हो सकता है। उन्हें अढ़ाई हजार वर्ष का इतिहास बहुत लंबा दिख सकता है क्योंकि उनके धर्म ग्रंथों के अनुसार संसार की सृष्टि ही आज से कुल छः हजार वर्ष पहले हुई। वे चाहे आज चांद की यात्रा कर आये हैं पर आज भी उनके संस्कार छः हजार से अधिक वर्षों की काल कल्पना नहीं कर सकते। वे इंग्लैंड, आयरलैंड, स्काटलैंड, वेल्स जैसे स्वल्प राष्ट्रों की कल्पना में पले लोग कश्मीर से कन्या कुमारी और अटक से कटक तक के राष्ट्र को बहुत विशाल मानते हैं, यह स्वाभाविक है। पर हम भारतीय तो पले ही भिन्न वातावरण में हैं। हमारा तो आठ वर्ष का अल्पवय छात्र भी प्रातः उठकर स्नान करते ही ईश्वराराधना का संकल्प करता है तो वह न अढ़ाई हजार वर्ष के इतिहास को महत्त्व देता है, न कश्मीर से कन्याकुमारी तक के भूगोल को। वह तो अपना और अपने कर्म का परिचय इस प्रकार देता है—ॐ अद्य एतस्य ब्रह्मणोऽह्नि द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे, वैवस्वतमन्वन्तरे, कलियुगे, कलि प्रथमचरणे, जम्बूद्वीपे, भरतखण्डे, आर्यावर्तप्रदेशे, अमुकनगरे, अमुकसंवत्सरे, अमुकमासे, अमुकपक्षे, अमुकतिथौ, अमुकवासरे, अमुकनक्षत्रे, अमुकयोगे, अमुककरणे, अमुकलग्ने, अमुकगोत्रजोहं, अमुकोऽहं अमुककर्म करिष्ये।

यों जिस देश का अष्टवर्षीय बालक भी प्रतिदिन तीन बार ब्रह्मा के इक्यावनवें वर्ष के प्रथम दिन के द्वितीय परार्ध, श्रीश्वेत वाराह कल्प और वैवस्वत मन्वन्तर की काल गणना का स्मरण करता था, उसके लिए अढ़ाई हजार वर्ष के इतिहास का क्या महत्त्व था। जो जम्बूद्वीप से भूगोल का आरंभ करता था उसके लिए अटक पर अटक जाने वाली और कटक पर कट जाने वाली सीमा का क्या महत्त्व था। भारत का परिव्राजक तो सूर्य मंडल के भेदन को भी अपना अंतिम

लक्ष्य नहीं मानता था। वह तो ब्रह्मरन्ध्र के भेदन को ही लक्ष्य बनाकर चलता था। उसके लिए भूगोल का क्या महत्त्व जो यह जानता है कि हमारी पृथ्वी तो सौर परिवार के छोटे ग्रहों में है, गुरु के सामने कुछ नहीं है, स्वयं सूर्य मंडल जैसे अरबों तारक मण्डल हमारे देवयान ब्रह्माण्ड में हैं और ब्रह्म में हमारे ब्रह्माण्ड जैसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं। जो लोग विश्व को इतना छोटा समझते हैं कि मीनार बनाकर भगवान् के घर पर कब्जा करने की मधुर कल्पना करते है, उनके लिए ब्रह्मरंध्र की कल्पना गपोड़ नहीं तो क्या होगी, पर यह था हमारा वाङ्मय जिसने भारत के विशाल राष्ट्र को विशाल बनाये रखा। हमें याद यह रखना है कि राज्य और राष्ट्र की कल्पना एक नहीं है। राष्ट्र भावना की वस्तु है, राज्य सत्ता की। भारत का नागरिक सत्तालोलुप नहीं रहा अतः दस-पांच वर्ग मील क्षेत्र वाले राज्यों में रहकर भी विशाल राष्ट्र का नागरिक रहा। भारतीय वाङ्मय ने राष्ट्र को एकसूत्रता में बांधकर रखा।

भारतीय साहित्य की एकसूत्रता विदेशी शासकों को सदा अखरती थी। भारत राष्ट्र की भी एकसूत्रता उन्हें खटकती थी। उन्हें लगा कि देश के प्रशासन की सुकरता के लिए यह आवश्यक है कि इस बहुसंख्यक देश को यह बताया जाए कि आपका राष्ट्र सात-आठ सौ वर्ष गुलाम रहा। विदेशी शासक आपको सताते थे। यहा रक्त की नदियां बहाते थे। हमसे न देखा गया। हमने शान्ति स्थापित की। हमने देश का उद्धार किया। चाहे भारत का प्राचीन वाङ्मय बताता रहे कि ईरान, अफगानिस्तान, पामीर, तिब्बत, नेपाल, भूतान, सिंहल, बंगलादेश, पाकिस्तान सब हमारे महान राष्ट्र के अंग थे। पर फिर भी विदेशी इतिहासविदों और भूगोलविदों ने बताया कि यह सब मिथ्या है। उन्होंने कहा कि भारत राष्ट्र की तो हमने सीमा निर्धारित कर दी है। सीमा प्रान्त बना दिया है। उसके पार सब विदेश है। तभी तो हम सात-आठ सौ वर्ष गुलामी भोग सकते थे। अफगानिस्तान भारत का भाग होता तो विदेशी शासन कैसे होता? यह है विदेशी इतिहासविदों और भूगोलविदों की शिक्षा।

भारत के ग्रंथ तो सीमा प्रान्त को मानते नहीं। संसार का प्राचीनतम अभिलिखित ज्ञान—चार वेद तो रचे गये अफगानिस्तान में। रामायण के भरत का ननिहाल था केकय में। दुर्योधन का ननिहाल था गंधार में। उसका मामा शकुनि ईरान के उपरिश्येन (कुक्कुटागिरि) क्षेत्र का राजा था; पाणिनि का जन्म रावलपिंडी के पास शलातुर में हुआ था तो उसका ननिहाल दाक्षिकंथा (ताशकंद) में था। वह द्व्यक्षायण (बदकशां) में भी रहा था, वाल्हीक (बलख) और प्रकण्व (फरगना) में भी विचरा था। उसने शकस्थान के शकंधु-कर्कन्धु कूपों के जल से स्नान किया था। कालिदास के रघु ने पारसीकों पर विजय पायी थी तो उसके अश्वों ने वंक्षु के तीर पर लोटकर अपने अध्वश्रम (थकान) को दूर किया

था और कुंकुम केसर लगे स्कधों को कंपाया था। वहीं हूणों को घेरा था। पर विदेशी विद्वान् कहते हैं—ये सब कल्पना के घोड़े हैं। हम मानने को विवश रहे।

अंग्रेजों ने जिस भूमि को भारत माना उसको भी उपदेश दिया भक्ति का। उनसे कहा कि आप बंगाली हैं, गुजराती हैं, पंजाबी हैं, सिंधी हैं, केरलवासी हैं, कर्नाटक के हैं, तमिलनाडु के हैं, आन्ध्र के हैं पर भारतवासी नहीं है। यह भी बताया कि आप लोग हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं, सिख हैं, पारसी हैं, जैन हैं, बौद्ध हैं पर आप भारत राष्ट्र के नहीं हैं। आप एक राष्ट्र हैं-ही नहीं, अनेक राष्ट्र हैं। इतने बड़े देश में सात-आठ सौ भाषाएं हैं, चौदह-पन्द्रह तो बिलकुल अलग है, जो एक दूसरे का भक्षण करने को आतुर है। हमें उनका भक्ति का उपदेश बहुत अच्छा लगा। हमारा देश उनका आभार मानता रहा। उन्होंने हमारे भ्रम दूर किये, हमें सन्मार्ग दिखाया! आज भी उनकी अंग्रेजी हमारी रक्षक है! यह अनेक राजनीतिज्ञों, शिक्षाविदों का विचार है।

पर मैं तो भक्तिवादी नहीं बन पाया। अ-भागा हूं। अद्वैतवादी हूं। मेरा, आचार्य शंकर उत्पन्न तो केरल में हुआ था पर सोलह वर्ष की आयु में संन्यासी बना और उत्तर दिशा में चल पड़ा। चौबीस वर्ष की आयु में उसने कश्मीर में अपने अद्वैतवाद का ध्वज आरोपित कर दिया। तीस की आयु में चारों दिशाओं में अपने मठ स्थापित कर दिये और बत्तीस पूरे करते-करते तो पूरे के पूरे ब्रह्मलोक पर अधिकार कर लिया। ब्रह्मलोक की कल्पना से आगे न विशालता की कोई कल्पना है, न अनन्तता की। मैं उस आचार्य शंकर के मत को श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूं। श्रद्धेय ब्रह्मलीन पं० झाबरमल्ल जी शर्मा भी उसी के मत को मानते थे। उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए मैं यह पुस्तिका उन्हीं की पुण्य स्मृति को समर्पित करता हूं। इसमें समग्र विश्व की एकसूत्रता भी प्रतिपादित है, भारतीय वाङ्मय की एकसूत्रता भी। भारतीय राष्ट्र की विशालता की भावना भी अभिव्यक्त की गयी है। अनन्त ब्रह्म में लीन विद्वान् को श्रद्धापूर्वक सप्रणाम, यह समर्पण।

निस्सन्देह यह नैवेद्य बहुत स्वल्प है। श्रद्धेय की महिमा के अनुरूप नहीं है। पर निवेदक की भावना देखी जाती है, नैवेद्य की मात्रा नहीं। नैवेद्य की ईदृक्ता का महत्त्व होता है, इयत्ता का नहीं। ईदृक्ता के विषय में कोई भ्रान्ति तो नहीं है; पर यह विश्वास है कि इसे पढ़ने वाले भारतीय को अपने प्राचीन इतिहास पर लज्जित नहीं होना पड़ेगा। संसार की प्राचीनतम सभ्यता का विकास भारत भूमि में कैसे हुआ और वह किस उत्कर्ष पर पहुंची थी, इसका किंचित् आभास पाठक को अवश्य होगा। उसे अपने भारत राष्ट्र की विशालता का भी परिचय मिलेगा और उस संपूर्ण भूमि के प्रति आत्मीयता भी जगेगी। हम

सत्ताधारियों से तो कुछ आशा नहीं कर सकते। वे तो राज्य और राष्ट्र को एक ही मानते हैं। सत्ताधारी तो जयगान का भूखा होता है। जिस क्षेत्र में उसका जयगान, वहीं तक उसका राष्ट्र। द्वापर युग का धर्मराज भी तो जयकाव्य के लिए ही आतुर रहा था। त्रेतायुग के रघु ने भी किन्नरों से अपने भुजदंडों के जयोदाहरण का गान ही करवाया था—जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान्।

अतः हमें सत्ताधारियों से राष्ट्र के विषय में आशा नहीं है। आशा है तो ऐसे शतायु महामानवों से जो पं० झाबरमल्ल जी की तरह विशाल राष्ट्र के लिए जिये और उसी विशाल राष्ट्र की भावना मन में लिए अनन्त ब्रह्म में लीन हो गये। उन्हें सादर श्रद्धापूर्वक प्रणाम!

जम्मू
प्रथम नवरात्र, 2045

काशीराम शर्मा



श्री काशीराम शर्मा



जन्म-स्थान : रतननगर, (जिला चूरू—राजस्थान), दिनांक 4 जून, 1924।

शिक्षा : एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), एल.एल० बी०, शास्त्री, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार।

कार्यक्षेत्र : सादुल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट में अवर सचिव; डूंगर कालेज बीकानेर में अध्यापन; वकालत; संसद् सचिवालय, शिक्षा मंत्रालय, संघ लोक सेवा आयोग, रुड़की विश्वविद्यालय, विधि मंत्रालय और गृह मंत्रालय में शब्दावली निर्माण, अनुवाद तथा हिन्दी के विकास-विस्तार से सम्बन्धित कार्य।

साहित्यिक कार्य : (क) ग्रन्थ-सम्पादन—रामचरित्र (रसाल रचित), वचनिका (खिडिया जगा कृत), रतनरासो (कुम्भकर्ण विरचित), हिन्दू विधि (श्री रवीन्द्रनाथ रचित), पं० झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ।
(ख) संस्कृतानुवाद—भारतस्य संविधानम्।
(ग) मौलिक रचनाएँ—(1) द्रविड परिवार की भाषा हिन्दी; (2) अनर्थानुशासन; (3) भारतीय वाङ्मय पर दिव्यदृष्टि; (4) वचनिका का संपादन।

सम्मान-पुरस्कार : (क) नटनागर शोध संस्थान, सीतामऊ द्वारा साहित्यिक कार्य के लिए मानपत्र; (ख) विधिक अनुवाद के क्षेत्र में कार्य के लिए विधि-मंत्रालय द्वारा ताम्रपत्र।

31-7-1983 को केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो के निदेशक पद से सेवानिवृत्त।